



## भूमिका

माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इसमें कुछ बारह मन्त्र हैं। कठेबरको दृष्टिसे पहली दस उपनिषदोंमें यह सबसे छोटी है। किन्तु इसका महत्त्व किसीसे कम नहीं है। भगवान् गौडपादाचार्यने इसपर कारिकाएँ लिखकर इसका महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। कारिका और शाङ्करभाष्यके सहित यह उपनिषद् अद्वैतसिद्धान्तरसिद्धीक लिय परम आदरणीया हो गयी है। गौडपादीय कारिकाओंको अद्वैतसिद्धान्तका प्रथम निबन्ध कहा जा सकता है। उसी ग्रन्थरत्नके आधारपर भगवान् शाङ्कराचार्यने अद्वैत मन्दिरकी स्थापना की थी। यों तो अद्वैतसिद्धान्त अनादि है किन्तु उसे जो साम्प्रदायिक मठशास्त्रका रूप प्राप्त हुआ है उसका प्रधान श्रेय आचार्यप्रवर भगवान् शाङ्करको है और उसका मूल ग्रन्थ गौडपादीय कारिका है।

कारिकाकार भगवान् गौडपादाचार्यके जीवन तथा जीतन कासके विषयमें विशेष बियरण नहीं दिया जा सकता। बँगळामें 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास'क लेखक स्वामी श्रीप्रधानानन्दजी सरस्वतीने उन्हें गौडदेशीय ( बँगाली ) यतसाया है। इस विषयमें बहोँ मैफकम्य सिद्धिकार भगवान् सुरेश्वरआचार्यका यह श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है—

एवं गौडदेशीयैर्न पुर्यरय प्रभाषित ।  
अज्ञानमात्रोपाधि सम्प्रहमादिदृशीधर ॥\*

( ४ । ४४ )

\* इस प्रकार जो भाषात् भगवान् ही अज्ञानोपाधिक होकर अद्वैतसिद्धि का मार्ग ( जीव ) हुआ है उस परमाय-तत्त्वका हमारे पृथ्वीय गौडदेशीय और इतिदृशीय आचार्याने बजन किया है। [ यहाँ गौडदेशीय आचार्य श्रीगौडपादाचार्यको कहा है और इतिदृशीय श्रीशङ्कराचार्यको ] ।

श्रीगौडपादाचार्य भी संन्यासी ही थे। उनके शिष्य श्री-  
गोविन्दपादाचार्य थे और गोविन्दपादाचार्यके शिष्य भगवान्  
शाङ्कराचार्य थे। शाङ्करसम्प्रदायमें जो आचार्यवन्दनात्मक मगलाचरण  
प्रसिद्ध है उसमें आरम्भसे लेकर श्रीपद्मपादाचार्य आदि भगवान्  
शाङ्करके शिष्योंपर्यन्त इस सम्प्रदायके आचार्योंकी शिष्य-परम्परा  
इस प्रकार बतलायी है—

नारायणं पद्ममथं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।  
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गेविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥  
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादश्च इत्यामटकं च शिष्यम् ।  
तं त्रोटकं बार्तिककारमप्यानस्मद्गुरुसंस्ततमानतोऽस्मि ॥\*

इससे विदित होता है कि श्रीगौडपादाचार्य भगवान् शुकदेव  
जीके शिष्य थे।

भगवान् गौडपादाचार्यके ग्रन्थोंमें उनकी कारिकाएँ अगतप्रसिद्ध  
हैं। उनका एक ग्रन्थ श्रीउत्तरगीताका भाष्य भी है जो बानीबिछास  
प्रेस धीरंगमुसे प्रकाशित हुआ है। उस भाष्यसे उनका महान् योगी  
होना सिद्ध होता है। इनके सिवा उनका एका हुआ एक सांख्य  
कारिकाओंका भाष्य भी प्रसिद्ध है। परन्तु यह उक्तका एका है या  
नहीं—इस विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। अस्तु हमें तो इस समय  
उनकी कारिकाओंपर ही कुछ विचार करना है।

कारिकाओंकी रचना बड़ी ही उदात्त और मर्मस्पर्शिली है।  
उनकी गणना संसारके सर्वोत्कृष्ट साहित्यमें हो सकती है। यह तो  
ऊपर कहा ही आ चुका है कि वे मद्भैतसिद्धान्तकी आधारशिला  
हैं। जिस प्रकार भामह्यगवद्गीताके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि  
गीता सुगीता कर्मण्या किमन्यैः शास्त्रविकारैः' उसी प्रकार मद्भैत  
शास्त्रके लिये यह उद्देशपूर्वक कहा जा सकता है कि एकमात्र इस  
ग्रन्थरचनका साधनतापूर्वक किया हुआ अनुशीलन ही पर्याप्त हो  
सकता है। हममें साधन सिद्धान्त परमतनिराकरण और समत

\* शाङ्करसम्प्रदायमें आचार्यवन्दनाके पूर्व आचार्य और शिष्यजन इस  
मन्त्राचरणका उच्चारण किया करते हैं।

संस्थापन—सभीका शास्त्रसम्मत सयुक्तिक वर्णन किया गया है। यह एक ही ग्रन्थ मुमुक्षुओंको परमपदकी प्राप्ति कर सकता है।

इस ग्रन्थमें चार प्रकरण हैं। उनमें क्रमशः २९, ३८, ४८ और १०० इस प्रकार कुछ २१५ कारिकाएँ हैं। पहला भागम प्रकरण है। इसमें सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् और उसकी व्याख्याभूत कारिकाओं के सिवा अगस्त्यवृत्तिके अनेकों प्रयोजनोंका ब्यपन करके उनका अण्डन किया गया है। कोई भगवान्की इच्छामात्रको सृष्टिमें हेतु मानते हैं, कोई कालसे भूतोंकी उत्पत्ति मानते हैं, कोई भोगके लिये सृष्टि स्वीकार करते हैं और कोई कीटाके लिये अगस्त्यकी उत्पत्ति मानते हैं। इन सब पक्षोंको मस्तीकर करते हुए भगवान् कारिकाकार कहते हैं—'वेयस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा (१।९) अथात् पूर्वकाम भगवान्को सृष्टिकर कोई प्रयोजन नहीं है। यह तो उनका स्वभाव ही है। मतः यह जो कुछ प्रपञ्च है विना हुआ ही भास रहा है। परमाद्यदृशियोंका इसके प्रति भावर नहीं होता।

माण्डूक्योपनिषद्में ऋक्षरकी तीन मात्रा अ उ मू के द्वाय स्पृह सूक्ष्म और कारण शरीरके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राण का वर्णन करते हुए उनका समष्टि अभिमानी वैश्वानर हिरण्यगर्भ एव ईश्वरके साथ अमेइ किया गया है। इनकी अभिव्यक्तिकी अर्थस्यार्थ क्रमशः ज्ञानत् स्वप्न और सुषुप्ति हैं तथा इनके भोग स्पृह, सूक्ष्म और मानस्य हैं। आग्रह्यस्थामें जीव दक्षिण मेत्रमें रहता है अज्ञायस्थामें कश्चमें और सुषुप्तिके समय इक्ष्ममें रहता है। इसीका नाम प्रपञ्च है। परमाद्यत्वं इस सबसे विच्छिन्न इसमें अनुगत तथा इनका अधिष्ठान और साक्षी है। उसे ऋक्षरके चतुर्थ पाद अमात्र तुरीयात्मरूपसे वर्णन किया गया है। कोई भी भ्रम विना अधिष्ठानक नहीं हो सकता मतः इस प्रपञ्चभ्रमका भी कोई अधिष्ठान होना चाहिये। वह अधिष्ठान तुरीय ही है। तुरीय नित्य शुद्ध चान्द्ररूप सदायमा और सपसाक्षी है। वह प्रच्यशस्वरूप है। उनमें अग्र्ययाग्रहणरूप स्वप्न और तस्याग्रहणरूप सुषुप्तिच सवंपया अभाव है। दिन समय अनादिमायासे छोपा हुआ जीव अगता है उसी समय उसे इस अग्र्या तथा स्वप्न और मित्रासे रदित अद्वैत

तत्त्वका बोध होता है। इसी बात को भास्कार्यमथर गौडपाद् इस प्रकार कहते हैं—

अनादिमायया सुतो यदा जीव प्रमुष्यते ।

अत्रमनिद्रमसृष्टमद्वैत मुष्यते तदा ॥

( १ । १९ )

इस प्रकार भागमप्रकरणमें वस्तुका निर्वेश कर जीव और ब्रह्म की एकता तथा प्रपञ्च का मायामयत्व प्रतिपादित करते हुए वैतथ्य-प्रकरणमें इसीको युक्ति और उपपत्तिपूर्वक पुष्ट किया है। यहाँ सबसे पहले स्वप्नदृश्यका मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है क्योंकि स्वप्नकी उपमत्ति देखके भ्रंशर किसी नाडीविशेषमें होती है, जिसमें स्थानाभावके कारण पर्वत और हाथी मन्दिक् होबा सूर्यया असम्भव है। स्वप्नावस्थामें जीव देखसे बाहर जाकर स्वप्न पक्षियोंके देखता हा—यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि एक क्षणमें ही सैकड़ों योजन दूरके पक्षी दिखायी देने लगते हैं और उस अवस्थामें जिन व्यक्तियों से यह मिळता है, जग जानपर ये ऐसा नहीं कहते कि हमन तुम्हें देखा था। इसी प्रकार तरह-तरहकी युक्तियोंसे स्वप्नका मिथ्यात्व सिद्ध कर उससे दृश्यत्वमें समानता होमके कारण जाग्रत्ब्रह्मकी दृश्यका भी मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है। यहाँ यह धनछाया गया है कि जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें चित्तमें कल्पना किय हुए पक्षी असत्य और बाहर दूखे जानवाले पक्षी सत्य जान पड़ते हैं किन्तु यस्तुता से दोनों ही असत्य हैं उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी मानसिक और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकरके पक्षी असत्य हैं। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही अवस्थाओंका मिथ्यात्व सिद्ध होनपर यह प्रश्न होता है कि इन चित्तपरिस्थितन और बाह्य दृश्योंको देखता कौन है ? इसके उत्तरमें कारिकाकार कहते हैं—

कल्पपरपरमनातमानामा देव स्वमायया ।

स एव मुष्यते भेगमिति वेदान्तनिधय ॥

( २ । १९ )

इस प्रकार भगवान् गौडपादाचार्यके मतमें प्रपञ्चकी प्रतीति मायाके ही कारण है। मायाकी मदिमासे ही भाग्यदेय अभ्यक्त

वाचनारूपसे स्थित मेदसमूहको व्यक्त करता है। यह माया न सत् है न असत् है और न सदसत् है। न भिन्न है न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है; यह न सावयव है न निरवयव है और न उभयरूप है। वस्तुतः स्वरूपविस्मृति ही माया है; अतः स्वरूपज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति होती है। जिस प्रकार मध्व मन्थकारमें रज्जुतस्यक्त निम्नय न होनेपर उसमें सर्व धातु मूच्छिद्र आदि अनेक प्रकारके विकल्प हो जाते हैं किन्तु रज्जुक्त धान होनेपर एकमात्र रज्जु ही रह जाती है उसी प्रकार मायामोहित जीवको ही मेदप्रपञ्चकी भ्रान्ति हो रही है। मायाका पर्दा हटते ही एकमात्र भवब्रह्म अद्वैत यस्तु ही अवशिष्ट रह जाती है।

इसके आगे आचार्यने प्राणात्मवाद, भूतात्मवाद, गुणात्मवाद, तस्यात्मवाद, पाशात्मवाद, विषयात्मवाद, लोकात्मवाद, देशात्मवाद, देशात्मवाद और पञ्चात्मवाद आदि अनेकों मतवादोंका उल्लेख किया है। वहाँ ये कहते हैं कि लोकमें गुण जिसको जिस भाषकी शिक्षा दे देते हैं वह तन्मय भावसे उसी भावका आग्रह करने लगता है और अन्तमें उसे उसी भावकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु जो इन विभिन्न भाषोंसे अक्षित इनके अधिष्ठानभूत अद्वितीय आत्मतत्त्वको जानता है वह निःशङ्क होकर देशार्यकी कल्पना कर सकता है अर्थात् इन मय भाषोंकी संगति लगा सकता है। वस्तुतः तो जैसे स्वप्न माया और गन्धवनगर होते हैं वैसा ही विद्वान् इस प्रपञ्चको देखत है तो फिर परमाद्य क्या है ? इसका उत्तर आचार्यने इस अद्वैतसे दिया है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न कश्चि न च साधक ।

न मुमुक्षुर्मै न मुक्त इत्येया परमार्थता ॥

( २ । १२ )

तात्पर्य यह कि एक मज्जण विद्वान् वस्तुको छोड़कर उत्पत्ति प्रलय अथ साधक मुमुक्षु और मुक्त किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं है। यह तत्त्व अत्यन्त दुर्दर्श है; क्योंकि निरन्तर व्यवहारमें ही रहनेवाले व्यावहारिक जीवकी दृष्टि इस व्यवस्थापतीत वस्तुतक पहुँचनी बहुत ही कठिन है। जिन देवके पारगामी मुनि

अनोंके राग भय और क्रोधादि विकार सर्वथा निवृत्त हो गये हैं उर्दीको इस प्रपञ्चातीत भव्य पद्म का बोध होता है। इसका बाध हो जानेपर यह महात्मा सर्वथा निर्द्वन्द्व और निर्मय हो जाता है तथा स्तुति नमस्कार और स्त्रभाकायादि व्यवहारकोद्विसे ऊँचा उठकर यह देह और आत्माने ही विश्राम करनेवाला एव यह उच्छासाम समुद्र हो जाता है। फिर यादर-मन्दिर इसी तत्त्वको श्रोतश्रोत देय यह तत्त्वमय हो जानेसे उसीमें रमण करता हुआ कभी तत्त्ववृत्त नहीं होता।

इस प्रकार वैतन्व्यप्रकरणमें युक्तिपूर्वक द्वैताभावका प्रतिपादन कर फिर भागवतप्रकरणमें शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध हुए भद्वैततत्त्वको युक्तिद्वारा सिद्ध करनेके लिये भद्वैतप्रकरणका आरम्भ किया गया है। यहाँ आरम्भमें ही यह बतलाया गया है कि मय उपास्य भव्य है और मैं भव्य हूँ इस प्रकारका उपासनाभित धर्म सातग्रह्य (कार्यब्रह्म) में है। किन्तु उत्पत्तिसे पूर्व यह साय अगत् अजन्मा ब्रह्म ही है। अतः कार्यब्रह्मपरत्पण होनेके कारण यह उपासक रूप ही है। केनोपनिषद्में भी कई पर्यायोंमें मन, धानी और प्राणादिके साक्षीको ही ब्रह्म बतलाकर 'मेव' परिवन्मुपासते इस वाक्यसे उपास्यका समग्रत्व प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार काव्यप्रकाश निर्देश कर भद्रातिसमतां गन्तुं अथात् समभावमें स्थित भद्राति—अजन्मा वस्तु ही प्रकार्पण्य है—ऐसा कहा है। इसके पश्चात् भद्राक्यशादिके दृष्टान्तसे औपार्थिक मेवञ्च इस्सेक करते हुए आकाशस्वामीय आत्मतत्त्वकी अनुत्पत्ति और अस्तंगताका प्रतिपादन किया है। वहाँ यह बतलाया है कि जिस प्रकार एक घटाकाशके घूम और पूछि आदिसे व्याप्त होनेपर अन्य समस्त घटाकाश उससे विहृत नहीं होते उसी प्रकार एक जीवके सुख-दुःखसे समस्त जीव सुखी या दुःखी नहीं होते। और वस्तुता तो भूषि भादि आकाशका संसर्ग ही नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा का भी सुख-दुःखादिसे कभी सम्पर्क नहीं होता। जीवके मरण उत्पत्ति गमन भागमन और स्थिति आदिसे भी आत्माने कोई विकल्पमत्ता नहीं होती। क्योंकि सारे संघात रूपक समान आत्माकी

मायासे ही कल्पित है। अतः आत्मा एक अक्षण्ड, अज्ञान और निर्दोष है इसीसे एकमेवाद्वितीयम्' इदं सर्वं यदयमात्मा' तथा द्वितीयादौ भयं भयति उद्वरभ्रन्तर कुदते अय तस्य भय भयति भादि धुस्तियोंसे अमेददृष्टिकी प्रशंसा और मेददृष्टिकी निन्दा की गयी है। छान्दोग्योपनिषद्में सृष्टिक्रम घट अग्नि-बिस्फुलिङ्ग और ओह नक्षनिहस्तनादि दृष्टान्तोंसे जो सृष्टिक्रम वर्णन किया गया है वह सिद्धासुकी बुद्धिमें प्रपञ्चक्य प्रकृतके साथ अमेद विद्यमानके छिये है। वस्तुतः प्रपञ्चमेद सिद्ध करनेके छिये नहीं है। अतः सिद्धान्त यही है कि जो कुछ मेद है वह व्यवहारदृष्टिसे है परमार्थतः उसकी गन्ध भी नहीं है। यदि वास्तविक मेद माना जाय तो परमार्थतस्य दृष्टिशील सिद्ध होगा और इस प्रकार परिणामी होनेके कारण वह नित्य नहीं हो सकता। इसके सिवा यदि विचार किया जाय तो न तो सर्वस्तुके जन्म हो सकता है और न अस्तित्व ही, क्योंकि जो है ही उसका जन्म क्या होगा और जो शशङ्कके समान अस्त है उसकी भी कैसे उत्पत्ति हो सकती है। अतः यह सारा द्वैत मनोवदप्रमाण है। मनके अममीभावको प्राप्त होते ही द्वैतकी लम्बि भी उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रकार आत्मसत्यका बोध होनेपर जिस समय चित्त संकल्प नहीं करता उसी समय मन अमनस्ताको प्राप्त हो जाता है। उसका यह अग्रह निराध्वनित नहीं होता बल्कि प्राज्ञ वस्तुके अभाव होनेके कारण होता है। इसीको प्रज्ञाकररूपिण या धृष्टि स्याति भी कहते हैं। उस अवस्थाका चरित्रकारने सीतीससे छेकर अङ्गीसर्वा चरित्रातक बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। यही बोध स्थिति है इसीके छिये सिद्धासुके सारा प्रयत्न होता है और इसी स्थितिसे प्राप्त होनेपर मनुष्य छलछरण होता है। चरित्रकारने इसे अस्पर्शयोग कहा है। इस अभयस्थितिसे अन्य योगिजन भय मानते हैं क्योंकि यहाँ अहंकारके अत्यन्ताभाय होनेके कारण उन्हें आत्मनाश दिवायी देता है। यह योग केवल उच्चम अधिकारियोंके छिय है जिनका इसमें प्रवेश नहीं है उनकी अभयस्थिति पुम्बस्य, बोध और अक्षयशास्त्रि मनोनिग्रहके अर्थात् है। वह मनोनिग्रह



भी पड़े धीर-वीरका कर्म है। उसके लिये अत्यन्त उत्साह अतपरत अभ्ययसाय और परम धैर्यकी आवश्यकता है। उसमें नाना प्रकारके विघ्न आते हैं। भगवान् कारिकाकारने क्याहीससे लेकर पैतालीसवीं कारिकातक उन विघ्नोंकी निवृत्तिके उपाय बतलाये हैं। उनके अनुसार साधन करते-करते जब विघ्न निरुद्ध हो जाता है तो बोधका उदय होता है। इस स्थितिका वर्णन आचार्यने श्लोक ४६ और ४७ में किया है। इस प्रकार मद्भैततस्य और उसकी उपलब्धिसे साधनोंका विशेषण कर उन्होंने निम्नलिखित श्लोकसे इस प्रकारका उपसंहार करते हुए अपना सिद्धान्त स्थापित किया है—

न कश्चिज्जायते भीम सम्मथोऽप्य न विषते ।

एतत्तदुत्तम सत्य पत्र किञ्चिन्न जायते ॥

( १।४८ )

इसके पश्चात् मळातशान्ति नामक चौथे प्रकरणमें आचार्यने अन्य मत्तायलम्बियोंके पारस्परिक मतभेद विलम्बते हुए जम्हींकी शुक्तिपौसे उनका बखान किया है। मळात' शब्दका अर्थ बलक या मसाला है। मसालाको घुमानेपर अग्निकी तरह-तरहकी आकृतियाँ दिखायी देती हैं और उसका घुमाना बंद करते ही उनका विचार्य वना बंद हो जाता है। यदि विचार किया जाय तो बस्तुतः वे मसालासे न तो निकलती हैं न उसमें लीन होती हैं और न कहीं अन्यत्रसे ही उनका आना जाना होता है। उनकी प्रतीति केवल मसालाके स्पन्दनका ही फल है बस्तुतः उनकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार यह ब्रह्म-प्रपञ्च केवल मनके स्पन्दनके कारण प्रतीत होता है और मनके अमतीभावसे प्राप्त होते ही न जाने कहीं लक्ष्य जात है। किन्तु ये प्रपञ्चकी प्रतीति और अमतीति दोनों ही अशान्तिजनित हैं। परमार्थदृष्टिसे न इसकी उत्पत्ति होती है और न लक्ष्य। इस अशान्तिका आधार परब्रह्म है क्योंकि कोई भी अशान्ति निराधार नहीं हो सकती। अतः रज्जुमें सर्प अथवा शुक्तिमें रजतके समान परब्रह्म में ही इस प्रपञ्चकी प्रतीति हो रही है। यही इस प्रकारका संक्षिप्त तात्पर्य है। इस प्रकरणमें आचार्यने सद्भाद असद्भाद बीजादुरसम्भतिबाद विद्यानबाद एवं दूम्यवाद आदि सभी विपत्ती मतों

का अण्डन करके अज्ञातवायुकी स्थापना की है। ये एक ही कारिकामें सारे पक्षोंकी अनुपपत्ति दिखलाते हुए कहते हैं—

सन्नो वा परतो वापि न किञ्चिद्भस्तु जायते ।

सदसम्पदसद्वापि न किञ्चिद्भस्तु जायते ॥

( ४।२२ )

अर्थात् कोई भी वस्तु न तो अपनेसे उत्पन्न हो सकती है और न किसी अन्यसे ही। जो घट अभीतक तैयार नहीं हुआ उससे यही घट कैसे उत्पन्न होगा। तथा तैयार हुए घटसे भी कोई अन्य घट अथवा पट कैसे उत्पन्न होगा। यही नहीं सत् असत् अथवा सत्सत् रूपसे भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जो वस्तु है उसकी उत्पत्ति क्या होगी और जिसका अत्यन्ताभाव है उसकी भी कहाँसे उत्पत्ति होगी। तथा जो है और नहीं भी है ऐसी तो कोर वस्तु ही होनी सम्भव नहीं है अतः किसी भी प्रकार किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार कुछ भागे चलकर ये सय प्रकारके कार्यकारणभावकी अनुपपत्ति दिखलानके लिये कहते हैं—

मास्वसद्येतुकमस्रसदसद्येतुकं तथा ।

सम्प सद्येतुकं नास्ति सद्येतुकमसङ्कृत ॥

( ४।४ )

अर्थात् न तो आकाशकुसुमादि असत् कारणवाला कोर आकाशकुसुमादि असत् पदार्थ हो सकता है और न ऐसे असत्कारणसे कोई सत् वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार घटादि सत्पदार्थ भी किसी अन्य सत्पदार्थके कारण नहीं हो सकते। फिर उनसे कोई असत्पदार्थ उत्पन्न होगा—ऐसी तो सम्भावना ही नहीं है।

इस प्रकार भनकों युक्तियोंसे जिने अग्निके निमित्तमृत द्वैतका अत्यन्ताभाव अनुभव हो गया है और जिसने कार्य-कारणभावगम्य परमार्थतायको जान लिया है यही सय प्रकारके दोष और संस्कारसे मुक्त होकर अभयपद प्राप्त करता है। उसकी स्थितिका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चया हि तत्र स्थितिः ।  
विषय स हि युद्धार्था तस्मान्ममजमद्रूपम् ॥

( ४।८ )

अजमनिद्रमक्षुण्णं प्रमातं भवति क्षयम् ।  
सदृदिभाता क्षीय धर्मो धातुस्तमास्त ॥

( ४।८१ )

इस प्रकार उस निवृत्तस्थ स्थितिमें अर्पण कर भगवान् गौड पादाचार्य कहते हैं कि जिस-जिस धर्मका आग्रह हो जानेसे वह सर्वविशेषात्म्य परमार्थतत्त्व अनायास ही माच्छादित हो जाता है और फिर वह पक्ष बड़ी कठिनतासे हटता है। इसीसे यह भगवान् अत्यन्त दुर्दर्श है। इसे माच्छादित करनेवालों कौन-कौन-सी कोटियाँ हैं—उनका दिग्दर्शन करानेके लिये ये कहते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुन ।  
चकस्त्रिरोमयामाबैरावृणोत्येष वाञ्छि ॥

( ४।८२ )

अर्थात् कोई कहते हैं भगवान् है कोई कहते हैं 'नहीं है', किन्हींका मत है 'है' और नहीं भी है और कोई कहते हैं नहीं है नहीं है' इनमें अस्तिभाव शब्द है क्योंकि वह घटादि व्यनित्य पदार्थोंसे विशुद्ध है। नास्तिभाव शब्द है कारण उसमें कोई विशेषता नहीं है अस्ति-नास्तिभाव ( सद्सद्भाव ) उभयरूप है और नास्ति-नास्तिभाव अभावरूप है। भगवान् इन सभी भावोंसे विस्मरण है क्योंकि ये सभी व्यवहारकोटिके अन्तर्गत हैं। उस सर्वभावातीत भगवान्को जो जानता है वही सर्वज्ञ है—सर्वज्ञ इसलिये कि वह सारे प्रपञ्चके अधिष्ठानको जानता है और जो अधिष्ठानको जानता है उसे अल्पस्तवगरी अस्तित्वतत्त्व ज्ञान है ही। जिसे ऐसा ज्ञान है उस महत्प्रमाणावयवमें स्थित हुए महात्माके लिये फिर कुछ भी कर्तव्य दोष नहीं रहता। उसका राम-दम भाषि सात्त्विक व्यवहार भी लोकसेवार्थके लिये केवल हीनमयाव होता है। वस्तुतः उनकी गहनगतिका अन्वेषण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। अर्थात्की अस्तीति स्थितिके लक्ष्मणमें रहकर भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें क्या है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।  
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥

( २ । ६९ )

जो ससार ससारी पुरुषोंकी दृष्टिमें ध्रुवसत्य है उसका ये मतपस्ताभाव देखते हैं और जिस अखण्ड चिद्व्यक्तसत्तामें उनकी अविच्छिन्न स्थिति रहती है उसतक पश्चिर्दर्शी अधिदेवियोंकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। इसीसे उनकी दृष्टिमें दिन-रातका अन्तर बतलाया गया है।

इस प्रकार समस्त बाह्यियोंकी कुदृष्टियोंका खण्डन कर आचार्य ने एक अद्वय असम्बद्ध तत्त्वको स्थापित किया है, और अन्तमें उसीकी वन्दना करते हुए प्रमथ्यका उपसहार किया है। यहाँ वे कहते हैं—

दुर्दर्शमतिगम्भीरमज्ञं साम्यं विशारदम् ।

बुद्ध्या पदमनानात्वं नमस्तुर्मो यपाकठम् ॥

( ४ । १ )

इन कारिकाओंके द्वारा भगवान् गौडपादाचार्यने मज्ञातवायकी स्थापना की है। इस सिद्धान्तको ग्रहण करनेके लिये बहुत ऊँचे अधिदेवकी आवश्यकता है। जो सब प्रकार साधनसम्पन्न हैं वे उच्चाधिदेव ही इसे ठीक-ठीक दृश्यरूप कर सकते हैं। जिनके चित्त कुछ भी वियपग्रहण हैं वे इससे अधिक लाभ न उठ सकते—इतना ही नहीं अपि तु उन्हें हानि होनेकी भी सम्भावना है यह तत्त्व अल्पज बुद्धि है—ऐसा तो क्षय आचार्यचरणने ही कह दिया है—दुर्दर्शमतिगम्भीरम्। किन्तु जिस महाभाग महापुरुषकी दृष्टि इस परमतत्त्वतक पहुँच जाती है उसके लिये फिर कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। यह क्षय जीवन्मुक्त हो जाता है और दूसरे अधिदेवरी पुरुषोंको भी भयबन्धनसे मुक्त कर देता है। वह महामुनि सत्यका यन्त्रणीय है सत्यका गुरु है और सभीका परम सुहृद् है। भगवान् हमें ऐसे महापुरुषोंके चरणकमलोंका आश्रय देकर हमारे ससाक्षात्परमत्त अन्तःकरणोंको शान्ति प्रदान करें।

—अनुवादक

श्रीहरि-

## विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ धान्तिपाठ	१९
<b>आगम प्रकरण</b>	
२ भाष्यकारका मङ्गलाचरण	२
३ तन्मन्त्रनाम्य	२१
४ ॐ ही तव कुल है	२४
५. ओंकारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता	२५
६ आत्माका प्रथम पाद—वैखानर	२७
७ आत्माका द्वितीय पाद—तैजस	३१
८ आत्माका तृतीय पाद—माह	३३
९ प्राणका सर्वकारणत्व	३५
१ एक ही अत्रमाके तीन भेद	३६
११ विचारिके विभिन्न स्थान	३७
१२ विचारिक विविध भोग	४१
१३ विविध भोक्तृ और भोग्यके ज्ञानका फल	४४
१४ प्राण ही त्वकी सृष्टि करता है	४५
१५ सृष्टिके विरपमें विद्य-भित्त विरूपन	४७
१६ अनुस्य पादका विवरण	४९
१७ तुरीयका स्वरूप	५२
१८ तुरीयका प्रभाव	५९
१ विद्य और तैजसके तुरीयका भेद	६
२ प्राणके तुरीयका भेद	६१
२१ तुरीयका स्वप्न-निद्रासंस्थान	६३
२२ बीच क्या होता है ?	६५
२३ प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव	६६
२४ गुह्य विचारिक विरूपन व्यावहारिक है	६७
२५ आत्मा और उसके पादोंके साथ ओंकार और उसकी मायाभोक्तृ	६८

दिग्द		पृष्ठ
२६	अकार और विश्वका तादात्म्य	६९
२७	उकार और सैबसका तादात्म्य	७
२८.	मकार और प्राणका तादात्म्य	७२
२९	मात्राओं-की विरुद्धादिस्मृता	७३
३	ओंकारोपासकका प्रमाण	७५
३१	ओंकारकी व्युत्पत्तिनाक पद्य	७५
३२	अमात्र और आत्मका तादात्म्य	७९
३३	समस्त और व्यस्त ओंकारोपासना	७८
३४	ओंकारार्थक ही गुनि है	८१

### वैतथ्यप्रकरण

३५.	स्वप्नरुद्र पदार्थका सिध्दात्त	८९
३६	आप्तदृश्य पदार्थके सिध्दात्तमें हेतु	८५
३७	स्वप्नमें मनाकस्वित और इन्द्रियमात्र दोनों ही प्रकारके पदार्थ सिध्दा हैं	९१
३८	आप्तमें भी दोनों प्रकारके पदार्थ सिध्दा हैं	९२
३९	इन सिध्दा पदार्थोंकी कल्पना करनेबाध्य कौन है ?	९२
४	इनकी कल्पना करनेबाध्य और इनका घटती आत्मा ही है	९३
४१	पदार्थकल्पनाकी विधि	९४
४२	आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारक पदार्थ सिध्दा हैं	९४
४३	आन्तरिक और बाह्य पदार्थका भेद केवल इन्द्रियजनित है	९५
४४	पदार्थकल्पनाकी मूल जीवकल्पना है	९७
४५	जीवकल्पनाका हेतु अज्ञान है	८
४६	अज्ञाननिवृत्ति ही आत्मज्ञान है	९९
४७	विकल्पकी मूल माया है	१
४८.	मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मतका	१ १
४९.	आत्मा सवाचित्तान है ऐसा ज्ञाननेबाध्य ही परमार्थरुपी है	१ ५
५	इतका अस्तित्व वेदान्तवेद्य है	१ ६
५१	परमार्थ क्या है ?	१ ८
५२	अद्वैतभाव ही महत्त्वमय है	११३
५३	तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें मानात्माका अस्तित्वमात्र है	११४
५४	इत रहस्यके कौन कौन वे ?	११५

विवरण	पृष्ठ	
५५	तत्त्वदर्शनका आदेश	११०
५६	तत्त्वदर्शीका आचरण	११८
५७	अधिकतः तत्त्वनिर्वाका विधान	११९
<b>अद्वैतप्रकरण</b>		
५८	मेरुकी कल्पना है	१२२
५९	अध्यात्मनिरूपणकी प्रतियोगिता	१२३
६०	जीवकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त	१२५
६१	जीवके विद्यमान होनेमें दृष्टान्त	१२६
६२	आत्माकी अतन्त्रतामें दृष्टान्त	१२७
६३	व्यावहारिक जीवमें	१२९
६४	जीव आत्माका विचार या अचरण नहीं है	१३४
६५	आत्माकी मक्तिता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है	१३५
६६	आत्मैकत्व ही तर्कहीन है	१४
६७	सुसुक्त जीव-ब्रह्ममेव गीय है	१४९
६८	दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था	१४९
६९	विभिन्न अधिकारी और उनके किये उपासनाविधि	१४७
७०	अद्वैतात्मदर्शन किर्त्तिका विरोधी नहीं है	१४८
७१	अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु	१५
७२	आत्मामें भेद मायाहीके कारण है	१५२
७३	जीवोत्पत्ति तबवा अतन्त्र है	१५३
७४	उत्पत्तिहीन जीव अमर नहीं है तबवा	१५४
७५	सृष्टि-प्रतिषेध अंगति	१५५
७६	भ्रुति काय और अचरण दोनोंका प्रतिषेध करती है	१८
७७	अनात्मप्रतिषेधके अन्तर्गत् आत्मा प्रकटित होता है	१६१
७८	वस्तुही उत्पत्ति मयिक होती है	१६२
७९	अमरत्वकी उत्पत्ति तबवा अतन्त्र है	१६४
८०	स्वप्न और जागृति मन्त्र ही विधान है	१६६
८१	तारकाधत्ते अमनीधत्ते	१६७
८२	आत्मदर्शन किये होता है ?	१६८
८३	अनात्मत्वका स्वरूप	१७
८४	सुप्ति और अनात्मिका का	१७१
८५	अनात्मत्व	१७३

८६	अत्यर्घयोगकी दुर्गमता	१७७
८७	अन्य योगियोंकी शान्ति मनोनिग्रहके अधीन है	१७८
८८	मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है	१८०
८९	मनोनिग्रहक विघ्न	१८
९	मन कब ब्रह्मरूप होता है ?	१८४
९१	परमार्थ सत्य क्या है ?	१८

### अज्ञानशान्तिप्रकरण

९२	नायन्य नमस्कार	१८८
९३	भद्रैतदर्शनकी बन्दना	१८
९४	द्वैतवादिबौद्ध पारस्परिक विरोध	१९१
९५	द्वैतवादिबौद्धोंका मङ्गलित अज्ञानका अनुमोदन	१९२
९६	स्वभावविपर्यय असम्भव है	१९३
९७	जीवका अणु मरण माननेमें दोष	१९६
९८	साध्यमत्तर वैरोधिककी आपत्ति	१९६
९९.	हेतु और फलके सम्बन्धकारणत्वमें दोष	१९९
१	अज्ञानवाद-निरूपण	२ ६
१ १	सदसवादिवादीकी अनुपपत्ति	२ ७
१ २	हेतु फलका अनादित्व उनकी अनुपपत्तिका दूषक है	२
१ ३	वाक्यार्थवाद निरूपण	२१
१ ४	विज्ञानवादिकर्तृक वाक्यार्थवादनिषेध	२१२
१ ५	विज्ञानवाक्यका लक्षण	२१६
१ ६	उपक्रमका उन्मूलन	२१८
१ ७	प्रपञ्चके अस्तित्वमें हेतु	२२
१ ८	स्वप्नका मिथ्यात्वनिरूपण	२२१
१ ९	स्वप्न और जाग्रतका काव-कारणत्व व्यावहारिक है	२२२
११	जगदुत्पत्तिकारण उपदेश किनके लिये है ?	२२७
१११	सम्भार्यगामी द्वैतवादिबौद्धोंकी गति	२२९
११२	उपपत्तिक और आकरणकी अप्रमायता	२२९
११३	परमार्थ वस्तु क्या है ?	२३
११४	विज्ञानाभासमें अज्ञानस्वरूपका दृष्टान्त	२३२
११५.	आत्मामें काव-कारणभाव क्यों असम्भव है ?	२३६
११६	हेतु-कारणत्वके अभिनिवेशका फल	२३८

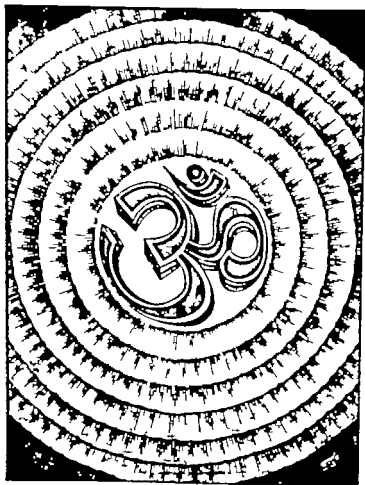


विषय	पृष्ठ	
११७	हेतु-पञ्चके अभिनिवेशमें दोष	२१९
११८	जीवोच्च कर्म मायिक है	—
११९	आत्माकी अनिर्बन्धनीयता	२४२
१२०	हेताभावमें स्वप्नका दृष्टान्त	२४३
१२१	अज्ञाति ही उत्तम उख है	२४८
१२२	चित्तकी असंगता	२४८
१२३	व्यावहारिक वस्तु परमार्थता नहीं होती	२४९
१२४	आत्मा अज्ञ है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है	२५
१२५	हेताभावमें अनिर्बन्धनीयता	—
१२६	विशुद्धी अभावपर अज्ञाति	२५३
१२७	मनोवृत्तियोंकी उत्पत्तिमें अज्ञाताभावकार	२५५
१२८	आत्माकी तुर्द्वर्षताका हेतु	२५६
१२९	परमार्थका आवरण करनेवाले असदभिनिवेश	२५७
१३०	ज्ञानीका नैऋत्य	२५९
१३१	त्रिविध ज्ञेय	२६१
१३२	त्रिविध ज्ञेय और ज्ञानका सादा उख है	२६३
१३३	जीव आकाशके समान अनादि और अभिन्न है	२६६
१३४	आत्मतत्त्वनिरूपण	२६७
१३५	आत्मज्ञ ही अज्ञान है	२६९
१३६	आत्मज्ञका महाज्ञानित्व	२७
१३७	आत्मज्ञानमें दोषप्रदर्शन	२७१
१३८	आत्मज्ञान स्वाभाविक स्वरूप	२७२
१३९	अज्ञातकार दोषदर्शन नहीं है	२७३
१४०	परमार्थरह-वन्दना	२७५
१४१	आत्मकारकतुल्य कर्मना	२७६
१४२	आत्मिगत	२७७





माण्डूक्योपनिषद्



ॐमित्येतद्वसुधैव कुटुम्बकम्

ॐ श्री आचार्य दिनचन्द्र शान गण्डार ॐ

ॐ गलः

श्री श्वेताम्बर स्यावद्युती दिन भावक संघ, धरपुर

कलशदाने नमः

# माण्डूक्योपनिषद्

गौडपादीय अरिक्क मन्त्रार्थ, साङ्करमाप्य

और माप्यार्थसहित

आप्रदाविद्योऽमुक्त आप्रदाविमथ तथा ।  
मोहारेकसुसपेथ पत्यर्दं तत्रमाम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ मद्र ऋषोभिः शृणुयाम देवा मद्रं पश्येमाक्षभिर्भवश्राः ।  
मिररङ्गस्तुष्टुवाः प्रस्तनूभिर्व्यशेम द्रवितं यदायु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

हे देवगण ! हम क्रमोंसे कल्याणमय बचन सुनें । यज्ञकर्ममें समर्थ होकर मेशोंसे शुभ दर्शन करें तथा अपन स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमको देवताओंके किये दितकर आयुकर भोग करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

स्यस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्यस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।  
स्यस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्यस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे परम ज्ञानवान् [ अपवा परम धनवान् ] पूषा हमारा कल्याण करे, ओ अरिष्यो ( आपत्तियों ) के किये चक्रक समग्र [ घातक ] हे बृहस्पति हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

## अहम-प्रकरण

माध्यमरश्मि मन्त्रप्रकरण

प्रज्ञानांशुमतानैः स्थिरचरनिकरुपापिभिर्ध्याप्य लोचनं  
मुक्त्वा भोगाम्स्त्रविष्टम्पुनरपि धिपजेन्द्रासिताम्स्त्रमञ्जभ्याम् ।  
पीत्वा सर्वाग्निशेषाम्स्त्रपिति मधुरमुक्त्वा मायया भोजयन्ने  
मायासंख्यातुरीय परममृतमञ्जं पृथ्वा पञ्चभ्रतोऽस्मि ॥ १ ॥

जो अपनी चतुर्भुजापिनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारसे सम्पूर्ण  
लोकोंको व्याप्त कर [ आपत्-क्षयस्वामे ] स्थूल त्रिभुजा भोग करनेके  
बनकर फिर [ सप्तकर्मस्वामे ] बुद्धिसे प्रकाशित वासनाजनित सम्पूर्ण  
भोगोंको पानकर मायासे हम सब जीवोंको भोग कराता हुआ [ स्वयं ]  
ब्रह्मदेव भोक्तृ होकर सयम करता है तथा जो परम अप्रुत और  
ब्रह्मा ऋषि मायासे शुरिया ( चौपी ) संख्यावाच्य है, उसे हम नमस्कार  
करते हैं ॥ १ ॥

यो विन्वात्मा विभिन्नविषयान् प्राप्य भोगाम्स्त्रविष्टान्  
पञ्चाध्यात्म्यान्ममतिविभवान् ज्यातिषा स्वेन सूत्रमान् ।  
सर्वामेतम्पुनरपि ज्ञानैः स्वात्मनि स्थापयित्वा  
द्वित्वा सर्वाग्निशेषाम्स्त्रगत्तगुणगणः पात्कसी यस्तुगीयः ॥ २ ॥

जो सर्वात्मा [ आपत्-क्षयस्वामे ] शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको  
भोगकर फिर [ सप्तकर्मस्वामे ] अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको  
[ सूर्य आदि बाह्य ज्योतिषोंका वभाव होनेके कारण ] अपने ही प्रकाश-  
से भोगता है और फिर धीरे-धीरे इन सभीको अपनेमें स्वात्मिकर सम्पूर्ण  
विषयोंको धारकर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है, यह तृतीय परमात्मा  
हमारी रक्षा करे ॥ २ ॥

## सम्बन्धभाष्य

आमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।

तस्मोपन्यास्यान्

अनुष्ण  
मिच्छाः

वेदान्ताधिसारसग्रह

भूतभिद् प्रकरण

चतुष्टयमामित्येतदक्षरमित्पाद्या

रम्यते । अत एव न पृथक्सम्बन्धा-

भिषेपप्रयाजनानि वक्तव्यानि ।

यान्येष तु वेदान्ते सम्बन्धाभि-

षेयप्रयोजनानि तान्येषेह भवितु-

मर्हन्ति । तथापि प्रकरणव्या-

धिरण्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि ।

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभि-

व्यञ्जकत्वेनाभिषेयसम्बद्धं शास्त्रं

पारम्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिषेय-

प्रयोजनवद्भवति । किं पुनस्त-

त्प्रयोजनमित्युच्यते ? रोगा-

र्हस्येव रोगनिर्णयौ स्वम्यथा ।

यथा दुःस्वात्मकस्वात्मनो द्वैत

(३०) यह अक्षर ही यह सब कुछ है । उसका व्याख्यानरूप तथा वेदान्तार्थक सारसंग्रहभूत यह चार प्रकरणोंवाला ग्रन्थ 'आमित्येतदक्षरमिद्' आदि मन्त्रद्वारा आरम्भ किया जाता है । इसीप्रकार इसके सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनका पृथक् वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है । वेदान्तशास्त्रमें जो-जो सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन हुआ करते हैं वे ही इस ग्रन्थमें भी हो सकते हैं । तो भी [व्याख्याकार ऐसा मानते हैं कि] जिन्हें किसी प्रकरण ग्रन्थकी व्याख्या करनेकी इच्छा हो उन्हें संक्षेपसे बनकर वर्णन कर ही देना चाहिये ।

यहाँ, प्रयोजनसिद्धिके अनुकूल साधन अभिव्यक्त करनेके कारण अपने प्रतिपाद्य विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र परम्परासे विशिष्ट सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनवाला हुआ करता है । अथवा तो, [इस शास्त्रक] यह क्या प्रयोजन है ? तो मन्त्राया जाता है—जिस प्रकार रोगी पुरुषको रोगकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता होती है उसी प्रकार दुःस्वामिवाली आत्माको द्वैत

प्रपञ्चापक्षमे स्वल्पता । अद्वैत  
भावः प्रयोजनम् ।

द्वैतप्रपञ्चसाधिकाकुतस्वादि  
धया तदुपपन्नमः स्वादिति  
ब्रह्मविद्याप्रकाशनायासारम्भ  
क्रियते । “यत्र हि द्वैतमिष भवति”  
( वृ० उ० २ । ४ । १४ ) “यत्र  
वान्यदिष स्वात्त्रान्योऽन्यत्प  
श्वेदन्वोऽन्यद्विज्ञानीयात्” ( वृ०  
उ० ४ । ३ । ३१ ) “यत्र वास्य  
सर्वमात्मैवामूचत्केन कं पश्ये  
स्केन कं विज्ञानीयात्” ( वृ० उ०  
२ । ४ । १४ ) इत्यादिश्रुतिभ्यो  
ऽस्वार्थस्य सिद्धिः ।

तत्र तत्त्वबोद्धारनिर्णयप्रथमं  
प्रकरण- प्रकरणमागमप्रधानम्,  
पञ्चम आत्मतत्त्वप्रतिपत्तयु  
प्रतिपत्त्यर्थं पापमृतम् । यस्य  
विकल्प- द्वैतप्रपञ्चस्योपपन्नमे  
ऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिष सर्पा-  
दिविकल्प्यापन्नमे रज्जुतत्त्व  
प्रतिपत्तिस्तस्य द्वैतस्य हतुता

प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर स्वल्पता  
मिळती है । अतः अद्वैतभाव ही इसका  
प्रयोजन है ।

द्वैतप्रपञ्च अविद्याजनित है इस-  
लिये उसकी निवृत्ति विधासे ही हो  
सकती है । अतः ब्रह्मविद्याको  
प्रकाशित करनेके लिये ही इसका  
आरम्भ किया जाता है । “जहाँ  
द्वैतके समान होता है” “जहाँ  
भिक्षुके समान हो वहाँ कोई दूसरा  
दूसरेको देख सकता है अथवा दूसरा  
दूसरेको जानता है” “जहाँ इसके  
लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया  
है वहाँ यह किसके द्वारा किसे देसे ?  
और किसके द्वारा किसे जाने !”  
इत्यादि श्रुतियोंसे इसी बातकी सिद्धि  
होती है ।

छत्र ( चारों प्रकरणों ) में पहला  
प्रकरण तो बोद्धारक स्वरूपका निर्णय  
करनेके लिये है । यह आगम-  
( श्रुति ) प्रधान और आत्मतत्त्वकी  
प्राप्तिकर उपायमृत है । रज्जुमें  
सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति होनेपर  
जिस प्रकार रज्जुकं अरूपपर ज्ञान  
हो जाता है इसी प्रकार जिस द्वैत-  
प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर अद्वैत  
तत्त्वका बोध होता है उसी द्वैतका

वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीय  
प्रकरणम् । तथाद्वैतस्यापि  
वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तिस्तथा  
त्वदर्शनाय तृतीय प्रकरणम् ।  
अद्वैतस्य तथास्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्ष  
मूतानि यानि धादान्तराण्ययंदि  
कानि तेषामन्यान्यविरोधि-  
स्वात्तथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव  
निराकरणाय चतुर्थ प्रकरणम् ।

कथं पुनरोद्धारनिर्णय आरम्भ  
ओद्धारण तत्रप्रतिपक्ष्युपायत्व  
आत्मनिवृत्ति-प्रतिपक्षत इत्युच्यते—  
छान्दोग्य “ओमित्येतत्” (क०  
उ० १। २। १५) “एतदा  
लम्बनम्” (क० उ० १। २।  
१७) “एतद् सत्यकाम” (म०  
उ० ५। ०) “आमित्यास्मान  
युञ्जीत” (मैत्र्यु० ६। ३)  
“आमिति प्रज्ञ” (तै० उ०  
१। ८। १) “ओद्धार षडैद  
सर्षम्” (छा० उ० २। २३।  
३) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

रज्ज्यादिरिव मषादि

विकल्पम्याम्पनाऽद्वय

ओद्धारण

आत्मा परमार्थ

मर्त्यात्प्राप्तम्

म-प्राणादिविकल्पम्या

युक्तिपूर्वक मिथ्यात्व प्रतिपादन करने  
के लिये [ वैतथ्यनामक ] द्वितीय  
प्रकरण है । इसी प्रकार अद्वैतके भी  
मिथ्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित न हो  
जाय इसलिये युक्तिद्वारा उसका  
सत्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये  
तृतीय ( अद्वैत ) प्रकरण है । तथा  
अद्वैतके सत्यत्व-निश्चयके विपक्षी  
ओ अन्य अवैतिक मतान्तर हैं वे  
परस्परविरोधी होनेके कारण मिथ्या  
हैं, अतः उन्हींकी युक्तियोंसे उनका  
समर्थन करनेके लिये चतुर्थ ( अज्ञान-  
शान्ति ) प्रकरण है ।

ओद्धारका निर्णय किस प्रकार  
आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय होता  
है, सो अब बतलाया जाता है—  
“ऽ” यही [ वह पद ] है” “यही  
आलम्बन है” “ह सत्यकाम ! यह  
[ जो ओद्धार है वही पर और अगर  
ब्रह्म है ]” “आत्माका ऽ” इस प्रकार  
ध्यान करो” “ऽ” यही ब्रह्म है” “यह  
सब आद्धार ही है” इत्येति श्रुतियोंसे  
यही बात जानी जाती है ।

सर्वाणि विकल्पका अधिष्ठानमृत  
रज्जु आदिव मन्तव्यं त्रिम प्रकार  
अद्वैतीय आत्मा परमार्थ सत्य दान  
पर भी प्राणादि विकल्पका अर्थ



स्यदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्प विषय ओङ्कार एव । स चात्मस्वरूपमेव, तदभिधाय कस्वात् । ओङ्कारविकारशब्दाभिधेयम् सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पाऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति । “वाचारम्भर्णं विकारा नामधेयम्” ( छा० उ ६ । १ । ४ ) “तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिदासभिः सर्वं सितम्” “सर्वं हीद नामनि” इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

अत आह—

ही इसी प्रकार प्राणादि विकल्पको विषय करनेवाला सम्पूर्ण वाक्प्रपञ्च ओङ्कार ही है । और वह ( ओङ्कार ) आत्माके प्रतिपादन करनेवाला होनेसे उसका स्वरूप ही है तथा ओङ्कारके विकाररूप शब्दोंके प्रतिपाद्य आत्माके विकल्परूप समस्त प्राणादि भी अपने प्रतिपादक शब्दोंसे भिन्न नहीं हैं, जैसा कि “विकार केवल वाणीके विकास और नाममात्र है” “उस अक्षर यह सम्पूर्ण अक्षर वाणीके सूत्रद्वारा नाममयी ओंकारसे व्याप्त है” “यह सब नाममयी ही है” इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

इसीलिये कहते हैं—

ॐ ही सब कुछ है

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है । यह जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसीकी व्याख्या है; इसलिये यह सब ओङ्कार ही है । इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओङ्कार ही है ॥ १ ॥

आमित्येतदक्षरमिदं सर्वं मिति । यदिदमर्थात्तमभिधेयं भूतं तस्याभिधानाव्यतिरेक्यत्,

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है । यह अभिधेय ( प्रतिपाद्य ) रूप त्रितन्त्र पदार्थसमूह है वह अपने

अभिधानस्य चाङ्काराव्यतिरिक्ता  
दोङ्कार एवेदं सर्वम् । परं च  
ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव  
गम्यत इत्योङ्कार एव ।

तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपसा-  
धरस्वामित्येतस्यापव्याख्यायाम्;  
ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद्ब्रह्मसमीप  
व्याप्या विस्पष्ट प्रकथनमुपव्याख्यान  
प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः ।

मृतं भवद्भविष्यदिति काल  
त्रयपरिच्छेद्यं यच्चदप्याङ्कार  
एवाकृत्यायतः । यथाम्यत्रि  
कालातीत कार्याधिगम्य काल-  
परिच्छेद्यमम्पाकृतादि तद  
प्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अभिधान ( प्रतिपादक ) से अस्मिन्  
होनके कारण और सम्पूर्ण अभिधान  
भी ओङ्कारसे अस्मिन् होनके कारण  
यह सब कुछ ओङ्कार ही है । पर  
ब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय ( वाच्य  
वाचक ) रूप उपायके द्वारा ही  
जाना जाता है, इसलिये वह भी  
ओङ्कार ही है ।

यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर  
ॐ है उसके उपव्याख्यान-ब्रह्मकी  
प्राप्तिके उपाय होनके कारण उसके  
समीपतासे स्पष्ट कथनके नाम  
उपव्याख्यान है वही यहाँ प्रस्तुत  
जानना चाहिये । इस वाक्यमें  
प्रस्तुतं वेदितव्यम् ( प्रस्तुत जानना  
चाहिये ) यह वाक्यशेष है ।

मृत कथन और भविष्यत् इन  
तीनों कालोंसे जो कुछ परिच्छेद्य है  
वह भी उगुल म्यायसे ओङ्कार ही  
है । इसमें सिवा जो तीनों कालोंसे  
परे, अतन कार्यसे ही चिन्तित होन  
वाला और कालसे अनरिच्छेद्य  
अम्पाकृत आदि है वह भी ओङ्कार  
ही है ॥ १ ॥



ओङ्कारवाच्य ब्रह्मस्य सर्वात्मकता

अभिधानाभिधेयपारेक्यवेऽप्य-  
भिधानप्राधान्यन निर्देशः कृतः ।  
आमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि ।

वाचक और वाच्यके अन्तर्भूत होने  
पर भी वाचककी प्रधानतासे ही ॐ  
यह अक्षर ही सब कुछ है-

अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य  
 पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्दिष्टा  
 ऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रति  
 पक्ष्यर्थः । इतरथा अभिधान  
 तन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरिष्यभिधे  
 यस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्क्या  
 स्यात् । एकत्वप्रतिपक्षे प्रबो  
 धनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव  
 प्रयत्नेन युगपत्प्रबिलापवस्तु  
 द्विलक्षण ब्रह्म प्रतिपद्यतेति ।  
 तथा च ब्रह्मवति “पादा मात्रा  
 मात्राश्च पादाः” (मा उ० ८)  
 इति । उदाह—

इत्यादि रूपसे निर्देश किया गया  
 है । वाचककी प्रधानतासे निर्दिष्ट  
 वस्तुका फिर वाच्यकी प्रधानतासे  
 किया हुआ निर्देश वाचक और  
 वाच्यका एकत्व प्रतिपादन करनेके  
 लिये है अन्यथा वाच्यकी प्रतिपत्ति  
 वाचकके अधीन होनेके कारण  
 वाच्यका वाचकरूप होना गौण  
 ही होगा—ऐसी आशंका हो सकती  
 है । किन्तु वाच्य ( ब्रह्म ) और  
 वाचक ( ब्रह्मकार ) की एकत्व-  
 प्रतिपत्तिकर तो यही प्रयोजन है कि  
 उन दोनोंको एक ही प्रयत्नसे एक  
 साथ जीन करके उनसे विकल्पण  
 ब्रह्मकी प्राप्त किया जाय । ऐसा ही  
 “पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही  
 पाद हैं” इस दुनिसे कहेंगे भी ।  
 अब वही बात कहते हैं—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा

चतुष्पात् ॥ २ ॥

यह सब ब्रह्म ही है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । यह यह आत्मा  
 चार पाने ( अंशों ) वाला है ॥ २ ॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म । सर्वं यदुक्तं  
 माह्वारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म । सर्वं  
 ब्रह्म पराशरामिहितं प्रत्यक्षता  
 विज्ञेयेन निर्दिष्टमि—अयमारमा

यह सब ब्रह्म ही है । क्योंकि यह  
 सब जो ब्रह्मकारमात्र कहा गया है,  
 ब्रह्म है । अबतक परीक्षारूपसे  
 बतलाये हुए उस ब्रह्मकी विशेषरूपसे  
 प्रात्यक्षतया ‘यह आत्मा ब्रह्म है’

अस्मेति । अयमिति चतुष्पात्त्वेन  
 प्रविमज्यमानं प्रत्यगात्मतथाभि  
 नयेन निर्दिशति—अयमात्मेति ।  
 सोऽयमात्मोङ्काराभिषेय परापर  
 स्त्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कापा  
 पणवन्न गौरिवेति । श्रयाणां  
 विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन  
 तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करण  
 साधन पादशब्दः । तुरीयस्य  
 पद्यत इति कर्मसाधनः पाद  
 शब्दः ॥ २ ॥

ऐसा कहकर निर्देश करते हैं । यहाँ  
 'अयम्' शब्दद्वारा चतुष्पात् रूपसे  
 विभक्त किये जानेवाले आत्माको अपने  
 अन्तरात्मस्वरूपसे अभिनय ( अगुच्छि-  
 निर्देश ) पूर्वक 'अयमात्मा अस्मि' ऐसा  
 कहकर बतलाते हैं । ओंकार नामसे  
 कहा जानेवाला तथा पर और अपर  
 रूपसे व्यवस्थित वह यह आत्मा  
 कर्मापणक समान चार पाद ( अक्षर )  
 वाला है, गैके समान नहीं । विश्व  
 वापि तीन पादोंमेंसे क्रमशः पूर्व पूत्र  
 का उच्य करते हुए अन्तमें तुरीयपदक्षपी  
 उपलब्धि होती है । अतः पहले  
 तीन पादोंमें 'पाद' शब्द करणवाच्य  
 है और तुरीयमें 'ओ प्राप्त क्तिया  
 नाय' इस प्रकार कर्मवाच्य है ॥ २ ॥

कथं चतुष्पात्स्थमिस्थाद्—

वह किन्तु प्रकार चार पादोंवाला  
 है सो बतलाते हैं—

आत्माश्च प्रथम पाद—वेदान्त

जागरितस्थानो वहिष्प्रज्ञ मत्ताङ्ग एकोन  
 विंशतिमुस्र स्थूलभुग्वैश्वानर प्रथम पाद ॥ ३ ॥

जाग्रत्-अवस्था जिस [ वी अभिप्यक्ति ] का स्थान है, जो वहि  
 प्रज्ञ ( बाय विद्योको प्रकाशित करमवाचा ) सात अद्रोशका, ठमीम  
 मुष्पोशका और स्थूल विषयोका भेदा है वह वैश्वानर कहलाता है ॥ ३ ॥

● किसी देश-विशेषमें प्रचलित निकटका नाम चतुरारण है । पर मातर  
 पत्रका होता है । किन्तु चार रूपमें चार कक्षों अथवा अंगों चार लीने जाने हैं  
 उनी प्रकार उक्तमें चार पाद मान गये हैं ।

आगरितं स्वानमस्येति  
 आगरितम्यानः । बहिष्प्रज्ञः  
 स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा  
 यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव  
 प्रज्ञाविद्याकृतावभासत इत्यर्थः ।  
 तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य इ वा  
 एतस्यात्मना वैश्वानरस्य मूर्ध्व  
 सुतत्राश्वत्थुर्विश्वरूपः प्राणः  
 पृथग्वात्मा सदोहो बहुलो  
 वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पदो"  
 ( छा० उ० ५।१८।२ ) इत्य  
 ग्निहाप्रकल्पनाश्लेषध्वेनाहवनीयो  
 ऽग्निरस्य मुखध्वेनोक्त इत्येव सप्त-  
 ङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः ।

तथैकानविंशतिर्गुत्वान्यस्य  
 पुद्गाद्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च  
 दश वायव्य प्राणादयः पञ्च  
 मनो पुद्गिरहृद्धारभित्तमिति  
 सुत्वानीव सुत्वानि तान्पुपलब्धि  
 द्वाराणीत्यर्थ, स एवविंशति  
 वैश्वानरो यथाक्तैर्द्वारैः पुद्गा-  
 दीन्स्पृलान्विषयाभ्यः इति  
 स्पृलमुक्त् । विन्धेपां नराणा-  
 मनेकधा नयनाईश्वानरः ।

नामस्य-अवस्था त्रिसक्तं स्वान  
 है उसे आगरितस्वाम कहते हैं ।  
 त्रिसक्ती अर्थात् त्रिसक्त प्रज्ञा  
 है उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं अर्थात्  
 त्रिसक्ती अविद्यावृत्त बुद्धि बाह्य  
 विषयोंसे सम्बन्ध-सी भासती है । इसी  
 प्रकार त्रिसक्त सात अङ्ग हैं अर्थात्  
 "इत उत वैश्वानर आत्माका पुच्छोक  
 स्तिरि ई, सूर्य नेत्र ई, वायु प्राण ई,  
 आकाश मध्यस्थान ( वेद ) ई, अम  
 ( अमक्य कारणरूप जल ) ही मुख-  
 स्थान ई और पृथिवी ही परण ई" इस  
 सुक्तिसे अनुसार अग्निहोत्रकल्पनामें  
 अङ्गमूत होनेके कारण अहवनीय  
 अग्नि उसके मुखरूपसे बतलाया  
 गया है । इस प्रकार त्रिसक्त सात  
 अङ्ग हैं उसे ही सप्ताङ्ग कहते हैं ।

तथा त्रिसक्ते तन्नीस मुख ई,  
 दश तो ज्ञानन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय,  
 पाँच प्राणाणि वायु तथा मन, बुद्धि,  
 अहङ्कार और चित्त—ये त्रिसक्ते  
 मुखके समान मुख अर्थात् उपलब्धि  
 के द्वार हैं, यह ऐसे विशेषणोंवाला  
 वैश्वानर उपर्युक्त द्वारोंसे शब्द आदि  
 स्थूल विषयोंको भोगता है इसलिये  
 यह स्थूलमुख ई । सम्पूर्ण तन्नीस  
 [ अनेक प्रकारकी योनियोंमें ] नवन  
 ( बहम ) परतक कारण यह ध्वेना  
 मर' कहसता है, अथवा यह निच

यदा विश्वमासौ नरश्चेति  
 विश्वानरः । विश्वानर एव  
 वैश्वानरः । सर्वपिण्डास्मानन्य  
 स्वात् स प्रथमः पादः ।  
 एतत्पूर्वकस्वादुचरपादाधिगमस्य  
 प्राथम्यमस्य ।

(समस्त) मरुत्प है इसलिये  
 विश्वानर है । विश्वानर ही [ स्वार्थमें  
 तद्विदित अणुप्रत्यय होनेसे ] वैश्वानर  
 कहलाता है । समस्त देहोंसे अभिन्न  
 होनेके कारण वही पञ्च पाद है ।  
 परवर्ती पादोंका ज्ञान पहले इसका  
 ज्ञान होनापर ही होता है, इसलिये  
 यह प्रथम है ।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्य-  
 गात्मनोऽस्य चतुष्पादेषु प्रकृते  
 ध्रुलोकादीनां सूर्याद्यङ्गत्वमिति ।

नैव दोषः । सर्वस्य प्रप  
 चस्य साभिदैवि  
 कस्त्वानेनात्मना

चतुष्पादस्य विवक्षितत्वात् ।  
 एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपश्रमे  
 ऽद्वैतसिद्धिः । सर्वभूतम्यमात्मको  
 दृष्टः स्यात् सर्वभूतानि चात्मनि ।  
 “यस्तु सखाणि भूतानि” ( ३० उ०  
 ६ ) इत्यादिभ्युत्पर्य उपसहृतश्चैव  
 स्यात् । अन्यथा हि स्वदेहपरि  
 ष्टिभ्य एव प्रत्यगात्मा सांख्या  
 दिभिरिव दृष्टः साक्षया च

सङ्गा—“अयमात्मा ब्रह्म” इस  
 धृत्तिके अनुसार यहाँ प्रत्यगणमात्रे  
 चार पादोंका ज्ञान बतलानका प्रसङ्ग  
 था । उसमें ध्रुवोकादिको उसके मूर्धा  
 आदि अङ्गरूपसे कैसे बतलान लगे ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं  
 है, क्योंकि इस आत्माके द्वारा ही  
 अधिदैवसहित सम्पूर्ण प्रपञ्चके चतु  
 ष्पात्त्वका प्रतिपादन करना इष्ट है ।  
 ऐसा होनेपर ही सारे प्रपञ्चके  
 नियमपूर्वक अद्वैतकी सिद्धि हो  
 सकेगी । समस्त भूमिमें स्थित एक  
 आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंका  
 साक्षात्कार हो सकेगा और इसी  
 प्रकार ‘जो सारे भूतोंको [ आत्मामें  
 ही देखता है ]’ इत्यादि धृत्तिके  
 अर्थका उपसंहार हो सकेगा । नहीं  
 तो सांख्यग्रन्थान आनिक समान  
 ज्ञान देखने परिच्छिन्न अन्तरात्माका  
 ही दर्शन होग्य । ऐसा होनेपर

सत्यद्वैतमिति सुविहता विज्ञेया

न स्यात्, सांख्यादिदर्शनेना-

विज्ञेयात् । इष्यते च सर्वोपनिषदां

सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम् । अतो

युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य विष्णो

त्मनो घुटाकाद्यङ्गत्वेन विराटा

त्मनाविद्वैतिकेनैकत्वमभिप्रत्य

सप्ताङ्गत्ववचनम् । “मूर्धा ते

व्यपतिष्यत्” (छा० उ० ५ ।

१२ । २ ( इत्यादितिङ्गदस्यनाच ।

विराजैकत्वमुपलक्ष्यार्थे हिरण्य

वभाष्वाकृतात्मनो । उक्तं चैत

न्मधुनाङ्गणे “वभायमस्यां पृथिव्यां

तेषामयोऽमृतमयः पुरुषो वभास्य

मध्यात्मम्” (बृ० उ० २ । ५ । १ )

इत्यादि । सुपुत्राध्याकृतयोस्त्वे

कत्वं सिद्धमेव निर्विशेषत्वात् ।

एव च सत्यतन्निर्द्धं भविष्यति

सर्वद्वैतोपशमं चाद्वैतमिति ॥३॥

‘अद्वैत इ’ इस श्रुतिप्रतिपादित

विशंभर मावकी सिद्धि नहीं होगी;

क्योंकि सांख्यादि दर्शनोकी अपेक्षा

इसमें कुछ विनाशता नहीं रहेगी ।

परन्तु सम्पूर्ण उपनिषदोको आत्माके

एकत्वका प्रतिपादन तो इष्ट ही है ।

इसलिये इस आध्यात्मिक विष्णो-  
का पुत्रोका आदिके लक्षणसे आधि-

दैविक विष्णोकाके साथ एकत्व

प्रतिपादन करनेका अभिप्रायसे उच-

का सप्ताङ्गत्व प्रतिपादन उचित ही

है । इसके सिवा [ आत्माकी व्यस्त्या

पासनाके निन्दक ] “शेरा शिर गिर

जाता” आदि वाक्य भी इसमें देते हैं ।

यहाँ जो विराट्के साथ एकत्व

प्रतिपादन किया है वह हिरण्यगर्भ

और अध्याकृतके एकत्वको उपलक्षित

करानके लिये है । मधुनाङ्गणमें ऐसा

कहा भी है—“यह जो इस पृथ्वीमें

तेजोमय एवं अमृतमय पुरुष है तथा

यह जो अध्यात्मपुरुष है [ वे दोनों

एक हैं ] ” इत्यादि । कोई विशेषता

न रहनेका कारण सोये हुए पुरुष

और अध्याकृतका एकत्व तो सिद्ध

ही है । ऐसा होनेपर ही यह सिद्ध

होगा कि सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति

होनेपर अद्वैत ही है ॥ ३ ॥

आत्माका द्वितीय पाद—तैजस

स्वप्नस्थानोऽन्त प्रज्ञ सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख  
प्रविविक्तमुक्ततैजसो द्वितीय पाद ॥ ४ ॥

स्वप्न त्रिसक स्वप्न है तथा जो अन्त प्रज्ञ, सात अङ्गोवाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म त्रिपोंका मोक्षा है वह तैजस [इसका] दूसरा पाद है ।

स्वप्नः स्वप्नमस्य तैजसस्य  
स्वप्नस्थानः । चाप्रत्यर्धानेक  
साधना षड्विपवेवाचभासमाना  
मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूत  
संस्कार मनसाधत् । तन्मनस्तथा  
संस्कृतं चित्रित इव पटा पाद्य  
साधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः  
पर्यमाण ज्ञानद्वयभासते । तथा  
चाक्तम्—“अस्य लाक्ष्म्य सवा  
वता माश्रामपादाय” ( पू०  
उ० ४ । ३ । ९ ) इति । तथा “परे  
दव मनस्येकीभवति” ( प्र०  
उ० ४ । २ ) इति प्रस्तुत्य  
“अत्रैप दव म्यन्न महिमानमनु  
भवति” ( प्र० उ० ४ । ५ )  
इत्यापर्वणे ।

स्वप्न इस तैजसका स्वप्न है  
इसजिये यह स्वप्नस्वप्नवाला [ कहा  
जाता ] है । अनेक साधनवती  
जाग्रत्कालीना बुद्धि मनका स्वरण-  
मात्र हानपर भी बाह्यविषय  
सम्बन्धिनो-भी प्रतीत होती इह  
मनमें वसा ही संस्कार उत्पन्न करती  
है । विप्रित बसक समान इस  
प्रकारके सम्बन्धोंसे पुक्त हुआ वह  
मन अविद्या, कर्मना और कर्मके  
कारण बाह्यसाधनकी अपेक्षाके बिना  
ही प्ररित बाहर आत्-सा  
भासुन लगता है । एसा ही  
कहा भी है—“इम सर्वसाधन  
संग्रह म्यक्य उत्पन्न प्रज्ञ करके  
[ स्वप्न दम्बना है ]’ इत्यादि । तथा  
आप्यवग भुविने भी [ समस्त इन्द्रियों ]  
‘परम ( इन्द्रियादिसे उत्पन्न ) देव  
( प्रकाशनातीत ) मनमें दृश्य हो  
जाती है” इस प्रकार प्रत्यावना कर  
कहा है “यज्ञो—सत्त्वामामे यह देव  
अग्नी महिमावत अनुमत्त वरदा है ।’



इन्द्रियापेक्षयाऽऽस्यस्वान्मन  
सस्तद्भासनरूपा च स्वप्ने प्रज्ञायस्ये-  
स्पन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां  
केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन  
भवतीति तैजस । विश्वस्य  
सविषयत्वेन प्रज्ञाया स्थूलाया  
भोज्यत्वम् । इह पुनः कबला  
वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति  
प्रविधिको भोग इति । समान  
मयत् । द्वितीयः पादस्तैजसः ॥४॥

अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन  
अधिक अन्त स्व है, सामान्यस्वामें  
जिसकी प्रज्ञा उस ( मन ) की  
वासनाके अनुरूप रहती है उसे  
अन्त प्रज्ञ कहते हैं, यह अपनी  
विषयशून्य और केवल प्रकाशस्वरूप  
प्रज्ञाका विषयी ( अनुभव करनेवाला )  
होनेके कारण 'तैजस' कहा जाता  
है । विश्व बाह्यविषययुक्त होता है,  
इसलिये आगरित अत्रस्वामें स्पृष्ट प्रज्ञा  
उसकी भोज्य है । किन्तु तैजसके लिये  
केवल वासनामात्र प्रज्ञा भोज्यमीपा है;  
इसलिये इसका भोग स्वप्न है । क्षेत्र  
वर्ष पहलेहीके समान है । यह  
तैजस ही दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबाध-  
लक्ष्यस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्  
सुषुप्तिप्रवृत्त्या यत्र सुप्त इत्यादि  
विशेषणम् । अथ वा त्रिष्वपि  
स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः  
स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाम्यां  
सुप्तं विभज्यते—

[ तत्त्वज्ञानका अभावस्वरूप ] स्वापा  
वस्थाके दर्शन ( जाग्रतस्थान ) और  
अदर्शन ( अज्ञस्थान ) इन दोनों ही  
वृत्तियोंमें समान होनेके कारण सुषुप्ति-  
अवस्थाकर [ उससे पृथक् ] महण  
करनेके लिये 'स्वप्न' सुप्त इत्यादि  
विशेषण दिये जाते हैं । अथवा तीनों  
ही अवस्थाओंमें तत्त्वका अज्ञानरूप  
निद्रा सम्पन्न ही है इसलिये पहले  
दो स्थानोंसे सुषुप्तिकर विभज्य  
करते हैं—

## आरमात्र तृतीय पाद—प्राज्ञ

यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते न कञ्चन  
स्वप्न पश्यति तत्सुपुप्तम् । सुपुप्तस्थान एकीभूत  
प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्वेतोमुख  
प्राज्ञस्तृतीय पाद ॥५॥

जिस अस्थामे सोय्य हुआ पुरुष किसी मोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई काम ही देखता है उसे सुपुप्ति कहते हैं । वह सुपुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकभूत प्रकृत ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही अनन्दमय, अनन्दकर भोक्ता और चेतनारूप मुक्तबाध है वह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥५॥

यत्र यस्मिन्स्थाने काले या  
सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति न  
कञ्चन काम कामयते । न हि  
सुपुप्ते पूर्वयारिवान्यथाग्रहणलक्षण  
स्वप्नदर्शनं कामो वा कञ्चन विद्यते ।  
तदेतत्सुपुप्त स्थानमस्यति  
सुपुप्तस्थानः ।

जहाँ यानी जिस स्थान अपना सम्यक् सोया हुआ पुरुष न कोई काम देखता और न किसी मोगकी ही इच्छा करता है, क्योंकि सुपुप्ता स्थामे पहली दोनों अस्थामोंके समान अल्पया ग्रहणरूप स्वप्नदर्शन अथवा किसी प्रकारकी कामना नहीं होती, वह यह सुपुप्त अस्थामे ही जिसका स्थान है उसे सुपुप्तस्थान कहते हैं ।

स्थानद्वयप्रविमक्त मनः स्पन्दितं  
द्रव्यवार्तं तथारूपापरित्या-  
गेनापिवैकापन्न नैश्वर्यमौघस्तमि-  
बाहःसप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते ।  
अत एव स्वप्नज्ञानमनःस्पन्दनानि

जिस प्रकार रात्रिके अन्धकारसे दिन आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों स्थानोंमें विभिन्न रूपसे प्रतीत होनेवाला मनका स्वरूप रूपद्रव्यसमूह [इस अस्थामे] प्रपञ्चक सहित बनने उस (विशिष्ट) स्वरूप पर त्याग न कर अज्ञानमे आच्छादित हो जाता है; इसलिये इसे 'एकीभूत'

प्रज्ञानानि धनीमृतानीव सेवमय  
 स्वाविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानधन  
 उच्यते । यथा रात्री नैक्षेन  
 तमसाविमन्यमान सर्वं धनमिव  
 तद्वत्प्रज्ञानधन एव । एषश्चब्दाश्च  
 आत्यन्तर प्रज्ञानव्यतिरेकणा-  
 स्तीत्यर्थः ।

मनसो विषयविषय्याकार  
 स्पन्दनायासदुःस्वामावादानन्द  
 मय आनन्दप्रायो नानन्द एव ।  
 अनात्यन्तिकत्वात् । यथा लाके  
 निरायासस्वितः सुस्थानन्द  
 शृणुष्यते, अत्यन्तानायासरूपा  
 हीर्यं स्थितिरतेनानुभूयत इत्या-  
 नन्दसुख, "एषोऽस्य परम  
 आनन्दः" ( ५० उ० ४ । ३ ।  
 ३२ ) इति श्रुतेः ।

ऐसा कहा जाता है । जब जिस  
 अवस्थामें स्रग् और जाग्रत्—ये मनके  
 स्वरुणरूप प्रज्ञान धनीमृत-से हो  
 जाते हैं, वह यह अवस्था अविवेक-  
 रूपा होनेके कारण प्रज्ञानधन कही  
 जाती है । जिस प्रकार रात्रिमें  
 रात्रिके अन्धकारसे वृषभककी प्रतीति  
 न होनेके कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च  
 धनीमृत-सा जान पड़ता है उसी  
 प्रकार यह प्रज्ञानधन ही है । एष  
 शब्दसे यह तात्पर्य है कि उस  
 सम्य प्रज्ञानके सिवा कोई अन्य  
 जाति नहीं रहती ।

मनका जो विषय और विषयी-  
 रूपमें स्फुरित होनेके अन्तर्गत  
 दुःख है उसका अभाव होमक  
 कारण यह आनन्दमय अर्थात्  
 आनन्दवद्बुद्ध है, केवल आनन्दभाव  
 ही नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें  
 आनन्दकी अत्यन्तिकता नहीं है  
 जिस प्रकार ओकमें अनायासरूपसे  
 स्वित पुरुष सुखी या आनन्द भोग  
 करनेवाला कहा जाता है, उसी  
 प्रकार, क्योंकि इस अवस्थामें यह  
 आत्मा इस अत्यन्त अनायासरूपा  
 स्थितिकर अनुभव करता है, इसलिये  
 यह आनन्दमुक्त् कहा जाता है;  
 जैसा कि 'एष इत्यत्र परम आनन्द  
 है इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति  
 इरीभूतत्वाच्चेतोमुख । बोध-  
 लक्षण वा चेतो द्वारं मुखमस्य  
 स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः ।  
 भूतमविष्यन्त्वात्त्वं सर्वविषय  
 ज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः । सुप्तोऽपि  
 हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते ।  
 अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासा-  
 धारण्य रूपमिति प्राज्ञः, इतरयो-  
 र्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति । सोऽयं  
 प्राज्ञस्त्वृतीयः पादः ॥ ५ ॥

सामादिज्ञानरूप चेतनाके प्रति  
 द्वारस्वरूप होनेके कारण यह  
 चेतोमुख है । अथवा सामादिकी  
 प्राप्तिके लिये ज्ञानस्वरूप चित्त ही  
 इसका द्वार यानी मुख है, इसलिये  
 यह चेतोमुख है । मृत-मविष्यत्का  
 तथा सम्पूर्ण त्रियोंका ज्ञाना यही  
 है, इसलिये यह प्राज्ञ है ।  
 सुप्त होनेपर भी इसे मृतपूर्वगतिसे  
 'प्राज्ञ' कहा जाता है । अथवा  
 केवल प्रज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र इसीका  
 असाधारणरूप है, इसलिये यह  
 प्राज्ञ है, क्योंकि दूसरोंके ( विषय  
 और तीक्ष्णसुप्तके ) तो विशिष्ट विज्ञान  
 भी होता है । यह यह प्राज्ञ ही  
 तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

### प्राज्ञक सत्त्वरणत्व

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि  
 सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त  
 जीवोंकी उत्पत्ति तथा अन्तर्गत स्थापन होनेके कारण यह सबका कारण  
 भी है ॥ ६ ॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः  
 साधिदैविकस्य मेदजातस्य सर्वस्ये  
 शिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतो-  
 ऽन्येषामिव । "प्राणबन्धनं-हि

अग्ने स्वरूपमें स्थित यह ( प्राज्ञ )  
 ही सर्वेश्वर है, अर्थात् अधिदैविकके  
 सहित सम्पूर्ण मेदसमूहका ईश्वर—  
 ईशान ( शासन ) करनेवाला है ।  
 हे साम्य । यह मन (जीव) प्राण

सोम्य मनः" (छा० उ० ६।८।

२) इति भ्रुतेः । अयमेव हि सर्वस्य-

सर्वभेदावस्यो ज्ञातेत्येव सर्वज्ञः ।

एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां

भूतानां नियन्ताप्येव एव । अत

एव यथोक्तं समेदं जगत्प्रसूयत

इत्येव मानिः सर्वस्य । यत एव

प्रमवाप्याप्ययम् प्रमवाप्ययौ हि

भूतानामेव एव ॥ ६

(प्राणसंज्ञक ब्रह्म) रूप बन्धनवाच्य

है" इस धृतिसे अन्य मतावलम्बियों-

क सिद्धान्तानुसार [ सर्वज्ञ परमेस्वर ]

इस प्राणसे कोई विचलनीय पदार्थ

नहीं है । सम्पूर्ण मन्त्रे स्थित हुआ

यही सबका स्रष्टा है; इसलिये

यह सर्वज्ञ है । [ अतएव ] यह

अन्तर्यामी है अर्थात् समस्त प्राणियों-

के भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका

नियमन करनेवाला भी यही है ।

इसीसे पूर्वोक्त भेदके सहित स्रष्टा

जगत् उत्पन्न होता है इसलिये यही

सबका कारण है । क्योंकि ऐसा है

इसलिये यही समस्त प्राणियोंका

उत्पत्ति और स्थान भी है ॥ ६ ॥

एक ही आत्माके तीन भेद

अत्रैते लक्ष्येण भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

अत्रैतस्मिन् यथोक्तेऽर्थे एते  
श्लोका भवन्ति—

यहाँ इस पूर्वोक्त अर्थमें ये श्लोक  
हैं—

अहिप्रज्ञो विमुर्विधो अन्तःप्रज्ञस्तु तैजस ।

अन्तःप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥ १ ॥

विमुर्विध अहिप्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है तथा प्राज्ञ अन्तःप्रज्ञ (प्रज्ञानात्मनः)  
है । इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकारसे कहा जाता है ॥ १ ॥

अहिप्रज्ञ इति । पर्यायिण्य | अहिप्रज्ञ इत्यादि । इस श्लोकका  
त्रिस्वान्वात्सोऽहमिति स्मृत्या | तात्पर्य यह है कि क्रमशः तीन

प्रतिसन्धानाच्च स्थानत्रयस्यतिरि

क्तस्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्व च

सिद्धमित्यभिप्राय । महामत्स्वादि-

दृष्टान्तभूतेः ॥ १ ॥

स्थानोंवाद्या होनेमें और 'मैं कहीं हूँ'  
इस प्रकारकी सृष्टिद्वारा अनुसन्धान  
क्रिया जानेके कारण आत्माका तीनों  
स्थानोंसे पृथक्त्व, एकत्व, शुद्धत्व  
और असङ्गत्व सिद्ध होता है, जैसा  
कि महामत्स्वदि दृष्टान्तका वर्णन  
करनेवाली श्रुति \* कस्तव्यती है ॥१॥

### विश्वदिके विभिन्न स्थान

बागरितावस्थायामेव विश्वा-  
दीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽ-  
यं श्लोक —

जाग्रत्-अवस्थामें ही विश्व आदि  
तीनोंका अनुभव दिखानेके लिये  
यह श्लोक कहा जाता है—

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजस ।

आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थित ॥ २ ॥

दक्षिणनेत्ररूप हारमें विश्व रहता है, तैजस मनके भीतर रहता है,  
प्राज्ञ हृत्पाकशरमें उपलब्ध होता है । इस प्रकार यह [ एक ही आत्मा ]  
शरीरमें तीन प्रकारसे स्थित है ॥ २ ॥

दक्षिणामस्येव मुखं तस्मिन्  
प्राज्ञान्येन द्रष्टा स्पृष्टानां विश्वा-  
ऽनुभूयते । “इधो इ वै नामैष

दक्षिण नेत्र ही मुख ( उपलब्धि  
का स्थान ) है; उसीमें प्रधानतासे  
स्पृष्ट पदार्थोंके साक्षी विश्वका  
अनुभव होता है । यह जो दक्षिण

\* जिस प्रकार किसी नदीमें खनेवाला कोई बलवान् मत्स्य उछके प्रकारसे  
विचलित न होकर उछके दोनों तटोंपर आता-जता रहता है। किन्तु उन  
तटोंसे पृथक् होनेके कारण उनके गुण-दोषोंसे मुक्त नहीं होता तथा जिस प्रकार  
कोई बड़ा पक्षी आकाशमें स्वच्छन्दगतिसे उड़ता रहता है उसी प्रकार स्वप्न  
और जाग्रत् दोनों स्थानोंमें सदा रहनेवाला आत्मा एक अलग और शुद्ध है  
ऐसा मानना उचित ही है । ( देखिये इ उ ४।१।१८१९ )

याज्य दक्षिणेष्वन्पुरुषः' ( षृ०  
उ० ४ । २ । २ ) इति श्रुतेः ।  
इषो दीप्तिगुणो वैश्वानरः ।  
आदित्यान्तर्गता वैराज आत्मा  
चक्षुषि च द्रष्टृकः ।

नन्वन्यो हिरण्यगर्भ क्षत्रधा  
दक्षिणेष्वप्यहोर्निबन्ता द्रष्टा  
धान्या देहस्वामी ।

न, स्वता मेदानम्युपगमात् ।  
“एका इवः सर्वभूतेषु गृह ”  
( श्वे उ० ६ । ११ ) इति  
श्रुतेः । “क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि  
सर्वक्षेत्रेषु भारत” ( गीता १३ ।  
० ) ‘अविमक्तं च भूतेषु विमक्त-  
मिष च स्थितम्’ ( गीता १३ ।  
१६ ) इति स्मृतेः । सर्वेषु करणे  
ष्वनिशेषेऽपि दक्षिणाद्यप्युप  
लम्बिपाटवदर्शनाच्चत्र विज्ञेयण  
निर्देशो विधाय ।

दक्षिणाक्षिगती रूपं दृष्ट्वा नि  
मीलिताद्यस्तत्क्षेप करन्मनसन्तः

नेत्रमे स्थित पुरुष इ ‘इन्धं’ नामसे  
प्रसिद्ध है” इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित  
होता है । दीप्तिगुणविशिष्ट वैश्वानरको  
‘इन्ध’ कहते हैं । आदित्यान्तर्गत  
वैराजसंज्ञक अण्मा और नेत्रमे स्थित  
साक्षी—ये दोनों एक ही हैं ।

सङ्गा—हिरण्यगर्भ अन्य है तथा  
दक्षिण नेत्रमे स्थित नेत्रप्रियका  
नियन्ता और साक्षी देहका स्वामी  
क्षेत्रज्ञ अन्य है । [ उन दोनोंकी  
एकता कैसे हो सकती है ? ]

समाधान—जहाँ [ ऐसी बात  
मही है ], क्योंकि उमका सामाजिक  
मेद नहीं माना गया, क्योंकि  
“सम्पूर्ण मूलमे एक ही देव छिया  
इया है” इस श्रुतिसे तथा ‘हे भारत !  
समस्त क्षेत्रमे क्षेत्रज्ञ मुस ही जान’  
“[ यह कतुत ] विमक्त न होकर  
मी विमक्तके समान स्थित है” इत्यादि  
स्पृतिसे भी [ यही कत सिद्ध  
होती है ] । सम्पूर्ण इन्द्रियमे समान  
रूपसे स्थित होनेपर भी दक्षिण  
नेत्रमे उसकी उपलब्धिही स्पष्टता  
देखनेसे यही विचकन विशेषरूपसे  
निर्देश किन्त्र जाता है ।

दक्षिणनेत्रस्थित जीवात्मा रूप  
को देखकर फिर नेत्र मूँद मममे

१ जो जागरित अवस्थामे स्थूल पदाबोज्य मोक्षा होनेके कारण इह—हीत  
होता है ।

स्वप्न इव तदेव वासनारूपामि-  
व्यक्तं पश्यति । यथात्र तथा  
स्वप्नं । अतो मनस्वन्तस्तु तेष्वसो-  
ऽपि विश्व एव ।

उसीका स्मरण करवा हुआ वासना-  
रूपमे वभिन्मय उसी रूपका स्वप्नमें  
उपलब्धकी तरह दर्शन करता है ।  
बिस प्रकार इस अवस्थामें होता है,  
ठीक वैसा ही स्वप्नमें होता है ।  
[ इसलिये यह ज्ञातमें सम ही है ]  
यद्यपि मनके भीतर स्थित तैजस भी  
विश्व ही है ।

आकाशे च हृदि स्मरणारूप्य  
व्यापारोपरमे प्राण एकीभूतो  
बनप्रह एव मयति; मनोव्यापा-  
रामावात् । दर्शनस्मरणे एव हि  
मनःस्पन्दितः तदमात्रे हृदयवा-  
विश्लेषेण प्राणात्मनाभस्यानम् ।  
“प्राणो ह्यैतान्सर्वान्तं ब्रह्मके”  
(छा० उ० ४।३।३) इति श्रुतं  
तैजसो हिरण्यगर्भो मन  
स्पत्वात् । “तिष्ठ मनः” ( पू०  
उ० ४।४।६ ) । “मनोमयोऽयं  
पुरुषः” ( पू० उ० ५।६।१ )  
इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

तथा स्मरणरूप व्यापारके निहित  
हो जानेपर हृदयाकरशामें स्थित प्राण  
मनोव्यापारका अभाव हो जानेके  
कारण एकीभूत और बनप्रह ही  
हो जाता है । दर्शन और स्मरण ही  
मनके स्मरण हैं, उनका अभाव  
हो जानेपर जो अतीतका हृदयके  
भीतर ही निहित प्रणयरूपसे स्थित  
होना है [ यही ज्ञातमें श्रुति है ] ।  
“प्राण ही इन सबको अपनेमें ही  
कर लेता है” इस श्रुतिसे यही  
प्रमाणित होता है । मन स्थित  
होनेके कारण तैजस ही हिरण्यगर्भ  
है ।\* “[ सप्रह लक्ष्यत्वात् ]  
छिद्ररूप मन” “यह पुरुष  
मानस्य है” इत्यादि श्रुतियोंसे भी  
[ तैजस और हिरण्यगर्भकी एकता  
सिद्ध होती है ] ।

\* क्योंकि तैजसही उपाधि स्थिति मन है और हिरण्यगर्भकी अवधि मन तथा  
उपाधि-स्थिति का परस्पर अभाव है ।

१ यही हिरण्यगर्भकी ही ‘पुरुष’ कहा गया है ।



ननु व्याकृतः प्राण सुषुप्ते ।

सदात्मकानि करणानि भवन्ति ।

कथमन्याकृतता ?

नैव दोष, अन्याकृतस्य

शुभ्रौ दक्षकालविशेषामा  
प्राणनाम्ना सात् । यद्यपि प्राणा-  
न्याकृतस्य मिमाने सति व्या-

कृततैव प्राणस्य तथापि पिण्ड

परिच्छिन्नविशेषामिमाननिराधः

प्राणे मन्वतीत्यन्याकृत एव प्राणः

सुषुप्ते परिच्छिन्नमिमानवताम् ।

यथा प्राणतय परिच्छिन्ना

मिमानिनां प्राणाऽन्याकृतस्तथा

प्राणामिमानिनाऽप्यपिन्नपापसाव

प्याकृतता समाना प्रसवबीजा म

ध्वं च सदप्यद्यैवऽन्याकृता-

सङ्घ-सुषुप्तिमें मी प्राण तो  
व्याकृत ( विशेषमावापन ) ही होता  
है। तथा [ 'प्राणो बोधैतान्सर्वांसङ्घ-  
इत्ये' इस श्रुतिके अनुसार ] इन्द्रियों  
मी प्राणरूप ही हो जाती हैं। फिर  
उसकी अन्याकृतता कैसे कही गयी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं  
है, क्योंकि अन्याकृत पदार्थमें देश  
का अल्प विशेष मन्वत् अभाव होता  
है। यद्यपि [ जैसा कि स्वप्नास्थामें  
होता है ] प्राणका अभिमान रहते हुए  
तो उसकी व्याकृतता ही ही तथापि  
सुषुप्तास्थामें प्राणमें पिण्डपरिच्छिन्न  
विशेषका अभिमान [ अर्थात् यह  
मरे शरीरसे परिच्छिन्न प्राण है—  
एसा अभिमान ] नहीं रहता, वन  
परिच्छिन्नदहामिमानियोंके लिये भी  
उस समय वह अन्याकृत ही है।

जिस प्रकार प्राणका स्व [ अर्थात्  
मृत्यु ] क्षान्तर परिच्छिन्न देह-  
मिमानियोंका प्राण अन्याकृतरूपमें  
रहता है उसी प्रकार प्राणमिमानियों  
का भी प्राणकी अविशेषता प्रसव  
क्षान्तर उत्सर्ग अन्याकृतता और  
प्रसवबीजरूपता वैसी ही है। वन  
[ अन्याकृत और छान्ति ] इन दोनों

वस्य । परिच्छिन्नामिमानिना-  
मभ्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति  
पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञान  
वन इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्नुक्त-  
हेतुत्वात् ।

कथं प्राणशब्दस्वमव्याकृतस्य ।

“प्राणश्च न हि सोम्य मन ”  
(छ० उ० ६।८।२) इति श्रुत ।

ननु तत्र “सदेव साम्य”  
(छ० उ० ६।२।१) इति  
प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम् ।

नैव दोषः, बीजात्मकत्वाम्यु-  
पगमात्सतः । यद्यपि  
बीजात्मक- सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्य  
नत्वत् तत्र तथापि बीजप्रसव  
बीजात्मकत्वमपरित्य  
न्यैव प्राणशब्दत्व सतः स्पष्टशब्द  
वाच्यता च । यदि हि निर्बीजरूप  
विबधितं ब्रह्मविध्यत् “नेति

व्यवस्थाओंकर साक्षी भी अन्याहृत  
व्यवस्थामें रहनेवाला एक ही [ चेतन  
आत्मा ] है । परिच्छिन्न देहके  
अभिमानी और उनके साक्षियोंकी  
उसके साथ एकता है, अतः [ प्राणक  
छिये ] ‘एकीभूत प्रज्ञानवन’ आदि  
पूर्वोक्त विशेषण उक्ति ही है,  
विशेषतः इसछिये भी, क्योंकि इसमें  
[ अविदैव, अन्याहृत और अप्यात्म  
प्राणकी एकरूप ] उपर्युक्त हेतु  
भी विद्यमान है ।

सद्ब्रह्म—किन्तु अन्याहृत ‘प्राण’  
शब्दवाच्य कैसे हुआ ?

समाधान—“हे सोम्य । मन  
प्राणक ही अवीन है” इस श्रुतिक  
अनुसार ।

सद्ब्रह्म—किन्तु क्यों तो “सदेव  
सोम्य” इस श्रुतिक अनुसार प्रसङ्ग-  
प्राप्त सद्ब्रह्म ही ‘प्राण’ शब्दक  
वाच्य है ।

समाधान—क्यों यह दोष नहीं  
हो सकता, क्योंकि [ उस प्रसङ्गमें ]  
सद्ब्रह्मकी बीजात्मकता स्वीकार की  
है । यद्यपि वहाँ ‘प्राण’ शब्दक  
वाच्य सद्ब्रह्म है तथापि बीजोंकी  
उत्पत्तिकी बीजात्मकताकर त्याग  
न करते हुए ही उस सद्ब्रह्ममें  
प्राणशब्दत्व और ‘सत्’ शब्दक  
वाच्यत्व माना गया है । यदि वहाँ

नेति" (बृ० उ० ४।४।२।२,  
४।५।१५) "यतो वाक्ते  
निवर्तन्ते" (तै० उ० २।९)  
"अन्यद्वा वद्विदितादधो अवि  
दितात्" (क० उ० १।३)  
इत्यथ इत्यथ "न सत्त्वसातदुच्यते"  
(गीता १३।१२) इति सूत्रेः।

निर्बीजतयैव चेत्सति बीजानां

सुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानु

पपत्तिः स्यात् । मुक्तानां च

पुनरुत्थतिप्रसङ्गः, बीजामावा

विशेषात् । ज्ञानदास्यपीडामात्रे च

ज्ञानान्तर्भवप्रसङ्गः। तस्मात्सुषुप्त-

स्वाम्युपगमेनैव सतः प्राणत्व-

व्यपदेशः सर्षभुतिषु च अरन्तव

व्यपदेशः ।

'सत्' सम्प्रति निर्बीजतयैव कहना  
इष्ट हो तो उसे "यह नहीं है,  
यह नहीं है" "बर्होति वाणी लीट  
जाती है" "बह विदिनसे अन्य है  
और अविदितसे भी ऊपर है"  
इत्यादि प्रकारसे कहा जायगा, वैसे  
कि "यह न सत् कहा जाता है और  
न असत्" इस स्थितिसे भी सिद्ध  
होगे हैं ।

और यदि बर्हो [ 'सत्'  
सम्प्रति ] ब्रह्मण निर्बीजरूपसे  
ही निर्देश करना इष्ट हो तो सुप्त  
और प्रलय (मरण) अवस्थामें सत्में  
बीज हुए पुरुषोंका फिर उठना [ अर्थात्  
उत्पन्न होना ] सम्भव नहीं होगा तथा  
मुक्त पुरुषोंके पुन उत्पन्न होनेका  
प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा, क्योंकि  
[ मुक्त और सत्में बीज हुए पुरुषोंमें ]  
बीजकारक अभाव समान ही है ।  
अथ ज्ञानसे दूरे होनेवाले बीजकार  
अभाव होनेपर ज्ञानकी स्पर्शताका  
भी प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । अतः  
सुप्तज्ञानकी सुषुप्तावस्था बीजकार  
की उक्तका प्राणरूपसे समस्त भुक्तियोंमें  
कारणरूपसे उल्लेख किया गया है ।

• क्योंकि निर्बीज तयैव बीज हुए मुक्तोंका पुनर्जन्म माना नहीं गया  
और यदि उक्त अवस्थामें भी पुनर्जन्म बीजकार किना जान तो मुक्ति हो अनेके बाद  
भी पुनर्जन्म मानना पड़ेगा ।

अत एव "अक्षरात्परतः पर" (सु० उ० २।१।२)।  
 "सब्रह्माम्यन्तरो ब्रह्मः" (सु० उ० २।१।२)। "यतो वाचा निवर्तन्ते" (तै० उ० २।९)। "नेति नेति" (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिना बीज-वस्थापनयनेन व्यपदेशः।  
 तामबीजावस्थां तस्यैव ब्राह्मणशब्द-वाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसबन्ध-आग्रदादिरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति। बीजावस्थापि न किञ्चिद्वेदिपमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनादेहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यपस्थित इत्युच्यते।२।

इतीलिये "बह पर अक्षरसे भी पर है" "बह बाह्य (कार्य) और अम्यन्तर (कारण) के सहित [उनका अधिष्ठान होनेके कारण] अजन्मा है" "अहाँसे बाणी छोट जाती है" "प्यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि मुनियोंद्वारा शुद्ध ब्रह्मका निर्देश बीजवत्पत्र निरास करके ही किया गया है। उस 'ब्राह्म' शब्दवाच्य जीवकी, देहादिसम्बन्ध तथा जाग्रत् आदि अवस्थासे रहित, उस पारमार्थिकी अबीजावस्थाका तुरीयरूपसे अलग वर्णन करेंगे। बीजावस्थामें भी जाग्रत् होनेपर 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा' ऐसी प्रतीति देखनेसे शरीरमें अनुभव होता ही है। इसीसे बह देहमें तीन प्रकारसे स्थित है' ऐसा कहा गया है ॥२॥

### त्रिधा विद्युः त्रिविध भोग

विश्वो हि स्थूलमुष्णित्य तैजस प्रथिविक्तमुक् ।

आनन्दमुक्त्या प्राञ्जस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥

विश्व सर्वदा स्थूल पदार्थोंको ही भोगनेवाला है, तैजस सूक्ष्म पदार्थों का भोग है तथा प्राञ्ज आनन्दको भोगनेवाला है; इस प्रकार इनका तीन तरहका भोग जानो ॥ ३ ॥

स्थूल तर्पयते विश्वं प्रथिविक्त तु तैजसम् ।

आनन्दम् तथा प्राञ्ज त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥ ३ ॥

स्थूल पदार्थ विषयके वृत्त करता है, सूक्ष्म तैजसकी वृत्ति करने  
वाला है तथा आनन्द प्राणकी, इस प्रकार इनकी वृत्ति भी तीन तरहकी  
समझो ॥ ४ ॥

उक्तार्थो ष्लोकौ ॥ ३-४ ॥ | इन दोनों श्लोकोंका अर्थ कहा  
जा चुका है ॥ ३ ॥

त्रिविध भोक्तृ और भोग्यके ज्ञानका फल

त्रिषु धामसु यद्भोज्य भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।

वेदैतदुभय यस्तु स मुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

[ आप्त, ज्ञान और सुख—इन ] तीनों स्थानोंमें जो भोज्य और  
भोक्तृ बतलाये गये हैं—इन दोनोंको जो जानता है, वह [ भोग्यको ]  
भोगते हुए भी उनसे छिन्न नहीं होता ॥ ५ ॥

त्रिषु धामसु चाप्रदादिषु

स्थूलप्रविषिक्तानन्दास्वप्नं भोज्य-

मकं त्रिधामृतम् । यश्च विश्व-

तैजसप्राणारूपो भोक्तृकः सोऽह-

मित्येकरूपेण प्रतिसन्धानात्सुप्ति-

त्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः; यो वेदै-

तदुभयं भोज्यभोक्तृत्वयानेकत्वा-

मिन्न स मुञ्जानो न लिप्यते;

भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तृ-

भोज्यत्वात् । न हि यस्य या त्रिपयः

आप्त आदि तीन स्थानोंमें जो  
स्थूल, सूक्ष्म और आनन्दसंज्ञक तीन  
भेदोंमें बँटा हुआ एक ही भोज्य है  
और 'वह मैं हूँ' इस प्रकार एकरूपसे  
अनुसन्धान किये जाने तथा दृष्ट्युत्पत्ति  
कोई विशेषता न होनेके कारण  
विश्व, तैजस और प्राणनामक जो  
एक ही भोक्तृ बतलाया गया है—  
इस प्रकार भोज्य और भोक्तृरूपसे  
अनेक प्रकार त्रिविध हुए इन दोनों  
( भोक्तृ और भोग्यको जो जानता  
है वह भोगता हुआ भी छिन्न नहीं  
होता, क्योंकि समस्त भोज्य एक ही  
भोक्तृका भोग है । जैसे अग्नि अपने  
दिय कण्ठदिको जलाकर [ ग्युना  
धिक नहीं होता । अपने स्वरूपमें

स तेन हीयते वर्धते वा, न  
 क्षमि स्वविपर्यं दग्ध्वा कण्ठादि  
 तद्वत् ॥ ५ ॥

सदा समान रहता है ] उसी प्रकार  
 त्रिसुक्त जो विरय होता है वह उस  
 विरयके कारण हास अथवा बुद्धिके  
 प्राप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

प्राण ही सबकी मूर्ति करता है

प्रभव सर्वभावाना सतामिति त्रिनिभय ।

सव जनयति प्राणश्चेतोऽणून्पुरुष पृथक् ॥ ६ ॥

यह सुनिश्चित बात है कि जो पदार्थ विद्यमान है उसी  
 सबकी उत्पत्ति हुआ करता है । बीजात्मक प्राण ही सबकी उत्पत्ति  
 करता है और वेदान्तमय पुरुष वेदान्तके आभासमूल जीवोंके अलग-  
 अलग प्रकट करता है ॥ ६ ॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्या  
 कृतनामरूपमायास्वरूपण सूर्य  
 भागानां विद्यतेऽसप्राज्ञमदानां  
 प्रमय उत्पत्ति । कस्यपि च—  
 “वक्ष्यापुत्रा न तत्त्वेन मायया  
 वापि ज्ञापत इति । यत्किं  
 प्रमतामथ जम स्याद्दृष्टणा  
 ज्ञ्यरदार्यस्य प्रहणदारामाराद्  
 मयप्रमद् । एष रज्जुमपादी  
 नामविद्यादृशमापार्श्वान्यप्रानां  
 रज्ज्यापामना सश्वम् । न हि  
 निगम्यदा रज्जुमपमृगान्नि  
 कादय वक्षिषुपन्म्यन्त

सत् अथात् जन अविद्यारूढ  
 नामरूपमायक मायिक स्वरूपमे  
 विद्यमान विद्य नैकस और प्रज्ञ  
 भेदरत समूह पदार्थोंकी उत्पत्ति  
 हुआ करती है । आग (प्र० ३ व०  
 २/३) का कहेंगे कीं “कस्यपुत्र  
 न तो बहुत और न माया ही उत्पन्न  
 होता है ।” यत्किं असत् ( कस्यमे  
 अविद्यमान ) पदार्थोंकी ही उत्पत्ति  
 हुआ करती तो अविद्यारूप प्रकृत  
 प्राण कस्यके वक्ष्ये न रज्जुम  
 उभयों असत्कार प्रमद् उन्मि  
 ता जग । अविद्यारूप कस्यमे  
 ईश्वरो उत्पन्न हुए रज्जुमपमृगोंकी ही  
 का उन्मिषुपन्म्यन्त

केनचित् । यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्प-  
सन्नेवासीत्, एवं सर्वमात्मा  
नाम्नुत्पत्ते प्राक्स्राणबीजात्मनैव  
सत्त्वम् । इत्यतः श्रुतिरपि भक्ति-  
“अद्यैवेदम्” (सु० उ० २।२।११)  
“आत्मेवैवेदमग्र आसीत्” (सु० उ०  
१।४।१) इति ।

सर्वं जनयति प्राणश्चेतो  
ऽशूनंश्रय इव रवेर्बिदात्मकस्य  
पुरुषस्य चेतोरूपा बलार्कसमाः  
प्राणतैजसविश्वमेदेन देवतिर्भ  
गादिदेहमेवपु विमान्यमाना-  
श्चेतोऽश्रयोयेतान्पुरुषःपृथग्भिषय-  
माम्बविलक्षणानधिबिस्फुलिङ्गवत्  
सलक्षणाञ्जलाकंबच्च बीबलक्षणां-  
स्त्वितरान् सर्वमावान् प्राणो  
बीजात्मा जनयति “यथोर्ष  
नामि” (सु० उ० १।१।७) “यथा-  
ग्नेः शुद्राविस्फुलिङ्गाः” (सु० उ०  
२।१।२०) इत्यादिश्रुते ॥६॥

किन्ती भी पुरुषने निराश्रय रज्जुसर्प  
अथवा भृगुत्पत्त्या आदि कमी नहीं  
देखे । जिस प्रकार सर्पकी उत्पत्तिसे  
पूर्व वह रज्जुमें रज्जुरूपसे सत् ही  
था उसी प्रकार समस्त पदार्थ अपनी  
उत्पत्तिसे पूर्व प्राणव्यक्त बीजरूपसे  
सत् ही थे । इसीसे श्रुति भी कहती  
है—“यह मूल ही है” “यहल यह  
आत्मा ही था” इत्यादि ।

सब पदार्थोंको [ बीजरूप ] प्राण  
ही उत्पन्न करता है । तथा जो  
जन्ममें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान  
देव, मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न  
शरीरोंमें प्राण, तैजस एवं विश्वरूपसे  
मासमान विदात्मक पुरुषके  
किरणरूप चिदाग्रस्य हैं, उन  
विन्दयमाकसे किञ्छण तथा अग्निकी  
चिनाग्री और जन्ममें प्रतिबिम्बित  
सूर्यके समान सत्रातीय जीवोंको  
पुरुष कल्या ही उत्पन्न करता है ।  
उमके सिवा अन्य समस्त पदार्थों  
को बीजात्मक प्राण उत्पन्न करता है,  
जैसा कि “जिस प्रकार मकड़ी  
[ जाण बन्यती है ]” तथा “जैसे  
अग्निसे छेटी-छानी चिनागरीयों  
निकलती हैं” इत्यादि श्रुतियोंसे  
सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

सृष्टिके विषयमें विष-विष विकल्प

विमूर्ति प्रसव त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तका ।

स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

सृष्टिके विषयमें विषार करनेवाले दूसरे लोग भगवान्की विमूर्तिको ही जगत्की उत्पत्ति मानते हैं तथा दूसरे लोगोंद्वारा यह सृष्टि स्वप्न और मायाके समान मानी गयी है ॥ ७ ॥

विमूर्तिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टि

रिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न

तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादा

इत्यर्थ । “इन्द्रो मायामिः पुरुरूप

इयत्” ( ऋ० उ० २।५।१९)

इति श्रुतेः । न हि मायाविनं

स्रष्टुमाकाशे निधिष्य तेन

सस्युषमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य

शुद्धेन स्वप्नश्चिच्छन्नं पतितं

पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृत

मायादिसत्त्वचिन्तायामादरो

भवति । तथैवायं मायाविनः स्रष्टु

प्रसारणसम सुप्तसखमादिविका-

सस्तदारूढमायाविसमथ तस्यः

यह सृष्टि ईश्वरकी विमूर्ति यानी उसका विस्तार है—ऐसा सृष्टिके

विषयमें विषार करनेवाले लोग मानते हैं । तात्पर्य यह है कि परमार्थ-

चिन्तन करनेवालोंके सृष्टिके विषयमें आदर नहीं होता, जैसा कि “इन्द्र

( परमात्मा ) मायासे अनेक रूपबद्ध

हो जाता है इस श्रुतिसे सिद्ध

होता है, [ केवल बहिर्मुख पुरुष ही उसकी उत्पत्तिके विषयमें तरह

तरहकी कल्पना किया करते हैं ] । आकाशमें सूत फँककर उसपर

शास्त्रोसहित आरूढ़ हो नेत्रेन्द्रियकी

पहुँचसे परे जाकर शुद्धसे द्वारा अनेकों

दृक्दोमें विभक्त होकर गिरे हुए मायावीको पुन उठता देखने-

वाले पुरुषोंको उसकी रक्षा हुई माय आदिके स्वरूपके चिन्तनमें आदर

नहीं होता । उस मायावीके सूत्र-विस्तारके समान ही ये श्रुति एवं

समादिके विकसत हैं, तथा उस ( सूत्र ) पर चढ़े हुए मायावीके समान ही उन ( श्रुति आदि



प्राणतैजसादिः । सप्ततदारूढाम्बा-  
 मन्यः परमार्थमायावी स एव  
 मूमिष्टो मायाच्छ्रोऽदृश्यमान एव  
 स्थिता यथा तथा तुरीयास्य  
 परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्ताया-  
 मेषादरा सुसुखानामार्याणां न  
 निष्प्रमाजनायां सृष्ट्यावाटर इत्युक्तः ।  
 सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्प्या  
 इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति ।  
 स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥७॥

अत्रस्थाओं ) में स्थित प्राण एवं  
 तैजस आदि हैं । किन्तु वास्तविक  
 मायावी तो सूत्र और उसपर बड़े  
 हुए मायावीसे भिन्न है और यही  
 जैसे मायासे बाध्य रहनेके  
 कारण दिलभ्रमही न देता हुआ ही  
 पृथिवीपर स्थित रहता है वैसा ही  
 तुरीयसंबन्धक परमार्थ तत्त्व भी है ।  
 अत मोक्षकामी आर्य पुरुषोंको उसी-  
 क चिन्तनमें बाधर होता है ।  
 प्रयोजनहीन सृष्टिमें उनका आदर  
 नहीं होता । अत ये सब विकल्प  
 सृष्टिकर चिन्तन करनेवालोंके ही  
 हैं, इसीसे कहा है—स्वप्नमायासरूपा  
 इति अर्थात् [ दूसरे इसे ] स्वप्नरूपा  
 और मायारूपा [ बतल्यते हैं ] ॥७॥

इच्छामात्रं प्रमोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिता ।

कालात्प्रसृतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तका ॥ ८ ॥

कोई-कोई सृष्टिके नियममें ऐसा निश्चय रखते हैं कि प्रमुकी इच्छा  
 ही सृष्टि है । तथा कालके नियममें विचार करनेवाले [ ज्योतिषी लोग ]  
 कालमें ही जीवोंकी उत्पत्ति मानते हैं ॥ ८ ॥

इच्छामात्रं प्रमोः सत्यसंकल्प  
 न्वात्सुर्षिर्घटादिः संकल्पनामात्र  
 न संकल्पनाविरिक्तम् । कासादेव  
 सृष्टिरिति केचित् ॥ ८ ॥

मात्रान् सत्यसंकल्प है; अत  
 घटादिकी सृष्टि प्रमुकी संकल्पना  
 है—तुम्हें । भिन्न नहीं है  
 तथा ( ) कालकीसे ।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।

देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का सृष्टा ॥ ९ ॥

कुछ छ ग 'सृष्टि भोगक लिये है' ऐसा मानते हैं और कुछ 'क्रीडाक लिये है' ऐसा समझते हैं । [ परन्तु वास्तवमें तो ] यह भगवान्‌का स्वभाव ही है क्योंकि पूजाक्रमको सृष्टा ही क्या हो सकती है ! ॥ ० ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये  
सृष्टिं मन्यन्ते । अनयोः पक्षयो  
रूपं द्वापर्यं स्वभावोऽयमिति  
द्वयस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां  
वापद्याणामाप्तकामस्य का सृष्टेति ।  
न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्यभाव  
व्यतिरेकेण सर्पायामासत्वे  
कारणं शक्यं वक्तुम् ॥ ९ ॥

दूसरे छ ग सृष्टिको 'यह भोगार्थ  
अथवा क्रीडार्थ है'—ऐसा मानते हैं ।  
'देवस्यैव स्वभावोऽयम्' इस वाक्यसे  
देवके स्वभावपक्षका आशय लेकर  
इन दोनों पक्षोंको दोनयुक्त बतलाते  
हैं । अथवा 'आप्तकामस्य का सृष्टा'  
यह शीघ्र वाद सभी पक्षोंका दोन  
युक्त बतलानवाला है; क्योंकि  
अविद्यारूप अथवा स्वभावके बिना  
रज्जु आदिवा सर्पादिकी अभिव्यक्ति-  
में कारणत्व नहीं बतलाया जा  
सकता ॥ ९ ॥

### चतुर्थ पादस्य विवरण

चतुर्थ पादः क्रमप्राप्ता वक्तव्य  
इत्याह—नान्त प्रथमित्यादिना ।  
सयश्चन्द्रप्रवृत्तिनिमित्तान्यस्वा  
शब्दश्चन्द्रानभिधयत्वमिति

अब क्रमसे प्राप्त हुआ शीघ्र  
वा भी बतलाया है, अब यही  
वाक्य 'अन्त प्रथम्' इत्यादि मन्त्रमें  
बतलाते हैं । यह ( शीघ्र वा )  
सम्पूर्ण चन्द्रप्रवृत्तिरु निमित्तसे रचित  
है, अतः चन्द्रसे उभयपक्ष बतलाने  
लिया जा सकता है । इत्यन्ये तु  
[ अन्तःप्रथम अन्ति ] इत्यन्तःप्रथम

विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीय  
निर्दिशति ।

शून्यमेव तर्हि तत् ।

न; मिथ्याविकल्पस्य  
निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः । न हि  
रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिवि  
कल्पाः शुक्तिकारज्युस्वाणूपरादि  
व्यतिरेकेणावस्थास्यटाः शुक्त्या  
कल्पयितुम् ।

एवं तर्हि प्राणादि सर्वविकल्पा  
स्यदत्त्वात्तुरीयस्य शब्दबन्धत्वम्  
इति न प्रतिषेधैः प्रत्याप्यत्वम् ।  
उदकाभारादेरिव यटादेः ।

न; प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वा-  
शुक्तिकारादिविव रजतादेः ।  
न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्द  
प्रवृत्तिनिमित्तभागवस्तुत्वात् ।  
नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण  
गवादिवत्; आत्मना निरुपाधि  
कत्वात् । गवादिष्वपि घाति

प्रतिषेध करके ही उस तुरीयका  
निर्देश करनेमें प्रवृत्त होती है ।

पूर्व०—तब तो वह शून्यरूप ही  
हूवा ।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि मिथ्या  
विकल्पका बिना किसी निमित्तके  
होना सम्भव नहीं है । चाँदी, सर्प,  
पुरुष और मृगतृष्णा आदि विकल्प  
[ कर्मण ] सीपी, रस्ती, टूँठ और  
ऊसर आदिके बिना निराश्रय ही  
कल्पना नहीं किये जा सकते ।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तब तो  
प्राणदि सम्पूर्ण विकल्पका आश्रय  
होनेके कारण वह तुरीय शब्दका  
बाध्य सिद्ध होता है, जत जलके  
आधारभूत घट आदिके समान  
[ अन्य प्रकृत्यादिक ] प्रतिषेधद्वारा उस  
की प्रतीति नहीं करायी जा सकती ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है;  
क्योंकि शुक्ति आदिमें प्रतीत होने  
वासी चाँदी आदिके समान प्राणादि  
विकल्प असद्रूप हैं तथा सद और  
असत्का सम्बन्ध अवस्तुरूप होनेके  
कारण शब्दकी प्रवृत्तिकर हेतु नहीं  
हो सकता; और न गौ आदिके  
समान वह स्वरूपसे किसी अन्य  
प्रमाणका ही विषय हो सकता है,  
क्योंकि आत्मा उपाधिरहित है ।  
इसी प्रकार अद्वितीयरूप होनेके

मन्त्रमद्वितीयत्वेन सामान्य  
विशेषाभावात् । नापि क्रियावत्त्व  
पाचकादिवदविक्रियत्वात् ।  
नापि गुणवत्त्व नीलादिव  
भिर्गुणत्वात् । अतो नाभिधानेन  
निर्देशमर्हति ।

अक्षविपाणादिसमत्वाभिरर्थ  
कत्वमर्हति ।

न; आत्मस्वावगमे तुरीय

स्तानात्मवृष्णाख्या  
तुरीयवृष्णाख्या  
सर्ववृष्णाख्या  
वृषिहेतुत्वाच्छुक्ति-

कावगम इव रवत

वृष्णाख्याः । न हि तुरीयस्वात्म

स्वावगमे सत्यविद्यावृष्णादिदो

षाणां सम्भवाऽस्ति । न च तुरीयस्या

त्मस्वानवगमे कारणमस्ति; सर्वो-

पनिपदां तादर्थ्येनापक्षयात् ।

“सत्त्वमसि” (छा० उ० ६।८।१६)

“अयमात्मा ब्रह्म” (मृ० उ० २।

५।१९) । “सत्त्वस्य स

आत्मा” (छा० उ० ६।८।१६)

“यस्मात्साधदपरोक्षाद्ब्रह्म” (मृ०

उ० ३।४।१) । “सबादा

म्यन्तरा ब्रह्म” (मृ० उ० २।

कारण सामान्य अपवा विशेष भाव  
का अभाव होनेसे उसमें गै आदिके  
समान ज्ञातिमत्त्व भी नहीं है । और  
न अविकारी होनेके कारण उसमें  
पाचकादिक समान क्रियावत्त्व तथा  
निर्गुण होनेके कारण नीलता आदि  
के समान गुणवत्त्व ही है । इसलिये  
उसका किसी भी मामले निर्देश  
नहीं किया जा सकता ।

पूर्व०—तब तो शशशृङ्गादिके  
समान [ अस्त्रूप होनेके कारण ]  
उसकी निरर्थकता ही सिद्ध होती है ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि शुक्तिका  
ज्ञान होनेपर जिस प्रकार [ उस  
में आरोपित ] चोटीकी तुष्णा गूढ  
हो जाती है उसी प्रकार तुरीय हमारा  
आत्मा है—ऐसा ज्ञान होनेपर वह  
अनात्मसम्बन्धिनी तुष्णाको निवृत्त  
करनेका कारण होता है । तुरीयको  
अपना आत्मा ज्ञान होनेपर अविद्या एवं  
तुष्णादि दोषोक्ति सम्भाषना नहीं  
रहती । और तुरीयको अपने आत्म-  
स्वरूपसे न जाननेका बहिर् कारण भी  
नहीं है, क्योंकि “सत्त्वमसि” “अय-  
मात्मा ब्रह्म” “सत्त्वस्य स आत्मा”  
“यस्मात्साधदपरोक्षाद्ब्रह्म” “स

१।२)। "आत्मैवेदं सर्वम्"  
( छा० उ० ७।२५।२ )  
इत्यादीनाम् ।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थ  
रूपमतुष्यादिर्युक्तस्तस्यापरमार्थ-  
रूपमविद्याकृत रज्जुसर्पादि  
सममुक्त पादत्रयलक्षण बीजाह-  
ङ्करस्थानीयम् । अयदानीम  
बीजात्मकं परमार्थस्वरूप रज्जु  
स्थानीयं सर्पादित्यानीयोक्तस्थान  
त्रयनिराकरणेनाह- नान्तःप्रज्ञ  
मित्यादि ।

माह्याम्भन्तरां ह्यत्र " आत्मैवेदं  
सर्वम् ' इत्यादि समस्त उपनिषदाख्यो  
का प्यवसान इती अर्थमे वुक्त्वा है ।

यह यह आत्मा परमाथ और  
अपरमार्थरूपसे चार पादबाला है-  
पेसा कहा है । उसका बीजाहङ्कर  
स्थानीय पादत्रयस्वरूप अपरमार्थ-  
रूप रज्जुसर्पादिके समान अविद्या  
जनित कहा गया है । अब सर्पादि  
स्थानीय उक्त तीनों पादोंका निरा-  
करण कर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि  
रूपसे उसका रज्जुस्थानीय  
अबीजात्मक परमार्थस्वरूपका वर्णन  
करते हैं—

तुरीयस्य स्वरूप

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञान  
घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम  
लक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चो  
पशम शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा  
स विज्ञेय ॥ ७ ॥

विशेषीयम तुरीयको ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तःप्रज्ञ है, न  
बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः ( अन्तर्बहिः ) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न  
प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है । बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण,  
अचिन्त्य, अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव  
और अद्वैतरूप है । वही आत्मा है और वही साक्षात् जाननेयोग्य है ॥७॥

नन्वात्मनश्चतुष्पात्प्रतिज्ञाय  
पादत्रयकथनेनैष चतुर्घस्यान्तः  
प्रज्ञादिभ्योऽन्मत्त्वे सिद्धे नान्त  
प्रज्ञमिस्पादिप्रतिषेधोऽनर्धकः ।

न; सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैष

अत्रमन्मत्तो

अनारमप्रतिषेध

यस्य प्रमाणात्

रज्जुस्वरूपप्रतिपत्ति-  
षट्त्रयबन्धस्यैवात्म-  
नस्तुरीयत्वेन प्रति-  
पिपादयिपितत्वात्

“तत्त्वमसि” ( छा० उ० ६।८।

१६ ) इतिषत् । यदि हि उपव

म्यात्मविच्छिन्नं तुरीयमन्यत्प्र

तिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रापदेशा

नर्धकं सूक्ष्मतापत्तिर्वा ।

रज्जुरिव सर्पादिभिविकल्प्य

माना स्वानत्रयेऽप्यात्मैकत्वान्तः-

प्रज्ञादित्वेन विकल्प्यत यदा

तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञान

पूर्व०—किन्तु आत्मा चार पत्तो-  
वाला है—एसी प्रतिज्ञाकर उसके  
सीम पादोंका वर्णन कर देनेसे ही  
चौथे पादका अन्तःप्रज्ञादि विशेषणों-  
से भिन्न होना तो सिद्ध ही है; अन्तः  
यह “नान्त प्रज्ञम्” इत्यादि प्रतिषेध  
तो व्यर्थ ही है ।

मिथ्याग्नी—ऐसी बात नहीं है,  
क्योंकि जिस प्रकार सर्पादि विकल्प-  
का प्रतिषेध करनेसे ही रज्जुके  
स्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसी  
प्रकार, वैसेकि “तत्त्वमसि” इत्यादि  
वाक्यमें देखा जाता है, यहाँ  
[ आत्मादि ] तीनों अवस्थानोंमें स्थित  
आत्माका ही तुरीयरूपसे प्रतिपादन  
करना शक्य है । यदि तुरीय आत्मा  
अवस्थाप्रमथिशिष्ट आत्मासे सर्वथा  
भिन्न होता तो उसकी उपलब्धिकर  
कोई उपाय न रहनेके कारण  
शास्त्रोपदेशकी व्यर्थता जयवा  
गून्यशक्तकी प्राप्ति हो जाती । जब  
कि सर्पदि ( सर्प, पाण्डु, मूच्छिद्रादि )  
रूपसे विकल्पित रज्जुके समान  
[ आत्मादि ] तीनों स्थानोंमें एक ही  
आत्मा अन्तःप्रज्ञादिरूपसे विकल्पित  
हो रहा है तब तो अन्तःप्रज्ञादिके  
प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणकी उत्पत्ति  
के समकाल ही आत्मानमें अनर्ध-

प्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्धप्रपञ्च  
निवृत्तिलक्षणफल परिसमाप्तम्,  
इति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तर  
साधनान्तर वा न मृग्यम् ।  
रन्हुसर्पविभेकसमकाल इव  
रन्वा सर्पनिवृत्तिकले सुवि  
रन्वधिगमस्य ।

येषां पुनस्तमोऽप्यनयव्यतिरेकेण  
षट्पाधिगमे प्रमाण व्याप्तिमते  
तेषां छेद्यावयवसम्बन्धविभागे  
व्यतिरेकेणान्यतरावयवेषुपि  
च्छिदिव्याप्तिमते इत्युक्तं स्यात् ।

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे  
प्रपञ्च प्रमाणमनुपादिस्तिष्ठतमो

प्रपञ्चकी निवृत्तिरूप फल सिद्ध हो  
जाता है; वत तुरीयका साधनकार  
करनेके लिये इसके सिवा किसी  
अन्य प्रमाण अथवा साधनकी खोज  
करनेकी आवश्यकता नहीं है, वैसे  
कि रज्जु और सपका विभेक होनेके  
समानकालमें ही रज्जुमें सर्पनिवृत्ति  
रूप फलकी प्राप्ति होते ही रज्जुका  
ज्ञान हो जाता है [ उसी प्रकार यहाँ  
समग्रता चाहिये ] ।

किन्तु भिन्नके मतमें षट्पादमें  
अन्धकारकी निवृत्तिके सिवा किसी  
और कार्यमें भी प्रमाणकी प्रवृत्ति  
होती है उनका तो मानो ऐसा कथन  
है कि छेप पत्थरके अणुबोका  
सम्बन्धविच्छेद करनेके अतिरिक्त भी  
छदनक्रियाका वस्तुके किसी एक  
अणुबोके कोइ व्यापार होता है ।\*

छेप अणुबोका सम्बन्धविच्छेद  
करनेमें प्रवृत्त छदनक्रिया जिस

\* वाच्य यह है कि भिन्न प्रकार अन्धकारमें रहते हुए बरका ज्ञान  
प्राप्त करनेके लिये अन्धकारकी निवृत्तिमात्र ही आवश्यक है अन्य किसी  
क्रियाकी आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तबमें  
आरोहित अन्धकारका निरोध ही कर्तव्य है । जो लोग षट्पादमें अन्धकार  
निवृत्तिके सिवा उलझे उतरावक प्रमाणका कोई और व्यापार भी स्वीकार करते  
हैं वे मानो ऐसा करते हैं कि छदनक्रिया अणुबोकाके अणुबोका सम्बन्धविच्छेद  
करनेके सिवा उनके किसी भी अणुबोके कोइ अन्य कार्य भी कर देती है । परन्तु  
यह बात अशुभ है कि छदनक्रियाका अणुबोकाके अणुबोकाके सिवा कोई अन्य  
कार्य नहीं होता । इसीलिये उनका कथन माननीय नहीं है ।

१. यदि प्रमाण अज्ञानका ही निवृत्तक है तो विपत्तके स्वरूप होनेका तो

निवृत्तिफलावसानं छिदिरिव  
 ञ्छेद्यावयवसम्बन्धविशेषकरणे  
 प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफला  
 वसाना तदा नान्तरीयकं घट  
 विज्ञानं न तत्प्रमाणफलम् ।

न च तद्ददप्यात्मन्यप्यारो-  
 पितान्तःप्रवृत्त्यादिविशेषकरणे  
 प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्य  
 अनुपादित्सितान्तःप्रवृत्त्यादिनि-  
 वृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारो-  
 पयसिः । अन्तःप्रवृत्त्यादिनि-  
 वृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादि-  
 भेदनिवृत्तेः । तथा च परस्यसि—  
 “ज्ञाते द्वैत न विद्यत” (माण्ड  
 का० १ । १८ ) इति । ज्ञानस्य  
 द्वैतनिवृत्तिव्यतिरेकेण क्षणा

प्रकार उसके अवयवोंके विभक्त  
 हो जानेमें समाप्त होनेवाली  
 है वसी प्रकार जब कि घट  
 और अवयवकारका पार्ष्ण्य करनेमें  
 प्रवृत्त प्रमाण अनिष्ट अवयवकारकी  
 निवृत्तिरूप फलमें ही समाप्त हो जाने  
 वाछा है तब घटज्ञान तो अवयवप्रभावी  
 है, वह प्रमाणका फल नहीं है ।

उसीके समान आत्ममें आरोपित  
 अन्तःप्रवृत्त्यादिके विवेक करनेमें  
 प्रवृत्त प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणका,  
 अनुपादित्सित ( जिसका स्वीकार  
 करना शक नहीं है उस) अन्तःप्रवृत्त्यादि  
 की निवृत्तिके सिवा तुरीय आत्मामें  
 कोई अन्य व्यापार होना सम्भव  
 नहीं है, क्योंकि अन्तःप्रवृत्त्यादिकी  
 निवृत्तिके समकालमें ही प्रमातृत्वादि  
 भेदकी निवृत्ति हो जाती है । ऐसा  
 ही “ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं  
 रहता” इत्यादि वाक्यद्वारा आगे कहेंगे  
 भी, क्योंकि वृत्तिज्ञानकी भी स्थिति  
 द्वैतनिवृत्तिके क्षणके सिवा दूसरे  
 क्षणमें नहीं रहती; और यदि स्थिति  
 मानी जाय तो अनवस्थाका प्रसङ्ग

कोई कारण दिलायी नहीं देता। अतः विषयज्ञान होना ही नहीं चाहिये—  
 ऐसी आशङ्का करके भागकी बात कहत हैं ।

• अद्वैत-शोधके किन्ने किन्त-किन्त प्रमातृका भावव किया जाता है के  
 उच द्वैतप्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं । निवृत्तिद्वैतकी निवृत्ति करनेवाला वृत्तिज्ञान भी  
 वृत्तिरूप होनेके कारण द्वैतके ही अन्तर्गत है । यदि वह तन्मूख द्वैतकी निवृत्ति  
 करके भी बना रहे तो उसकी निवृत्तिके किन्ने किन्ती अन्य वृत्तिकी भवेदा होगी



न्तरानवस्थानात् । अथस्थाने  
 शानवस्थाप्रसङ्गसूत्रैतानिहृत्तिः ।  
 तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापा-  
 रसमकालैवात्मन्यध्वारापितान्त  
 प्रज्ञान्वाद्यनर्थनिहृत्तिरिति सिद्धम् ।  
 नान्तःप्रज्ञमिति सैजसप्रतिषेधः ।  
 न बहिःप्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः ।  
 नोपपत्तः प्रज्ञमिति आग्रस्तस्वप्रयो  
 रन्तरालावस्थाप्रतिषेधः । न  
 प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रति  
 षेधः । शीजभावाविधेकरूपत्वात् ।  
 न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञा  
 तस्वप्रतिषेधः । नाप्रज्ञमित्य  
 चैतन्यप्रतिषेधः ।

कथं पुनरन्तः प्रज्ञत्वादीना

मात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादीनां

उपस्थित हा जानेसे द्वैतकी निहृत्ति  
 ही नहीं होगी । अतः यह सिद्ध  
 हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणके  
 प्रवृत्त होनेके समकालमें ही अत्मानमें  
 आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादि अनर्थकी  
 निहृत्ति हो जाती है ।

अन्तःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर  
 सैजसकर प्रतिषेध किया है 'बहिः  
 प्रज्ञ नहीं है' इससे विश्वकर प्रतिषेध  
 किया है; 'उपपत्तः प्रज्ञ नहीं है'  
 इस वाक्यसे आग्रत् और स्वप्नके  
 बीचकी अवस्थाकर प्रतिषेध किया है,  
 'प्रज्ञानघन नहीं है' इससे सुषुप्तिकर  
 प्रतिषेध हुआ है क्योंकि यह भी  
 भावमय-अविशेषकरुणा है, प्रज्ञ  
 नहीं है' इससे एक साथ सब  
 विषयोंके काल्पनिक प्रतिषेध किया है  
 तथा 'अप्रज्ञ नहीं है' इसमें  
 अचेतनताकर प्रतिषेध किया है ।

किन्तु जब कि अन्तःप्रज्ञत्वादि  
 धर्म अत्मानमें प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं  
 तो केवल प्रतिषेधके ही कारण  
 उनकर गूढमें प्रतीत होनवाले  
 सर्वाङ्गिके समान असत्यत्व जैसे सिद्ध

भीर उक्त सिद्धि मिली थी। इस प्रकार अनवस्था वात उपस्थित ही  
 वापस भी द्वैतकी निहृत्ति कभी न हो पायेगी । एतन्निषेधनिगूढद्वैतकी निहृत्ति  
 करनेके उक्तकालमें ही इतिगण शब्द भी निहृत्त हो जाता है—यही मय  
 नमीधीन है ।

सर्पादिबतप्रतिपेधाइसत्त्व गम्यत  
इत्युच्यते । इत्सरूपाविद्येपेऽपि  
इतरेतरव्यभिचाराद्ब्रह्मादाविष  
सर्पधारादिविकल्पितमेवत्  
सर्वभ्रान्त्यभिचाराद्ब्रह्मरूपस्य  
सत्यत्वम् ।

सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न ।  
सुषुप्तस्नानुभूयमानत्वात् । “न  
दि विद्यातुर्विद्यतेर्विपरिहापो  
विद्यते” ( सू० उ० ४ । ३ । ३० )  
इति श्रुते ।

अत एवाहम् । यस्मादहम्  
तस्यादम्पगर्हायम् । अग्राह्यं कर्म  
न्द्रियैः । अलक्षणमनिहमित्येतद  
ननुमेवमित्यर्थ । अत एवा  
चिन्त्यम् । अत एवाप्यपदेश्यं  
गच्छे । एकार्थप्रत्ययसार  
वाग्नादिभ्यानेष्वेऽयमात्मेस्य  
व्यभिचारी य प्रत्ययश्चेन्नानु  
सरणीयम् । अथैवमात्मप्रत्ययः  
सारं प्रमाणं यस्य तुगीयस्याधिगम

हो सकता है । इसपर कहते हैं—  
एगु व्यक्तिमें प्रतीत होनेवाले सर्प,  
धारा आदि विकल्पमेंदोके समान  
उनके चित्तस्वरूपमें कोई भेद न  
होनेपर भी परस्पर एक-दूसरेका  
व्यभिचार होनेके कारण वे असत्य  
हैं । किन्तु चित्तस्वरूपका कहीं भी  
व्यभिचार नहीं है, इसलिये वह  
सत्य है ।

यदि कहे कि सुषुप्तिमें उसका  
व्यभिचार होता है तो ऐसा कहना  
भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिका  
भी अनुभव हुआ करता है, वैसे कि  
“विज्ञानाद्यी विज्ञानिका घोष नहीं  
होया” इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

इसीलिये यह असत्य है । और  
क्योंकि असत्य है इसलिये अप्यग्रहाय  
है तथा कर्मेश्रियोसे कथाय और  
कच्छुण मानी विहरहित है ।  
तात्पर्य यह है कि उसका अनुमान  
नहीं किया जा सकता । इसीसे यह  
अचिन्त्य है अतएव शब्दोद्गा  
व्यवनीय है । यह एकार्थप्रत्ययसार  
है अर्थात् जामत् व्यक्ति स्थानमें  
एक ही आत्मा है—एसा जो  
व्यभिचारी प्रत्यय है तन्मने  
अनुस्रण भिन्ने जने वाय है ।  
अपवा जान है—इस प्रकार ही

चतुर्थीयमेकात्मप्रत्ययसारम् ।

“आस्मेत्येवोपासीत” ( पू० उ० १ । ४ । ७ ) इति श्रुतेः ।

अन्तःप्रवृत्त्यादिस्यानिर्घर्म-  
प्रतिषेधः कृतः । प्रपञ्चोपशममिति  
जाग्रदादिस्यान्तधमाभाव उच्यते ।  
अत एव ध्वान्तमविक्रियम्,  
शिव यतोऽद्वैत मेदविकल्प  
रहितम् । चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते;  
प्रतीयमानपादप्रवरूपवैभवं स्यात् ।  
स आत्मा स विज्ञेय इति  
प्रतीयमानसर्वमूर्च्छित्त्वादिभ्य-  
तिरिक्त्वा यथा रज्जुस्तथा  
तत्रमसीत्यादिवानपाथ आत्मा  
“अदृष्टो दृष्टः” ( पू० उ० ३ । ७ ।  
०३ ) “न हि द्रष्टुर्दृष्टविपरिणोपो  
विद्यते ” ( पू० उ० ४ । ३ । २३ )  
इत्यादिभिरुक्त्वा यः । स विज्ञेय  
इति मूलसंगत्या, ध्याते  
इतिमात्र ॥ ७ ॥

उपासना करे” इस श्रुतिके अनुसार  
जिस तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेमें  
एक व्यापकप्रत्यय ही सार यानी प्रमाण  
है वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार है ।

अन्तःप्रवृत्त्याणि स्वानियो ( जाग्रत्  
आदि अवस्थाओंके अभिमानियो )  
के धर्मोक्त प्रतिषेध किया गया,  
अब ‘प्रपञ्चोपशमम्’ इत्यादिसे  
जाग्रत् आनि स्वानो ( अवस्थाओं ) के  
धर्मोक्त अभाव उक्तजाया जाता  
है । इसीश्रुत्ये वह ध्वान्त यानी  
अविकारी है और क्योंकि वह अद्वैत  
अर्थात् मेदरूप विकल्पसे रहित है,  
इसश्रुत्ये शिव है । उसे चतुर्थं यानी  
तुरीय मानते हैं, क्योंकि वह प्रतीत  
होनेवाले पूर्वोक्त तीन पानोंसे विच्छिन्न  
है । बही अज्ञान है और वही  
अज्ञान्य है । अत जिस प्रकार रज्जु  
अपनमें प्रतीत होनेवाले सर्प, दण्ड  
और मूर्च्छित् आदिसे सर्वथा भिन्न है  
उसी प्रकार ‘तत्रमसि’ इत्यादि  
वाक्योंका अयत्नकर आत्मा, भिन्नकर  
जि “अदृष्टो दृष्टो मी देखनेवाला है”  
“अदृष्टो दृष्टिको सो नहीं जाता”  
इत्यादि श्रुतियोंने प्रतिपादन किया है,  
[ अज्ञानमें अल्पसत् जाग्रदादि अवस्थाओं-  
से सर्वथा भिन्न है ] । बही अज्ञान्य है  
—वेगा मूलपूर्वगणिते० कहा जाता  
है, क्योंकि उसका प्राप्त होनेपर  
ईतका अज्ञान ही जाता है ॥ ७ ॥

• अर्थात् अविचारवासे आत्मानमें जो जेकर ध्यान रखा या उगीका  
ध्यान नकर तुरीयका ज्ञान ही कहा जाता है । कालके ता जो प्रत्यक्षदर्श और  
अज्ञान है उसे अज्ञान्य ही बही कहा जा

तुरीयस्य प्रमाण

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इती अर्थमे ये श्लोक हैं—

निवृत्तेः सर्वदुःस्वानामीशान प्रसुरव्यय ।

अद्वैत सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभु स्मृत ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान—प्रभु (समर्थ) है । यह अविच्छेदी, सब पदार्थोंका अद्वैतरूप, देव, तुरीय और व्यापक माना गया है ॥ १० ॥

प्राज्ञैस्सर्वविश्लेषणानां  
सर्वदुःस्वानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय  
आत्मा । ईशान इत्यस्य पदस्य  
व्याख्यानं प्रसुरिति । दुःखनिवृत्ति  
प्रति प्रसुर्मन्वीत्यर्थः । तद्विज्ञान  
निमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्ते ।

प्रम्यपो न व्येति स्वरूपाय  
व्यभिचरतीति यावत् एतद्धृतः  
यस्मादद्वैतः सर्वभावानां रन्ध्र  
सर्पबन्धुपात्वात्स एष देवो  
घोषनात्तुरीयस्यैतयो विभुर्मापी  
स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा प्राज्ञ, तैजस और  
विश्वरूप समस्त दुःखोंकी निवृत्तिमें  
ईशान है । 'ईशान' इस पदकी  
व्याख्या 'प्रभु' है । तात्पर्य यह है  
कि यह दुःखनिवृत्तिमें समर्थ है,  
क्योंकि उसका विज्ञान दुःखनिवृत्ति  
का कारण है ।

अभ्यपो—जो व्यय ( विकार )  
को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जो  
स्वरूपसे व्यभिचरित यानी भ्रुत  
नहीं होता । क्यों भ्रुत नहीं होता ?  
क्योंकि यह अद्वैत है । अन्य सब  
पदार्थ रज्जुमें अम्पस सर्पके समान  
दिख्या है; इसलिये प्रपञ्चज्ञानशील  
ज्ञानके कारण यह यह देव तुर्य  
यानी चतुर्थ और विभु यानी व्यापक  
माना गया है ॥ १० ॥

विद्य और तीजस तुरीय अक्ष भेद

विद्यादीनां सामान्यविशेष  
भावा निरूप्यते तुर्यवाधात्म्या  
व्यवहाराद्यम्--

तुरीयका यथार्थ स्वरूप समझनेके  
लिये विद्य आदिके सामान्य और  
विशेष भावका निरूपण किया  
जाता है--

कार्यकारणवद्वौ ताविप्येते विश्वतैजसौ ।

प्राज्ञ कारणवद्वस्तु द्वौ सौ तुर्ये न सिध्यत ॥ ११ ॥

विद्य और तीजस—ये दोनों परम ( परब्रह्म ) और कारण  
( बीजावस्था ) से बंधे हुए माने जाते हैं; किन्तु प्राज्ञ केवल कारणवस्था-  
से ही बंधे हैं । तथा तुरीयमें तो ये दोनों का नहीं है ॥ ११ ॥

कार्यं क्रियम इति फलभाव ।  
कारणं फरातीति बीजभावः ।  
तत्प्राज्ञप्रदणायथाप्रदणाम्यां  
षोडशफलमात्राम्यां सौ यथाक्तौ  
विद्यतं ब्रह्मावदौ सगृहीतारिप्येते ।  
प्राज्ञस्त बीजभावेनैव वद ।

जो किया जाय उसे कार्य कहते  
हैं; वह फलभाव है । और जो करता  
है उसे कारण कहते हैं; वह बीज  
भाव है । ये उपर्युक्त विद्य और  
तीजस तारकके अप्रदण एवं अग्न्या  
प्रदणम्प बीजभाव और फलभावसे  
बंधे अर्थात् सापेक्ष प्रकारसे एक-  
दूसरे हुए माने जाते हैं । किन्तु प्राज्ञ



“न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्बिपरिलोयो विद्यते”  
( वृ० उ० ४ । ३ । २३ ) इति  
श्रुतेः ।

अथ वा ज्ञाप्रस्वप्नयोः सर्ष  
भूतावस्यः सर्षवस्तुद्वयाभास  
सुरीय ण्वेति सर्षवस्तदा  
“नान्वदताऽस्ति द्रष्टुः” ( वृ०  
उ० ३ । ८ । ११ ) इत्यादि  
श्रुतेः ॥ १२ ॥

अन्यथा-प्रकाशम सम्भव नहीं है,  
जैसा कि “अध्यापी दृष्टिका विपरिणयेप  
नहीं होता” इस श्रुतिसे सिद्ध  
होता है ।

अथवा ज्ञाप्रत् एव समाप्तत्वाके  
सम्पूर्ण मूर्तमें स्थित और समस्त  
पदार्थके साक्षीरूपसे तुरीय ही  
म्यसमान है इसलिये वह सर्वथा  
सर्वसाक्षी है, जैसा कि “इससे भिन्न  
और कोई द्रव्य नहीं है” इस श्रुतिसे  
प्रमाणित होता है ॥ १२ ॥



द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राञ्चतुर्ययोः ।

धीजनिद्रायुत प्राञ्च सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

द्वैतका अग्रहण तो प्राञ्च और तुरीय दोनोंहीके समान है, किन्तु  
प्राञ्च धीजनिद्राकृपा निद्रासे युक्त है और तुरीयमें वह निद्रा है नहीं ॥ १३ ॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशब्कानि  
हृदययोऽय प्रकाशः । कथं द्वैता  
ग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणवदत्त्वं

यह शब्दके निमित्तान्तरसे प्राप्त  
जाग्रदाधी निवृत्तिके लिये है ।  
महा  
भी

बीजनिद्रा, तथा युतः प्राज्ञः ।  
सदा इक्ष्णुभावस्वाप्त्वाप्रति  
बोधलक्षणा निद्रा तुरीये न  
विद्यते । अतो न कारणबन्ध-  
स्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

बीज ही, अत उसे 'बीजनिद्रा'  
कहते हैं—प्राज्ञ उससे युक्त है ।  
किन्तु सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप होनेक  
कारण तुरीयमें वह बीजनिद्रा नहीं  
है, अत उसमें कारणबन्धता नहीं  
है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १३ ॥

तुरीयका स्वप्न-निद्रासम्बन्ध

स्वप्ननिद्रायुतावाधौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।

न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निम्बिताः ॥ १४ ॥

विद्य और तैजस—ये स्वप्न और निद्रासे युक्त हैं तथा प्राज्ञ स्वप्नरहित  
निद्रासे युक्त है, किन्तु निम्बित पुरुष तुरीयमें न निद्रा ही देखते हैं और  
न स्वप्न ही ॥ १४ ॥

स्वप्नाऽन्यथाग्रहणं सर्प इव  
रज्ज्वाम् । निद्रोक्ता तत्त्वाप्रति  
बाधलक्षणं तम इति । ताम्बां  
स्वप्ननिद्राम्बां युक्ती विश्वतैजसी ।  
अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्ती ।  
प्राज्ञस्तु स्वप्नबन्धितकेवलयैव  
निद्रया युत इति कारणबद्ध  
इत्युक्तम् । नोमयं पश्यन्ति तुरीये  
निम्बिता ब्रह्मविदो विरुद्धस्वात्  
सवितरीव तमः । अतो न कार्य  
कारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः ॥ १४ ॥

रज्जुमें सर्प-ग्रहणके समान  
अन्यथाग्रहणकर माम स्वप्न है, तथा  
तत्त्वक अवप्रतिबोधरूप तमको निद्रा  
कहते हैं । तम स्वप्न और निद्रासे  
विद्य और तैजस युक्त हैं, अत वे  
कार्यकारणबद्ध बद्धे गये हैं । किन्तु  
प्राज्ञ तो स्वप्नरहित केवल निद्रासे ही  
युक्त है, इसलिये उसे कारणबद्ध  
कहा है । निम्बित यानी ब्रह्मवेद्य  
योग तुरीयमें ये दोनों ही बातें नहीं  
देखते, क्योंकि सूर्यमें अन्धकारके  
समान वे उससे विरुद्ध हैं । अत  
तुरीय कार्य अथवा कारणसे वैधा  
बुद्धा नहीं है—ऐसा कहा गया  
है ॥ १४ ॥



कदा तुरीये निमित्तो  
भवतीत्युच्यते—

अब यह बातकाया जाता है कि  
मनुष्य तुरीयमें कब निमित्त होता  
है—

अन्यथा गृह्यत स्वप्नो निद्रा तस्त्वमजानत ।

विपर्यासे तथो क्षीणे तुरीय पदमश्नुते ॥ १५ ॥

अन्यथा ग्रहण करनेसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वको न जाननेसे  
निद्रा होती है और इन दोनों विपरित्त ज्ञानोंका क्षय हो जानेपर तुरीय  
पदकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वा  
सर्प इव गृह्यतस्तत्त्वं स्वप्ना भवति ।  
निद्रा तस्त्वमजानतस्त्विमुष्य  
वस्यासु तुस्या । स्वप्ननिद्रयो-  
स्तुर्यत्वादिभ्यतैवसपोरेकराशि  
स्वप् । अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च  
गुणमूठा निद्रति तस्मिन्विपर्यासः  
स्वप्नः । तुरीये तु म्याने सत्त्वा  
ज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला  
विपर्यासः ।

रज्जुमें सर्पग्रहणके समान स्वप्न  
और जागरित अवस्थामें तत्त्वके  
अन्यथाग्रहणसे स्वप्न होता है तथा  
तत्त्वको न जाननेसे निद्रा होती है,  
जो तीनों अवस्थाओंमें तुल्य हैं ।  
इस प्रकार स्वप्न और निद्रामें तुल्य  
होनेके कारण विषय और तैजसकी  
एक राशि है । उनमें अन्यथा  
ग्रहणकी प्रधानता होनेके कारण  
निद्रा श्रेष्ठ है अतः उन अवस्थाओं-  
में स्वरूप विपरित्त ज्ञान रहता है ।  
किन्तु तृतीय स्थान ( सुषुप्ति ) में  
कमञ्च तत्त्वाग्रहणरूप निद्रा ही  
विपर्यास है ।

अतस्तथाः कार्यकारणस्थानयोः

अतः अत्र कार्यकारणस्थानयोः

अन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणाविपर्या

कार्यकारणबन्धरूपे

सत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे

पदमश्नुते । १५

रूप सत्रापश्यस्तुरीये निश्चितो | पुरुष तुरीयमें निश्चित हो जाता  
भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ | है—एसा इसकर तात्पर्य है ॥ १५ ॥

बोध कब होता है ?

अनादिमायया सुप्तो यदा जीव प्रमुच्यते ।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत वुच्यते तदा ॥ १६ ॥

जिस समय अनादि मायासे सोया हुआ जीव जागता है [ अर्थात् तत्त्वज्ञान अम करता है ] उसी समय उसे अज, अनिद्र और सप्नरहित अवैत आत्मतत्त्वका बोध प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

योऽयं ससारी जीवः स  
उभयलक्षणो तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण  
बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन च  
अनादिकाप्रवृत्तेन मायालक्षणेन  
स्वप्नेन ममायं पिता पुत्राऽयं  
नत्ता क्षेत्र पञ्चबोऽहमेपां स्वामी  
सुखी दुःखी क्षयितोऽहमेनेन  
वर्षितक्षानेनेत्येषप्रकारान्स्वप्नान्  
स्यानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्त ।

यह जो संसारी जीव है वह  
तत्त्वाप्रतिबोधरूप बीजात्मिका एवं  
अन्यथाग्रहणरूप अनादिकाप्रवृत्तिसे  
प्रवृत्त मायरूप निद्राके कारण  
[ सप्न और जागरित ] दोनों ही  
व्यवस्थाओंमें यह मेरा रित्त है, यह  
पुत्र है, यह माता है, ये मेरे क्षेत्र,  
गृह और पशु हैं, मैं इनका स्वामी  
हूँ तथा इनके कारण सुखी-दुःखी,  
क्षीण और वृद्धिकर प्राप्त होता हूँ,  
इत्यादि प्रकारक स्वप्न देखता हुआ  
सा रहा है ।

यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन  
परमकारुणिकेन गुरुणा नास्त्यर्थ  
त्वं हेतुफलस्मक किं तु तत्त्व  
मसीति प्रतिवाच्यमानः, तदैवं  
प्रतिबुध्यत—

जिस समय वेदान्तार्थक तत्त्वको  
जाननेवाले किसी परम करुणिक  
गुरुके द्वारा 'तु' इस प्रकार बात एक  
फलस्वरूप नहीं है, किन्तु 'तु' नहीं है  
इस प्रकार वाच्यता जाता है उस  
समय उसे ऐसा बोध प्राप्त होता है—

कथम्? नास्मिन्बाह्यमाम्यन्तर  
 वा ज मादिभावविकारोऽस्त्यगा  
 ऽज सबाह्याम्यन्तरसर्वभावविकार  
 वर्द्धितमित्यर्थ । यस्माज्जन्मादि  
 कारणमूर्तं नास्मिन्नविघातमाबीजं  
 निद्रा विघत इत्यनिद्रम् । अनिद्र  
 हि तृतीयमत एवास्त्वम् ।  
 तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य ।  
 यस्मान्निद्रमस्त्वन्सत्त्वाद्द्वैत  
 तृतीयमात्मानं पुष्यते तदा ॥ १६ ॥

जिस प्रकारका बोध हाता है !  
 [ सा बनता है—] इसमें बाह्य  
 अथवा आन्ध्रस्तर जन्मादि विकार  
 नहीं है, इसलिये यह जन्मा यानी  
 सम्पूर्ण भाव विकारोंसे रहित है ।  
 और क्योंकि इसमें जन्मादिकी  
 कारणमूर्त तथा अविघातय अन्ध  
 करकी बीजमूर्त अविघात नहीं है  
 इसलिये यह अनिद्र है । यह तृतीय  
 अनिद्र है, इसीलिये अस्त्वन् भी है;  
 क्योंकि अस्त्वयाग्रहण ता [ तत्ता-  
 प्रतिबोधरूप ] निद्राहीके कारण  
 हुआ करता है । इस प्रकार क्योंकि  
 यह अनिद्र और अस्त्वन् है इसलिये  
 ही उस समय जन्मा और अद्वैत  
 तृतीय आत्माका बोध होता है ॥ १६ ॥



प्रपञ्चनिवृत्तया चेतप्रतिपुष्यते  
 ऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैत  
 मित्युच्यते—

यदि बोध प्रपञ्चनिवृत्तिसे ही  
 होता है ता तबतक प्रपञ्चकी  
 निवृत्ति न हो तबतक अद्वैत कैसा ?  
 इसपर कहा जाता है—

प्रपञ्चस्य अस्त्वन्मात्रात्

प्रपञ्चा यदि विद्येत निवर्तेत न सशय ।

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैत परमार्थत ॥ १७ ॥

प्रपञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता—इसमें सन्देह नहीं ।  
 किन्तु [ वास्तवमें ] यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत  
 ही है ॥ १७ ॥

सत्त्वमेव स्यात्प्रपञ्चो यदि  
विद्येत, रज्ज्वां सर्प इव  
कल्पितस्वात्म तु स विद्यत ।  
विद्यमानबोधिवर्तेत न संशयः ।  
न हि रज्ज्वां आन्तिपुद्गला  
कल्पितः सर्पो विद्यमानः  
सन्निवेकतो निवृत्तः । नैव मामा  
माबाधिना प्रयुक्ता तद्दर्शितां  
वसुर्वभाषणमे विद्यमाना सती  
निवृत्ता । तथेऽप्रपञ्चाख्य  
मायामात्रं द्वैत रज्ज्ज्वांमायाधि  
बन्धाद्वैतं परमार्थस्तस्मान्न  
कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्ता निवृत्तो  
वाप्तीत्यभिप्रायः ॥१७॥

यदि प्रपञ्च विद्यमान होता तो  
सत्त्वमुच ऐसा ही होता, किन्तु वह  
तो रज्जुमें सर्पके समान कल्पित  
होनके कारण [ वस्तुतः ] है ही  
नहीं । यदि वह हाता तो, इसमें  
सन्देह नहीं, निवृत्त भी हो जाता ।  
रज्जुमें भ्रमशुद्धिसे करुणा कित्या  
हुआ सर्प [ वस्तुतः ] विद्यमान  
रहते हुए विवेकसे निवृत्त नहीं  
हाता । मायाबीशारा फँदायी हुए  
माया, देखनेवालेके इष्टिबन्धनके  
द्वयसे जागर, रहस्य विद्यमान  
रहती हुए निवृत्त नहीं होती । इसी  
प्रकार यह प्रपञ्चसंबन्धक द्वैत भी  
मायामात्र ही है परमार्थतः ता  
रज्जु जपवा मायाबीक समान कल्पित  
ही है । अतः तात्पर्य यह है कि  
कोई भी प्रपञ्च प्रवृत्त जपवा निवृत्त  
होमकाला नहीं है ॥ १७ ॥

गुरु-शिष्यादि विकल्प ध्यावहारिक है

ननु ज्ञात्ता शार्ङ्गं शिष्य इति  
विकल्प कथं निवर्तत इत्युच्यते-

यदि कहा कि शासक, शार्य  
और शिष्य—इस प्रकारका विकल्प  
किस प्रकार निवृत्त हो सकता है ?  
ता इसपर कहा जाता है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।

उपदेशादय यावो ज्ञात द्वैत न विद्यते ॥ १८ ॥

इस [ गुरु-शिष्यादि ] विकल्पकी यदि किसीन कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता । यह [ गुरु-शिष्यादि ] बाद तो उपदेशक ही किये है । आत्मज्ञान ही जानेपर दैत नहीं रहता ॥ १८ ॥

विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात् । यथाय प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवचयाम शिष्यादि मेदविकल्पाऽपि प्राक् प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्ताऽऽत् उपदेशादयं वादः शिष्यं ज्ञास्ता ज्ञानमिति । उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे दैत न विद्यते ॥ १८ ॥

यदि किसीन इसकी कल्पना की होती तो यह विकल्प निवृत्त हो जाता । जिस प्रकार यह प्रपञ्च माया और रज्जुसर्पके स्वरूप है उसी प्रकार यह शिष्यादि मेदविकल्प भी आत्मज्ञानसे पूर्व ही उपदेशक निमित्तसे है । अतः शिष्य, शासक और शाल—यह बाद उपदेशके ही किये है । उपदेशके कार्यस्वरूप ज्ञानके निष्पन्न होनेपर, अर्थात् परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर दैतकी सत्ता नहीं रहती ॥ १८ ॥

आत्मा और उसके पादोंके साथ ओङ्कार और

उसकी मात्राओंका तादात्म्य

अभिधेयप्रधान आङ्कारश्च अक्षरक जिस आङ्काररूप चतु  
तुष्पादास्मेति ध्यास्याता यः— पाद आत्माका अभिधेय ( वाच्यार्थ )  
की प्रधानतासे वर्णन किया है—

सोऽयमात्माच्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्र पादा मात्रा  
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

यह यह आत्मा अक्षररूपसे ओङ्कार है, यह मात्राओंके त्रिव्य करक स्थित है । पाद ही मात्रा है आर मात्रा ही पाद है; ये मात्रा अकार, उकार और मकार है ॥ ८ ॥

साऽपमात्माप्यथरमक्षरमधि  
 कृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्य  
 मानोऽप्यक्षरम् । किं पुनस्तद-  
 क्षरमि-शाह, ओङ्कार । साऽप्य-  
 ओङ्कार पादऽऽः प्रविभन्वमान ,  
 अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत  
 इत्यधिमात्रम् । कथम् ? आत्मना  
 ये पादाम्त आङ्कारस्य मात्रा ।  
 क्वात्माः । अकार उकारो मकार  
 इति ॥ ८ ॥

वह यह आत्मा अप्यक्षर है,  
 अक्षरका आत्मप लेकर निसका  
 अधिधानकी प्रधानतासे वर्णन किया  
 जाय उसे अप्यक्षर कहते हैं ।  
 किन्तु यह अक्षर है क्या ? इसपर  
 कहते हैं—यह ओङ्कार है । यह  
 यह ओङ्कार पादरूपसे विभक्त  
 किये जानेपर अधिमात्र पानी  
 मात्राको आध्यय करके क्तमान  
 रहता है, इसलिये इसे 'अधिमात्र'  
 कहते हैं । सो किस प्रकार ? क्योंकि  
 आत्माक जो पाद हैं वे ही  
 ओङ्कारकी मात्राएँ हैं । वे मात्राएँ  
 कौन-सी हैं ? अकार, उकार और  
 मकार—ये ही [ वे मात्राएँ हैं ] ॥ ८ ॥

मकार और विभक्त तादात्म्य

तत्र विशेषनिषम छिपते— } अब ठकमें विशेष नियम किया  
 जाना है—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार प्रथमा मात्रा  
 प्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानात्तिश्च भवति  
 य एव वेद ॥ ९ ॥

निसका जागृति स्थान है यह वैश्वानर स्यासि और आत्माके  
 कारण [ आङ्कारकी ] पहली मात्रा अकार है । जो उपासक इस प्रकार  
 जानय है यह सन्तुष वाननरोंको प्राप्त कर लेता है और [ महापुरुषमें ]  
 अति ( प्रथम ) होता है ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरा यः } जो जागरित स्थानवाला वैश्वानर  
 स्र ओङ्कारमाकार प्रथमा मात्रा । है यही ओङ्कारकी पहली मात्रा

फनसामान्यनेत्याह—आप्तो गति  
 म्याप्तिरकारणं सुषा वाग्न्यात्ता  
 “अकारा वै सुषा वाक्” ( ए०  
 आ० २ । ३ । ६ ) इति श्रुतः ।  
 तथा वैश्वानरस्य जगतः “तस्य  
 ह या ष्वत्स्यामना वैश्वानरस्य  
 मूर्ध्व सुतजा ” ( छा० उ० ५ ।  
 १८ । २ ) इत्यादिभ्युते ।

अभिधानाविधेयपारकस्व  
 चाबोधाम । आदिरस्य विद्यत  
 इत्यादिमघथैषादिमदकारास्यम-  
 धर तथा वैश्वानरस्तस्माद्वा  
 सामायादकारस्य वैश्वानरस्य ।  
 तदेकरवचिदः फलमाह—आप्तोति  
 ह वै सवान्कामानादि प्रथमम  
 भवति महतां च एवं वेद,  
 यथोक्तमेकस्य वेदेत्यर्थः ॥ ९ ॥

वकार है । किन्तु सनान्तके करन  
 नहीं मन्ना है—इत्तर कहते हैं—  
 नातिक्र करण, कटिकर कर्य म्पति  
 है । “अकार निश्चय ही सन्तु  
 वाणी है” इस धुतिके अनुसार  
 अकारसे समस्त वाणी म्पति है ।  
 तथा “उम इस वैश्वानर वाग्नाक  
 मस्तक ही पुत्राक है” इस धुतिके  
 अनुसार वैश्वानरसे साय अग्न्  
 म्पति है ।

अभिधान ( वाचक ) और  
 अभिधेय ( वाच्य ) की एकता से  
 हम कह ही चुके हैं । जिसमें आदि  
 ( प्रथमता ) हो उसे आदिमत्  
 कहते हैं । जिस प्रकार अकार  
 नामक अक्षर आदिमान् है वही  
 प्रकार वैश्वानर भी है । उसी  
 समानताके कारण वैश्वानरकी  
 अक्षररूपता है । उनकी एकता  
 आग्नेवालेके विषे फल बतकाया  
 जाता है—जो पुरुष ऐसा जानता  
 है अर्थात् तत्पर्युक्त एकत्वको जानने  
 वाला है वह समस्त कामनाओंको  
 प्राप्त कर लेता है तथा महापुरुषोंमें  
 आदि—प्रथम होता है ॥ ९ ॥

उच्चर और तैजसश्च तादात्म्य

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षा  
 दुमयत्वाद्दोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति  
 नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एतं ॥ १० ॥

स्वप्न मिसका स्थान है वह तेजस उत्कथ तथा मध्यवर्तित्वक कारण ओङ्कारकी द्वितीय मात्रा उत्कर है । जो उपासक ऐसा जानता है वह अपनी ज्ञानसन्तानक उत्कर्ष करता है, सबके प्रति समान होता है और उसक मशमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता ॥ १० ॥

स्वप्नस्थानस्त्वसो यः स

ओङ्कारस्योकारो द्वितीया मात्रा ।

केन सामान्येनेरयाह—उत्कर्षात् ।

मकारादुत्कृष्ट इव बुद्धारस्तथा

तैश्चसा विश्वाद्बुभस्त्वाङ्गाकारम

कारयोर्मध्यम्य उत्कारस्तथा

विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये संज्ञसोऽस्त

उमयभाक्त्वसामान्यात् ।

विद्वत्कलमुपपत्ते—उत्कर्षति

इ वे ज्ञानसन्ततिम् । विज्ञानसन्तति

वक्ष्यतीत्यर्थः । समानस्तुन्यम

मिन्नपक्षस्तेषु सन्नुपस्थाणामप्यप्र

ज्ञप्त्या भवति । अत्रविद्वद्य

कुल न भवति य एव च ॥ १० ॥

जो स्वप्नस्थानवाला तेजस है वह ओङ्कारकी दूसरी मात्रा उत्कर है ।

किस समानताके कारण दूसरी मात्रा है—इसपर कहते हैं—उत्कर्ष

के कारण । जिस प्रकार अकारसे उत्कर उत्कृष्ट-सा है उसी प्रकार

विश्वसे तेजस उत्कृष्ट है । अथवा मध्यवर्तित्वके कारण [ उन दानोंमें

समानता है ] । जिस प्रकार उत्कर अकार और मकारके मध्यमें स्थित है

उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञक मध्यमें तेजस है । अतः उमयपरत्वरूप

समानताक कारण भी [ उनमें अभिन्नता है ] ।

अब इस प्रकार जाननवालेको जो पद विद्यता है वह बुद्ध्या

जाता है—जो इस प्रकार जानता है वह ज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञान

सन्तानक उत्कथ यामी बुद्धि करता है, सबके प्रति समान—तुल्य होता

है अर्थात् मिन्नपक्षक समान अत्र-पक्षक भी अत्र्य होता है तथा

उसक बुद्धमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता ॥ १० ॥



मकार और प्राण्य तादात्म्य

सुषुप्तस्थान प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा

मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इद सर्वमपीतिश्च भवति  
य एव वेद ॥ ११ ॥

सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राण्य मान और उसके कारण ओङ्कार की तीसरी मात्रा मकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत्का मान—प्रमाण कर लेता है और उसका स्वस्थान हो जाता है ॥ ११ ॥

सुषुप्तस्थान प्राज्ञो यः स  
ओङ्कारस्य मकारस्तृतीया मात्रा ।  
केन सामान्येनेत्याह सामान्य  
मिदमत्र; मितेर्मितिर्मानं मीयते  
इव हि विश्वैब्रसो प्राज्ञेन  
प्रलयोत्पत्त्याः प्रवेष्टनिर्गमाम्नां  
प्रस्थेनेव यथाः । यथोङ्कारसमाप्ती  
पुनः प्रयागे च प्रविश्य निर्गच्छत  
इवाकाराकारो मकारे ।

अपीतर्वा । अपीतिरप्यय एकी  
मासः । आङ्कारोधारणे अन्त्ये  
ऽथर एकीमृताविवाकाराकारो ।

सुषुप्तिस्थानवाच्य ओ प्राण्य है  
वह ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार  
है। किस समानताके कारण ? सो  
बतलाते हैं—यहाँ हममें यह  
समानता है—ये मितिके कारण  
[ समान हैं ]। मिति मानको कहते हैं।  
जिस प्रकार प्रस्व (एक प्रकारके वायु)  
से जी तौले जाते हैं उसी प्रकार  
प्रक्षय और उत्पत्तिके समय मानो  
प्रवेश और निर्गमनके द्वारा प्राण्यसे  
विश्व और सैबस मापे जाते हैं,  
क्योंकि ओङ्कारकी समाप्तिपर उसका  
पुनः प्रयोग किये जानेपर मानो  
जकार और उकार मकारमें प्रवेश  
करके उससे पुनः निकलते हैं।

अपवा अशीतिके कारण भी  
उनमें एकता है। अशीति अप्यय  
अर्थात् एकीभाक्को कहते हैं। क्योंकि  
[ जिस प्रकार ] ओङ्कारका उच्चारण  
करनपर जकार और उकार अन्तिम  
अक्षरमें एकीमूल-से हो जाते हैं

तथा विश्वतैवसौ सुपुंसिकाले  
प्राप्ते । अतो वा सामान्यादेकत्व  
प्राप्तमकारयो ।

विद्वत्फलमाह; मिनोति ह  
वा इदं सर्वं जगत्प्रायास्म्यं  
जानातीत्यर्थं । अपीतिष  
क्षगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थं ।  
अत्रावान्तरफलवचनं प्रधान  
साधनस्तुत्यर्थम् ॥ ११ ॥

उसी प्रकार सुपुंसिके समय विश्व  
और तैवस प्राप्तिमें क्षीम हो जाते  
हैं । सो, इस समानताके कारण भी  
प्राप्त और मकारकी एकता है ।

अब इस प्रकार जाननवालेको जो  
फल मिलता है वह बतलाते हैं—  
[ जो ऐसा जानता है ] वह इस  
सम्पूर्ण जगत्को माप लेता है,  
वर्षात् इसका मपार्थ स्वरूप जान  
लेता है, तथा जरीति यानी जगत्का  
कारणस्वरूप हो जाता है । यहाँ  
जो अत्रान्तर फल बतलाये गये हैं वे  
प्रधान साधनकी शक्तिके क्रिये  
हैं ॥ ११ ॥

मात्रासौक्यी विश्वादिस्वता

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

विश्वस्यात्वविषक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।

मात्रासप्रतिपत्तौ स्यादातिसामान्यमेष च ॥ १९ ॥

जिस समय विश्वका अत्व—अकारमात्रत्व बतलाना इष्ट हो, वर्षात्  
वह अकारमात्ररूप है ऐसा जाना जाय तो उनके प्रापविषयकी  
समानता स्पष्ट ही है तथा उनकी व्याप्तिरूप समानता भी स्पष्ट  
ही है ॥ १९ ॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा  
विषयते तदादित्वसामान्य  
मुक्तन्यायेनोत्कटमुद्धृतं इदमत्र

जिस समय विश्वका अत्व यानी  
अकारमात्रत्व कहना इष्ट होता  
है उस समय पूर्वोक्त न्यायसे उनके  
प्रापविषयकी समानता स्पष्ट

इत्यर्थः । अस्वविवक्षापामित्यस्य  
 व्याख्यान मात्रासंप्रतिपद्याविति  
 विश्वसाकारमात्रस्य यदा  
 सप्रतिपद्यत इत्यर्थः । आग्नि  
 सामान्यमेव चोत्कटमित्मनुवर्तते  
 चञ्चब्दात् ॥ १० ॥

अर्थात् उद्भूत ( प्रवृत्तरूपसे )  
 दिव्यापी देती है । मात्रासंप्रति-  
 पत्तौ—यद् 'अस्वविवक्षापाम्'  
 इस पदकी ही व्याख्या है ।  
 तत्पर्यं यद् है कि जिस समय  
 विश्वके अकारमात्रत्वका ज्ञान होता  
 है उस समय उसकी व्याप्तिकी  
 समानता तो स्पष्ट ही है । यहाँ 'च'  
 शब्दसे 'उत्कटम्' इस पदकी  
 अनुवृत्ति की जाती है ॥ १० ॥

सैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।

मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयस्य तथाविधम् ॥ २० ॥

सैजसके उकाररूप जाननेपर अर्थात् सैजस उकारमात्रारूप है ऐसा  
 जाननेपर उकार उत्कर्ष स्पष्ट दिव्यापी देता है । तथा उकार उमपत्त्व भी  
 स्पष्ट ही है ॥ २० ॥

सैजसस्योत्वविज्ञान उकारस्य  
 विवक्षायास्तुत्कर्षो दृश्यते स्फुट  
 स्पष्ट इत्यर्थः उमपत्त्व च स्फुट  
 मेवेति । पूर्ववत्सर्वम् ॥ २० ॥

सैजसके उत्व-विज्ञानमें अर्थात्  
 उकार उकाररूपसे प्रतिपादन करने-  
 में उकार उत्कर्ष तो स्पष्ट ही दिव्यापी  
 देता है । इसी प्रकार उमपत्त्व भी  
 स्पष्ट ही है । शेष सब पूर्ववत् है ॥ २० ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।

मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

प्राज्ञकी मकाररूपतामें अर्थात् प्राज्ञ मकारमात्रारूप है—ऐसा  
 जाननेमें उकार माल करनेकी समानता स्पष्ट है । इसी प्रकार उममें उ-  
 म्मान होनेकी समानता भी स्पष्ट ही है ॥ २१ ॥

मकारस्थे प्राणस्य मितिलया  
धुक्कण्ठे सामान्ये इत्यर्थे ॥ २१ ॥

प्राणके मकाररूप होममें माग  
और ध्यरूप समानता स्पष्ट है—  
यह इसका तात्पर्य है ॥ २१ ॥

ओङ्कारोपसङ्ग प्रभाव

त्रिषु धामसु यस्तुस्य सामान्य वेत्ति निश्चित ।

स पूज्य सर्वभूतानां कन्धमैव महामुनि ॥ २२ ॥

जो पुरुष तीनों स्थानोंमें [ बतलायी गयी ] तुल्यता धरना समानताको  
निश्चयपूर्वक जानता है वह महामुनि समस्त प्राणिपोंका पूजनीय और  
कन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

यथोक्तस्नानप्रये यस्तुस्युक्त  
सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदितिनिश्चिता  
यः स पूज्यो ब-पय प्रह्वविह्लोके  
भवति ॥ २२ ॥

उपर्युक्त तीनों स्थानोंमें तुल्य  
रूपसे बतलायी गयी समानताको  
ना 'यह इसी प्रकार है' ऐसा निश्चय-  
पूर्वक जानता है वह ब्रह्मवेत्ता ध्येकमें  
पूजनीय एवं कन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

ओङ्कारकी श्मस्तोत्रनामके फल

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां  
मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा  
यथोक्तोङ्कार प्रतिपद्यो श्वायति  
तम्—

पूर्वोक्त समानताओंसे व्यक्तोंके  
पादोंका मात्राओंके साथ एकत्व  
करके उपर्युक्त ओङ्कारको जानते हुए  
जो उसका ध्यान करता है उसे—

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।

मकारश्च पुन प्राञ्ज नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है तथा उकार तैजसको और मकार  
प्राञ्जको, किन्तु अमात्रमें किसीकी गति नहीं है ॥ २३ ॥

अकारो नयते विश्व प्रापयति ।  
 अकारालम्बनोद्धार विद्वान्वैश्वानरा मघतीत्यर्थः । तथोकारस्तैमसम् । मकारश्चापि पुनः प्राङ्गम् । चक्षुन्दान्नपथ इत्यनुवर्तते । क्षीणे तु मकारे बीजभाष्ययादमात्र ओद्धारो गतिर्न विद्यते कश्चिदित्यर्थ ॥ २३ ॥

अकार विद्यते प्राप्त करा दत्ता है; अर्थात् अकारके वाञ्छित ओंकार को जाननवाला पुरुष वैश्वानर होता है । इसी प्रकार उकार तैमसको और मकार पुनः प्राङ्गको प्राप्त करा देता है । 'च' शब्दसे 'नयते' (प्राप्त करा देता है) इस क्रियाकी अनुवृत्ति होती है । तथा मकारका क्षय होनेपर बीजभाष्यका क्षय हो जानेसे मात्राहीन ओंकारमें कोई गति नहीं होती—यह इसका तात्पर्य है ॥२३॥

अमात्र और आत्माका तादात्म्य

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैत एवमोद्धार आत्मैव सविशत्यात्मनात्मानं य एव वेद ॥ १२ ॥

मात्रारहित ओद्धार तृतीय आत्मा ही है । यह अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव और अद्वैत है । इस प्रकार ओद्धार आत्मा ही है । जो उसे इस प्रकार जानता है वह अतः अपने आत्मामें ही प्रवेश कर जाता है ॥ १२ ॥

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओद्धारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवसोऽभिधानाभिधेय रूपयोर्वाच्यनसतोः क्षीणत्वाद् व्यवहार्यः । प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एव यथोक्त

अमात्र—त्रिसुक्ती मात्रा नहीं है यह अमात्र ओद्धार चौथा अर्थात् तृतीय केवल आत्मा ही है । अभिधान रूप वाणी और अभिधेयरूप मनका क्षय हो जानेके कारण यह अव्यवहार्य है तथा यह प्रपञ्चकी निषेधात्मि, मङ्गलम और अद्वैत-

विज्ञानवता प्रयुक्त आह्वार  
स्त्रिमाश्रयिपाद आत्मैव । संधि  
पस्यात्मना स्वनैव । स्वपारमार्थि-  
कमात्मान य एव वेद । परमार्थ  
दर्शी ब्रह्मविद्दृतीय धीधभावं  
दग्ध्यात्मान प्रविष्ट इति न  
पुनर्भाषते तुरीयस्याभीजत्वात् ।

न हि रज्जुसर्पभारिविक  
रज्जुशो प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारा-  
रात्पुनः पूर्वघट्टिवेकिनामुत्था-  
सति । मन्दमध्यमधियां तु  
प्रतिपन्नसाधकभावानां स-मार्ग-  
गामिनां सन्यासिनां मात्राणां  
पादानां च क्लृप्तवामान्यविदां  
यथाशुपात्म्यमान आह्वारा प्रद्व  
प्रतिपत्तय आत्मवनीभवति तथा  
च वक्ष्यति—“श्राद्धमास्त्रिविधाः”  
( माण्डू० का० ३ । १६ )  
इत्यादि ॥ १२ ॥

सत्य है । इस प्रकार पूर्वोक्त  
विज्ञानवान् उपासकद्वारा प्रयोग  
किया हुआ तीन मात्रावाला आह्वार  
तीन पादवाला आत्मा ही है । जो  
इस प्रकार जानता है [ अर्थात्  
इस प्रकार उसकी उपासना करता  
है ] वह क्षत ही अपने पारमार्थिक  
आत्मामें प्रवेश करता है । परमार्थ-  
दर्शी ब्रह्मवेत्ता तीसरे योगमात्रका  
भी दग्ध करके आत्मामें प्रवेश करता  
है इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं  
होता, क्योंकि तुरीय आत्मा खरीदा  
त्मक है ।

रज्जु और सर्पका विवेक हो  
जानपर रज्जुमें तीन हुआ सर्प किन्हीं  
उत्सुक विवेक हो गया है उन  
पुरुषोंका बुद्धिके संस्कारवश पुन  
प्रतीत नहीं हो सकता । किन्तु जो  
मन्द और मध्यम बुद्धिवाले, साधक-  
भावको प्राप्त, सम्पन्नगामी सन्यासी  
पूर्वोक्त मात्रा और पादोंके निश्चित  
सामान्यभावका जाननेवाले हैं उनके  
लिये ता विभिन्न उपासना क्रिया  
हुआ आह्वार ब्रह्मप्राप्तिक लिये  
आश्रयस्वरूप जाना है । यही बात  
तीन प्रकारक आश्रय है” इत्यादि  
बक्योसे कहेंगे ॥ १० ॥

समस्त और व्यस्त ओङ्कारोपासना

पूर्वपद—

पहलेक समान—

अत्रैत न्नोक्त्य भयम्ति—

इती अर्थमे ये श्लोक भी हैं—

ओङ्कार पादशो विद्यात्पादा मात्रा न सशय ।

ओङ्कार पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

ओङ्कारको एक-एक पाद करके जाने पाद ही मात्राएँ हैं—इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार ओङ्कारका पादक्रमसे जानकर कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २४ ॥

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव

मात्रा मात्राश्च पादास्तत्पादाङ्कारं

पादश्चाविद्यादित्यर्थः। एवमाङ्कारे

ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किञ्चित्

प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादि

त्यर्थः ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त सामान्यार्थके कारण पाद ही मात्राएँ हैं और मात्राएँ ही पाद हैं। अतः तत्पर्य यह है कि ओङ्कारको पादक्रमसे जाने। इस प्रकार ओङ्कारका ज्ञान हो जानेपर कृतार्थ हो जानेके कारण किसी भी दृष्टार्थ ( ऐहिक ) अथवा अदृष्टार्थ ( पारलौकिक ) प्रयोजनका चिन्तन न करे—यह इसका अभिप्राय है ॥ २४ ॥

युक्तीत प्रणवे चेत प्रणवो ब्रह्म निभयम् ।

प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भय विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

चित्तको ओङ्कारमें समाहित करे ओङ्कार निर्मय ब्रह्मपद है। ओङ्कारमें नित्य समाहित रहनेवासे पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता ॥ २५ ॥

युक्तीत समादध्याद्यथाध्या

ख्याते परमार्थरूप प्रणवे चेत

चित्तकी पहले ध्याख्या की जा

चुकी है उस परमार्थरूप ओङ्कारमें

मन । यस्मात्प्रणवो ब्रह्म  
निर्मयम् । न हि तत्र सदा  
युक्तस्य भय विद्यते क्वचित्  
“विद्वान् भवेति श्रुतमन”  
(सं० उ० २।९) इति श्रुतेः ॥ २५ ॥

विद्यते युक्त-समाहित फल, क्योंकि  
ओङ्कार ही निर्मय ब्रह्म है । उसमें  
किस्य समाहित रहनवाला पुरुषको  
कहीं भी भय नहीं होता, ऐसा कि  
‘विद्वान् कहीं भी भयका प्राप्त नहीं  
होता’ इस श्रुतिसे प्रामाणित होता  
है ॥ २५ ॥

प्रणवो ह्यपर ब्रह्म प्रणवश्च पर स्मृत ।

अपूर्वोऽनन्तरोऽघाहोऽनपर प्रणवोऽव्यय ॥ २६ ॥

ओङ्कार ही परब्रह्म है और ओङ्कार ही अवरब्रह्म माना गया है ।  
यह ओङ्कार अपूर्व ( अकारण ) अनन्तर्भावशून्य, अकाल तथा अव्यय  
है ॥ २६ ॥

परापर ब्रह्मणी प्रणवः । पर  
मार्पितः धीणपु मात्रापादेषु पर  
एवात्मा प्रद्यति न पूर्वे कारणमस्य  
विद्यत इत्यपूर्वः । नामान्तर भिन्न  
त्रातीय किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तर ।  
तथा वाचमन्यस्य विद्यत इत्य  
वाचः । अवरं वायमस्य न  
विद्यत इत्यनपरः । मवाचा  
म्यन्तग वाच संन्धवपनान्  
प्रधानपत्र इत्ययः ॥ २६ ॥

पर और अवर ब्रह्म प्रणव है ।  
वस्तुतः मात्रात्पु पात्रोंके धीम  
हामेवर पर आत्मा ही ब्रह्म है, इसलिये  
इसका कोई पूर्व वाली कारण न  
होनेसे यह अपूर्व है । इसका कोई  
अन्तर-भिन्नशक्तीय भी नहीं है,  
इसलिये यह अनन्तर है तथा इससे  
बाद भी वाच और नहीं है,  
इसलिये यह अवाच है और इसका  
बाद अवर-वायव भा नहीं है इस  
लिये यह अनपर है । तदर्थ यह  
है कि यह अवर-अनन्तमे अत्रमा  
मवाचा वाच संन्धवपनान्  
ही है ॥ २६ ॥



सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।

एवं हि प्रणव ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है । प्रणवको इस प्रकार जाननेके अनन्तर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

आदिमध्यान्तात्स्पष्टिस्त्रिति  
प्रलयाः सर्वस्यैव । मायाइति  
रन्ध्रसर्पमृगावृष्णिकास्त्रमादिवद्  
उत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य  
यथा मायाभ्यादयः । एवं हि  
प्रणवमात्मानं मायाभ्यादिस्त्वा  
नीयं ज्ञात्वा तत्पुणादेव तदारम्भ-  
भावं व्यश्नुते इत्यर्थः ॥ २७ ॥

सबका आदि, मध्य और अन्त  
अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रणय  
प्रणव ही है । जिस प्रकार कि माया  
मय हाथी, रन्ध्रमें प्रतीत होनेवाले  
सर्प, मृगावृष्णा और अन्नादिके  
समान उत्पद्य होनेवाले आकरशादि  
रूप प्रपञ्चके कारण मायावी आदि  
हैं वही प्रकार मायावी आदिस्वानीय  
उस प्रणवरूप आत्माको जानकर  
विश्रान्त तत्काल ही तद्रूपताको प्राप्त हो  
जाता है—ऐसा इसका तद्रूप है ॥ २७ ॥

प्रणव हीश्वर विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।

सर्वव्यापिनमोद्धार मत्वा धीरो न शोषति ॥ २८ ॥

प्रणवको ही सबके हृदयमें स्थित ईश्वर जान । इस प्रकार सर्वव्यापी  
आद्धारको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

सर्वप्राणिजातस्य सृष्टि-  
प्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं  
प्रणव विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योम  
पदाद्धारमात्मानमसृष्टारिणं धीरा  
बुद्धिमान्मम्या न शोषति

प्रणवको ही समस्त प्राणि-  
समुदायके सृष्टिप्रत्ययके अग्रयमूत  
हृदयमें स्थित ईश्वर समझे । बुद्धिमान्  
पुरुष आकाराके समान सर्वव्यापी  
आद्धारका असंसारि आत्मा [—शुद्ध  
अग्रयमूत ] जानकर, शोकक कारण

शोकनिमित्तानुपपन्नः । “तरति  
शोकमात्मवित्” ( छा० उ० ७ ।  
१ । ३ ) इत्यादिभ्रुविभ्यः ॥ २८ ॥

का अभाव हो जानेसे शोक नहीं  
करता जैसा कि “अश्रमवेत्ता शोक-  
को पार कर जाता है” इत्यादि  
श्रुतिमोक्षे प्रमाभित होस्य है ॥ २८ ॥

शोकप्रसङ्ग ही मुनि है

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशम शिव ।

ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ २९ ॥

भिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रावाले, द्वैतके उपशमस्थान और  
मङ्गलमय ओङ्कारको जाना है वही मुनि है; और कोई पुरुष नहीं ॥ २९ ॥

अमात्रस्तुरीय आङ्कारः । मीयते

ऽनभेति मात्रा परिच्छिन्तिः सा  
अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः ।

नैतावस्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत  
इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वाद्ब

शिव । ओङ्कारो यथाव्याख्यातो  
विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य

मननाद्भुनिः । नेतरो जनः

शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अमात्र तुरीय ओङ्कार है । निः-  
से मान किया जाय उसे ‘मात्रा’  
अर्थात् ‘परिच्छिन्ति’ कहते हैं, वह  
मात्रा भिसकी अनन्त हो उसे  
‘अनन्तमात्र’ कहा जाता है । तात्पर्य  
यह है कि इसकी इच्छाकर परिच्छेद  
नहीं किया जा सकता । सम्पूर्ण  
द्वैतका उपशमस्थान होनेके कारण  
ही वह शिव ( मङ्गलमय ) है ।  
इस प्रकार व्याख्या किया हुआ  
ओङ्कार भिसने जाना है वही परमार्थ  
तत्त्वका मनन करनेवाला होनेसे  
‘मुनि’ है, दूसरा पुरुष शास्त्र  
ज्ञानपर भी मुनि नहीं है—एसा  
इसका तात्पर्य है ॥ २९ ॥

इति श्रीगोविन्दमगधपूज्यशास्त्रिभ्यः परमहंसपरिव्रजकृष्णार्थस्य  
दाहरमगधत कृताशागमशास्त्रविवरणे गौडपाटीयकारिक-  
सहितमाङ्कव्योपनिषद्भाष्ये प्रथमभागप्रकरणम् ॥ १ ॥

ॐ तत्सत् ।

## वैतथ्यप्रकरण

ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्,

“एकमेवाद्वितीयम्”

मन्त्रमस्य (छा० उ० ६।२।१)

इत्यादिमुक्तिभ्यः ।

आगममात्रं तत् । तत्रोपपश्यापि  
द्वैतस्य वैतथ्यं सूक्ततेऽवधारयि  
तुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—

“एकमेवाद्वितीयम्” इत्यादि मुक्ति-  
पोंके अनुसार ( वाग्म-प्रकरणकी  
१८ वीं कारिकामें ) यह कहा गया  
है कि ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं  
रहता । वह केवल आगम ( शास्त्र  
वचन ) मात्र था । किन्तु द्वैतका  
मिथ्यात्व मुक्तिसे भी निश्चय किया  
जा सकता है, इसीलिये इस दूसरे  
प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

स्वप्नदृष्ट पदार्थोक्त मिथ्यात्व

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिण ।

अन्तःस्थानात्तु भावानां सवृतत्वेन हेतुना ॥ १ ॥

[ स्वप्नावस्थामें ] सब पदार्थ शरीरके भीतर स्थित होते हैं, अतः  
स्वप्नके सङ्कोचके कारण मनीषिण स्वप्नमें सब पदार्थोंका मिथ्यात्व  
प्रतिपादन करते हैं ॥ १ ॥

विसृथस्य भावो वैतथ्यम्,  
असत्यत्वमित्यर्थः । कस्य ? सर्वेषां  
बाह्याभ्यात्मिकानां भावानां  
पदाधानां स्वप्न उपलभ्यमाना  
नाम्, आहुः कथयन्ति, मनीषिणः  
प्रमाणकुशलाः । वैतथ्ये हेतुमाह—

चित्तप ( मिथ्या ) के भ्रमका  
नाम ‘वैतथ्य’ अर्थात् असत्यत्व है ।  
किसका वैतथ्य ? स्वप्नमें प्रकृत  
होनेवासे सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक  
पदार्थोंका मनीषिण अर्थात् प्रमाण-  
कुशल पुरुष वैतथ्य बतलाते हैं ।  
उनके मिथ्यात्वमें हेतु बतलाते हैं—

अन्तःस्नानात्, अन्त  
 शरीरस्य मध्ये स्नान  
 येषाम् । तत्र हि  
 माना उपलभ्यन्ते  
 पर्वतहस्त्यादयो न परिः  
 शरीरात् । तस्मात्ते पितृणा भवितु  
 मर्हन्ति । नन्वपबरकायान्तरुपसम्भ-  
 मानैर्षटादिभिरनैकान्तिष्वे हेतु  
 रिस्वाद्यहृद्याह—संभूतरवेन हेतु  
 नेति, अन्तः संभूतस्नानादित्यर्थः ।  
 न अन्तः संभूते देहान्तर्नाडीषु  
 पर्वतहस्त्यादीनां सम्भवोऽस्ति, न  
 हि देहे पर्वतोऽस्ति ॥ १ ॥

अन्त स्व होनेके कारण, अन्तर  
 अर्थात् शरीरके मध्यमें स्नान  
 है तिनका [ ऐसे होनेके कारण ],  
 क्योंकि वहाँ पर्वत एवं हस्ती आदि  
 समस्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं,  
 शरीरसे बाहर उनकी उपलब्धि वहाँ  
 होती इसलिये वे मिथ्या होने चाहिये ।  
 किन्तु [ यदि शरीरके भीतर उपलब्ध  
 होनेके कारण ही समस्त पदाप  
 मिथ्या है तो ] गृह आदिके  
 भीतर दिखायी देनेवाले घट आदिमें  
 तो यह वस्तु व्यभिचरित हो जायगा  
 [ क्योंकि वहाँ जो उनकी प्रतीति है वह  
 ही सत्य ही है ]—ऐसी शङ्का होन  
 पर कहते हैं—‘स्नानके सङ्कोचके  
 कारणसे ।’ तात्पर्य यह कि शरीरके  
 भीतर संकुचित स्नान होनेसे [ उन  
 का मिथ्यात्व कहा जाता है ] ।  
 देहके अन्तर्ती संकुचित नाडीवाल्में  
 पर्वत या हाथी आदिका हावा सम्भव  
 नहीं है । देहके भीतर पर्वत नहीं  
 हो सकता ॥ १ ॥

स्नानहस्यानां भाषानामन्तः  
 संभूतस्नानमित्येतदसिद्धम्,  
 यस्मात् प्राण्येषु सुप्त उदङ्मु

स्नानमें दिखायी देनेवाले पदार्थों-  
 का शरीरके भीतर संकुचित स्नान  
 है—यह बात सिद्ध नहीं हो सकती,  
 क्योंकि पूर्व दिशामें सोया हुआ  
 पुरुष उत्तर दिशामें स्नान देखता-सा  
 देखा जाता है [ अतः यह शरीरसे

स्वप्नान्पश्यन्निव इक्ष्मत् इत्येव । बाहर वहाँ जाकर उन्हें देखता होगा ]  
सदाशङ्कपाद— । —ऐसी आशङ्का परके कहते हैं—

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशाच्च पश्यति ।

प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ २ ॥

समयकी अदीर्घता होनेके कारण वह देखसे बाहर जाकर उन्हें नहीं देखता तथा जागनेपर भी कोई पुरुष उस देशमें विद्यमान नहीं रहता ।  
[ इससे भी उसका स्वप्नदृष्ट देशमें न जाना ही सिद्ध होता है ] ॥ २ ॥

न देहाद्भिर्देशान्तरं गत्वा  
स्वप्नान्पश्यति । यस्मा  
त्सुप्तमात्र एव दृष्ट  
देशान्तरं देहाद्योन्नतान्तरिते  
मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्य  
न्निव इक्ष्मत् । न च तद्देशप्राप्त-  
रागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति ।  
अतोऽदीर्घत्वाच्च कालस्य न  
स्वप्नदृष्टदेशान्तरं गच्छति ।

वह देखसे बाहर देशान्तरमें  
जाकर स्वप्न नहीं देखता, क्योंकि  
वह सोया हुआ ही देखके स्वानसे  
एक मासमें पहुँचने योग्य सौ  
योन्नतकी दूरीपर स्वप्न देखता-सा  
देखा जाता है । [ उस समय ] उस  
देशमें पहुँचने और वहाँसे छोटने  
योग्य दीर्घकाल ही नहीं । अत  
कालकी अदीर्घताके कारण वह स्वप्न-  
दृष्ट किसी देशान्तरमें नहीं जाता ।

किं च प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः  
स्वप्नदृष्टस्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते ।  
यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छे-  
द्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव  
प्रतिबुध्येत । न चैतदस्ति । रात्रौ  
सुप्ताऽहनीष भावान्पश्यति; बहुभिः  
संघतो भवति, यथा संगत-

यही नहीं, जागनेपर भी कोई  
स्वप्नदृष्ट स्वप्न देखनेके स्वानमें नहीं  
रहता । यदि वह स्वप्नके समय  
किसी देशान्तरमें जाता तो विस  
देशमें स्वप्न देखता उसीमें जागता ।  
किन्तु ऐसी बात नहीं होती ।  
वह रात्रिमें सोया हुआ मालो दिनमें  
पदार्थोंको देखता है और बहुतसे  
मिलता है अत जिनसे उसका मेल  
होता है उनके द्वारा वह गृहीत

स्वैर्गृह्येत । न च गृह्यते; गृहीत  
 श्वेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्ता  
 वयमिति श्रूयुः । न चैतदस्ति,  
 तस्मान्न देशान्तर गच्छति  
 स्वप्ने ॥ २ ॥

होना चाहिये था । परन्तु गृहीत  
 होता नहीं; यदि गृहीत होता तो  
 'इमने तुम नहीं पाया था' ऐसा  
 कहते । परन्तु ऐसी बात है नहीं;  
 वत समझे वह किसी देशान्तरका  
 नहीं जाता ॥ २ ॥

इत्थं स्वप्नदृश्या भावा  
 पितया यतः—

समझे दिखायी देनवाले कल्प  
 इसकिये भी मिथ्या हैं, क्योंकि—

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।

वैतथ्य तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥ ३ ॥

मुनिमें भी [ स्वप्नदृश्य ] रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है ।  
 वत [ उपर्युक्त युक्तिसे ] सिद्ध हुए मिथ्याहमके ही स्वप्नमें स्पष्ट बतलाते  
 हैं ॥ ३ ॥

अभावश्चैव रथादीनां स्वप्न  
 रथस्वप्नदृश्ये रथानां भूयते न्याय  
 निष्पन्नश्च पूर्वकं युक्तिवः भूतौ "न  
 तत्र रथा" (पृ० उ० ४।३।१०)  
 इत्यत्र । देहान्त स्वानसङ्गतत्वादि  
 हेतुना प्राप्तं वैतथ्य तदनुभादिन्या  
 भूत्वा स्वप्ने स्वयन्प्राप्तिप्रसि  
 पादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्म  
 विद ॥ ३ ॥

"इस अवस्थामें रथ नहीं हैं"  
 इत्यादि मुनिमें भी स्वप्नदृश्य रथादि  
 का अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया  
 है । वत वस्तु स्वान तथा स्वानके  
 संकाय आदि हेतुओंसे सिद्ध हुआ  
 मिथ्यात्व, उसका अनुवाद करनेवाली  
 तथा समझे जारमाका स्वयंप्रकाशत्व  
 प्रतिपादन करनेवाली मुनिद्वारा  
 प्रकथिता स्पष्ट बतलाते हैं ॥ ३ ॥

वामदृश्यं परार्थके मिथ्यात्वमे हेतु

अन्त स्यानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।

यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन मिथ्यते ॥ ४ ॥

इसीसे जाग्रद्-व्यसामें भी पदार्थोंका मिष्यात्व है, क्योंकि जिस प्रकार वे वहाँ सप्तमस्वामें [ मिष्या ] होते हैं उसी प्रकार जाग्रद्में भी होते हैं । केवल शरीरके भीतर स्थित होने और स्वानके संकुचित होनेमें ही स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका अर्थ है ॥ ४ ॥

जाग्रद्दृष्ट्यानां भाषानां वैत  
 न्यायार्थं च ध्यामिति प्रतिज्ञा ।  
 इत्येव दृश्यत्वादिति हेतुः ।  
 मिष्यात्वम् स्वप्नदृश्यभाववदिति  
 दृष्टान्तः । यथा तत्र स्वप्ने  
 दृष्ट्यानां भाषानां वैतथ्यं तथा  
 जागरितेषुपि दृश्यत्वमविशिष्ट  
 मिति हेतुपत्तयः । तस्माज्जाग  
 रितेषुपि वैतथ्यं स्मृतमिति  
 निगमनम् । अन्तःस्थानास्तंभुत  
 त्वेन च स्वप्नदृष्ट्यानां भाषानां  
 जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः । दृश्यत्वम  
 सत्यत्वं चाविशिष्टमयत्र ॥ ४ ॥

जाग्रद्-व्यसामें देखे हुए पदार्थ  
 मिष्या हैं—यह प्रतिज्ञा है । दृश्य  
 होनेके कारण—यह उत्सुक हो  
 है । सप्तममें देखे हुए पदार्थोंके समान  
 —यह दृष्टान्त है । जिस प्रकार वहाँ  
 सप्तममें देखे हुए पदार्थोंका मिष्यात्व  
 है उसी प्रकार जाग्रद्में भी उनका  
 दृश्यत्व समानरूपसे है—यह हेतु-  
 पत्तय है । अतः जाग्रत्में भी उन-  
 का मिष्यात्व माना गया है—यह  
 निगमन है । अन्तःस्थ होम और  
 स्वानका संकुच होनेमें सप्तम  
 मर्थोंका जाग्रद्दृष्ट भावोंसे भेद है ।  
 दृश्यत्व और अदृश्यत्व तो दोनों ही  
 व्यवस्थानोंमें समान हैं ॥ ४ ॥

स्वप्नजागरितस्थाने

द्वेषमाहुर्मनीषिणः ।

भेदानां हि समत्वेन

प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रसिद्ध हेतुसे ही पदार्थोंमें समानता होनेके कारण  
 निवेकी पुरुषोंमें सप्त और जागरित व्यवस्थानोंको एक ही कल्पना है ॥ ५ ॥

१ स्वातिविशिष्ट हेतु पदार्थ है—यह प्रतिपादन करना ही हेतुपत्तय  
 कहना है ।

प्रसिद्धेनैव मेदानां प्राग्  
 मध्यमत्वेन ब्राह्मणत्वेन हेतुना  
 तत्र समत्वेन स्वप्न  
 आगरितस्नानयोरेकत्वमाहुर्विद्वे  
 किं इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव  
 फलम् ॥ ५ ॥

पदार्थोंके प्राग्प्रमाणत्वरूप प्रसिद्ध  
 हेतुसे समानता होनेके कारण ही  
 विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और आगरित  
 क्तवस्वाओंका एकत्व प्रतिपादन किया  
 है—इस प्रकार यह पूर्व प्रमाणसे  
 सिद्ध हुए हेतुका ही फल है ॥ ५ ॥

इतथ वैतथ्य आप्रवृत्तानां  
 मेदानामाद्यन्तयोरभावात् ।

आप्त-व्यवस्थामें दिखल्यपी देने  
 वाले पदार्थोंका मिथ्यात्व इसलिये भी  
 है क्योंकि वादि और अन्तमें उनका  
 अभाव है ।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

वितथै सदृशा सन्तोऽवितथा इव लक्षिता ॥ ६ ॥

जो वादि और अन्तमें नहीं है [ अर्थात् वादि और अन्तमें अस-  
 दृश्य है ] वह वर्तमानमें भी वैसा ही है । ये पदार्थसमूह असत्के समान  
 होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

यदादावन्ते च नास्ति वस्तु

अप्यन्ते मृगशृण्णिकादि तन्म  
 वाच्यत्वात् प्येऽपि नास्तीति  
 निश्चितं लोके तद्येमे

आप्रवृत्तानां मेदा । आद्यन्तयोर-  
 भावाद्वितथैरेव मृगशृण्णिकादिभिः  
 सदृशस्वाडितथा एव तथाप्यवि-  
 तथा इव लक्षिता मूढैरनारम-  
 विद्धिः ॥ ६ ॥

जो मृगशृण्णादि वस्तु वादि और  
 अन्तमें नहीं है वह मध्यमें भी नहीं  
 होती—यह बात आत्ममें निश्चित  
 ही है । इसी प्रकार ये आप्त  
 व्यवस्थामें दिखल्यपी देनेवाले भिन्न  
 भिन्न पदार्थ भी वादि और अन्तमें  
 न होनेसे मृगशृण्णा वादि असत्  
 वस्तुओंके समान होनेके कारण असत्  
 ही हैं तथापि मूढ अनारम्य पुरुषों  
 द्वारा वे सद्रूप समझे जाते हैं ॥ ६ ॥



स्वप्नदृश्यवज्रागरितदृश्याना  
मप्यसत्त्वमिति यदुक्ततदुक्तम् ।  
यस्माज्जाग्रदृश्या अन्नपानवाह  
नादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्ति  
कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च  
सप्रयोजनता दृष्टा । न तु  
स्वप्नदृश्यानां तदस्ति । तस्मात्स्वप्न-  
दृश्यवज्राग्रदृश्यानामसत्त्व मनो-  
रपमात्रमिति ।

तत्र । कस्मान् ? यस्मात्—

शङ्का—स्वप्नदृश्योंके समान जाग्र-  
रित अवस्थाके दृश्योंका भी जो  
असत्यत्व बतलाया गया है वह ठीक  
नहीं क्योंकि जाग्रद्दृश्य अन्न, पान  
और वाहन आदि पदार्थ मूल्य-प्यास  
की निवृत्ति तथा गमनागमन आदि  
कार्योंके करनेके कारण प्रयोजनवाले  
देखे गये हैं । किन्तु स्वप्नदृश्योंके  
विरयमें ऐसी बात नहीं है । अतः  
स्वप्नदृश्योंके समान जाग्रद्दृश्योंकी  
असत्यत्व केवल मनोरपमात्र है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है ।  
क्यों नहीं है ? क्योंकि—

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।

तस्मादाद्यन्तवश्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता ॥ ७ ॥

स्वप्नमें उन ( जाग्रद् दृश्यों ) की सप्रयोजनतामें विपरीतता आ  
जाती है । अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय मिथ्या ही  
मान गये हैं ॥ ७ ॥

सप्रयोजनता दृष्टा यान्नपाना  
दीनां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।  
आयरिते हि सुस्त्वा पीप्सा च  
वृत्तो विनिवर्तितवद्सप्तमात्र एव  
क्षुत्पिपासाघातमहोरात्रोपिषम  
सुक्कच तमात्मान मन्यते । यथा

[ जागरित अवस्थामें ] जो अन्न-  
पानादिकी सप्रयोजनता देखी गयी  
है वह स्वप्नमें नहीं रहती । जागरित  
अवस्थामें आ-पीकर वृत्त हुआ पुरुष  
वृत्तारहित होकर सोनेपर ही [ स्वप्नमें ]  
अपनेको क्षुधा पिप्सा आदिसे आर्त,  
दिम रात तपसास किया हुआ और  
बिना भोजन किया हुआ मानता है,

स्वप्ने भुक्त्वा पीरवा चासृप्तोस्थि  
 तस्तथा । तस्मान्जाग्रदृग्भानां  
 स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा । अतो  
 मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं म्र्यत्न  
 दृश्यवदनाशङ्कनीयमिति ।  
 तस्मादाद्यन्तवत्त्वमयत्र समान  
 मिति मिथ्यैव स्तुते स्मृताः ॥७॥

जिस प्रकार कि स्वप्नमें, खा-पीकर  
 जागा हुआ पुरुष अपनेको अतृप्त  
 अनुभव करता है । अतः जग्रातस्वप्न-  
 में जागद् दृश्योंकी विपरीतता देखी  
 जाती है । इसलिये स्वप्नदृश्योंके  
 समान उनकी असत्यताको भी हम  
 शङ्का न करनेयोग्य मानते हैं । इस  
 प्रकार दोनों ही अवस्थाओंमें आग्नि  
 अन्तवत्त्व समान है अतः वे निश्चय  
 मिथ्या ही माने गये हैं ॥ ७ ॥

स्वप्नजाग्रदयोः समत्वात्  
 प्रज्ञेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं  
 तदसत्, कस्मात् ? दृष्टान्तस्या  
 सिद्धत्वात् । कथम् ? न हि  
 जाग्रदृष्टा एवैते भेदा स्वप्ने  
 दृश्यन्ते । किं तर्हि ?

अपूर्वं स्वप्ने पश्यति चतुर्दन्त  
 गजमारूढमष्टसुभ्रमास्मान् मन्यते ।  
 अ-पदप्येषप्रकारमपूष पश्यति  
 म्र्यत्ने । तस्मान्येनासत्ता सममिति

स्वप्न और जाग्रत् पदार्थोंके समान  
 होनेसे जाग्रत् पदार्थोंकी जो असत्यता  
 बनझायी गयी है वह ठीक नहीं है ।  
 क्यों ? क्योंकि यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं  
 हो सकता । जैसे सिद्ध नहीं हो  
 सकता ! क्योंकि जो पत्थर जाग्रत्  
 अवस्थामें देने जाते हैं वे ही स्वप्नमें  
 नहीं देने जाते । तो उस समय  
 और क्या देखा जाता है ?

स्वप्नमें तो यह अपूष बस्तुएँ  
 देखता है । जगमको चार दौनोंपामे  
 हापीपर चढ़ा हुआ तथा आठ  
 सुभ्रानोंवाला मानता है । इसी प्रकार  
 स्वप्नमें और भी अपूर्ण बस्तुएँ देखा  
 करता है । वे किसी अन्य असत्  
 बस्तुके समान नहीं होतीं, इसलिये वे  
 सत् ही हैं । अतः यह दृष्टान्त सिद्ध

सदेव । अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः ।  
तस्मात्स्वप्नवशागरितस्वात्सर्वमि  
त्युक्तम् ।

तत्र; स्वप्ने दृष्टमपूर्व  
यन्मन्यसे न तत्स्वप्नः सिद्धम् ।  
किं तर्हि ?

नहीं हो सकता । वह स्वप्नके समान  
वागरितकरी भी बसतपत्र है—यह  
कल्पन ठीक नहीं ।

ऐसी बात नहीं है । स्वप्नमें देखी  
हुई वस्तुओंको वपूर्व समझता है  
वे स्वप्न सिद्ध नहीं हैं । तो कैसी हैं ?

अपूर्व स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।

तानय प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार [ इन्द्रादि ] स्वर्गनिवासियोंकी [ सहस्राक्षत्वादि ]  
व्यौक्तिक व्यवस्थाएँ सुनी जाती हैं उसी प्रकार यह ( स्वप्न ) भी स्वामी  
( स्वप्नद्रष्टा आत्मा ) का अपूर्व धर्म है । उन स्वप्न पदार्थोंको यह इसी  
प्रकार जाकर देखता है जैसे कि इस लोकमें [ किसी मार्गविधेयके  
सम्बन्धमें ] सुशिक्षित पुरुष [ उस मार्गसे जाकर अपने बगीच छत्पर  
पहुँचकर उसे देखता है ] ॥ ८ ॥

अपूर्व स्थानिधर्मो हि स्थानिनो  
द्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो  
धर्मः । यथा स्वर्गनिवासि  
नामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि  
तथा स्वप्नद्रष्टोऽपूर्वोऽय धर्मः ।  
न स्वप्नः सिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत् ।  
तानेवप्रकारपूर्वान्वेषितवि  
कल्पानयं म्यानी स्वप्नद्रष्टव्यप्रस्थानं  
गत्वा प्रेक्षते । यथैवेह लोके  
सुशिक्षिता दृष्टान्तरमार्गस्तेन

वे स्वामीका अपूर्व धर्म ही हैं । स्वामी  
वर्षात् स्वप्नस्थानवासिने द्रष्टाका ही धर्म  
है । जैसे कि स्वर्गनिवासी इन्द्रादिके  
सहस्राक्षत्वादि धर्म हैं उसी प्रकार  
स्वप्नद्रष्टाका यह अपूर्व धर्म है ।  
द्रष्टाके स्वरूपके समान यह स्वप्नः  
सिद्ध नहीं है । इस प्रकारके अपने  
विचाराय वक्ष्यना किये हुए उन  
धर्मोंको यह जो स्वप्न देखनेवाला  
स्वामी है स्वप्नस्थानमें जाकर देख  
करता है, जिस प्रकार इस लोकमें  
देशान्तरके मार्गिक नियमों सुशिक्षित

मार्गेण देशान्तरं गत्वा  
तान्यदार्पणान्यभ्यति तद्वत् ।  
तस्माद्यथा स्यानिघर्माणां रज्जु  
सर्पमृगशृण्णिकादीनामसञ्च तथा  
स्वप्नदृश्यानामपूर्वाणां स्यानिघर्म  
स्वमेवेत्ससञ्चमतो न स्वप्नदृष्टान्त  
स्यासिद्धत्वम् ॥ ८ ॥

पुरुष उस मार्गसे देशान्तरमें जाकर  
बहोके पदार्थोंको देखता है उसी  
प्रकार [ यह भी देखता है ] । अत  
मिस प्रकार स्वामीके भ्रम रज्जु-सर्प  
और मृगशृण्णा आदिकी व्यक्तयता है  
उसी प्रकार स्वप्नमें देखे जानेवाले  
अपूर्व पदार्थोंका भी स्यानिघर्मत्व ही  
है, अत वे भी असत् हैं । इसलिये  
स्वप्नदृष्टान्तकी असिद्धतानहीं है ॥ ८ ॥

स्वप्नमें मनःकल्पित और इन्द्रियमात्र दोनो ही

प्रकारके पदार्थ मिथ्या है

अपूर्वत्वाद्वाङ्मा  
स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां  
वाप्रदेदानां प्रपञ्चयन्नाह—

स्वप्नदृष्टान्तके अपूर्वत्वकी आदा  
द्वाका निराकरण कर दिया । अब  
पुन जाग्रत्पदार्थोंकी स्वप्नतुल्यताका  
विस्तृतरूपसे प्रतिपादन करते हुए  
कहते हैं—

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पित त्वसत् ।

बहिश्चेतोऽर्हसिं सदृष्टं वैतथ्यमेतयो ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत्  
और चित्तसे बाहर [ इन्द्रियोद्देश ] प्रकृत किया हुआ पदार्थ सत् जल  
पदार्थ है; किन्तु इन दोनोंका ही मिथ्यात्व देखा गया है ॥ ९ ॥

स्वप्नवृत्तावपि स्वप्नम्यानेऽपि  
अन्तश्चेतसा मनारथसदृष्टितम  
सत् । सदृष्टानन्तरमकालमेवा

स्वप्नकी वृत्ति अर्थात् स्वप्नस्थानमें  
भी चित्तके भीतर मनोरथसे सदृष्ट  
की हुई वस्तु असत् होती है; क्यों  
कि वह सदृष्टपदार्थ पश्चात् तत्काल  
ही दिग्दर्शनी नहीं होती । तथा तम

दर्शनाद्यन्तर्बहिःचेतसा । स्वप्नावस्थामे ही चित्तसे बाहर वस्तु  
 गृहीत चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धे । वादिवारा ग्रहण किये हुए व  
 पत्नादि सत् । इत्यथमसत्यमिति । वादि सत् होते हैं । इस प्रकार स्वप्न  
 निहितऽपि सदसद्रिभागो षट् । भी उसमें सत्-वसत्का विभाग देखा  
 उमशारप्यन्तर्बहिःचेतःकल्पितसो जाता है । किन्तु चित्तसे कल्पना किये  
 र्वेतप्यमेव षट् ॥ ९ ॥ हुए इन व्यापक और बाह्य दोनों  
 ही प्रकारके पदार्थोंका मिश्रण  
 देखा गया है ॥ ० ॥

जाग्रत्में भी दोनों प्रकारके पदार्थ मिश्रण हैं

जाग्रद्वृत्त्यापि त्वन्तर्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।

चद्विचेतो गृहीत सद्युक्तं चैतध्यमेतयो ॥ १० ॥

इसी प्रकार जाग्रत्स्थामे भी चित्तके भीतर कल्पना किये हुआ  
 पदार्थ वसत् तथा चित्तसे बाहर ग्रहण किये हुआ पदार्थ सत् समझा  
 जाता है । परन्तु इन दोनोंका ही मिश्रण मानना उचित है ॥ १० ॥

गण्यत्पदार्थस्य

मुक्तम् ।

अन्तर्बहिःचेतःकल्पितत्वाविशेषा

दिति व्याख्यातमप्यत् ॥ १० ॥

इत सत् और वसत् पदार्थोंका  
 मिश्रण ही है क्योंकि इनके  
 भीतर या बाहर कल्पित हानसे उनमें  
 कोई विशेषता नहीं होती । ऐसी  
 सबकी व्याख्या ही मुक्त है ॥ १० ॥

इस विभाग पदार्थोंकी कल्पना करनेवाला कौन है ?

बादक प्राद—

[ इतर ] पूर्णही करता है—

उभयारपि चैतस्य भेदानां म्यानयोर्विदि ।

य एवामुपपन्ने भेदाहो ये तेषां विद्वान्पुनः ॥ ११ ॥

यदि [ जागरित और स्वप्न ] दोनों ही स्थानोंके पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो इन पदार्थोंको जानता कौन है और कौन इनकी कल्पना करने वाला है ? ॥ ११ ॥

स्वप्नज्ञाप्रत्मानयोर्भेदानां यदि  
वैतथ्य क एतानन्तर्धद्विभेदः  
कल्पितान्मुच्यते । को वै तेषां  
विकल्पकः । स्मृतिज्ञानया क  
आलम्बनमित्यभिप्रायः; न  
चेन्निरामबाद् इष्ट ॥ ११ ॥

यदि स्वप्न और जागरित [ दोनों  
ही स्थानों ] के पदार्थोंका मिथ्यात्व  
है तो चित्तके भीतर या बाहर  
कल्पना किये हुए इन पदार्थोंको  
जानता कौन है ? और कौन उनकी  
कल्पना करनेवाला है ? तत्पर्य यह  
है कि यदि निरामबाद् अभीष्ट नहीं  
है तो [यह बताना चाहिये कि] उक्त  
स्मरण (स्वप्न) और ज्ञान (जागरित)  
का आलम्बन कौन है ? ॥ ११ ॥

इनकी कल्पना करनेवाला और इनका

साक्षी आत्मा ही है

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देव स्वमायया ।

स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे स्वयं ही कल्पना करता है और  
वही सब भेदोंको जानता है—यही वेदान्तका निश्चय है ॥ १२ ॥

स्वय स्वमायया स्वमात्मान  
मात्मा देव आत्मन्नेव बहुयमाणं  
भेदाकार कल्पयति रज्ज्यादाभिव  
सर्पादीन् स्वयमेव च तान्मुच्यते  
भेदास्तद्देवैस्त्वेष वेदान्तनिश्चयः ।

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया  
से रज्जुमें सर्पोंके समान अपनेमें  
आपहीको जागे बतलाये जानेवाले  
भेदरूपसे कल्पना करता है और  
स्वयं ही उन भेदोंको जानता है—  
इस प्रकार यही वेदान्तका निश्चय  
है । उसके सिवा स्मृति और ज्ञान

नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याभयः । क्व कोर्षे और व्याभय नहीं है ।  
 न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती तात्पर्य यह कि वैनाशिकों (बीजों)  
 वैनाशिकानामिवेस्यभिप्रायः ॥ १२ ॥ के कथनके समान ये ज्ञान और  
 स्मृति निराधार नहीं हैं ॥ १२ ॥

पदार्थकल्पनाकी विधि

सङ्कल्पमन्केन प्रकारेण वह सकल्प करते हुए किस  
 कल्पमतीस्युच्यते— प्रकार कल्पना करता है : उसे  
 बतलाया जाता है—

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।

नियतांश्च बहिःशित्त एवं कल्पयते प्रमु ॥ १३ ॥

प्रमु आत्मा अपने अन्त करणमें [ वासनारूपसे ] स्थित कल्प  
 ( बीजिक ) भाषोंको नामारूप करता है तथा बहिःशित्त होकर पृथिवी  
 आदि नियत और अनियत पदार्थोंकी मी इसी प्रकार कल्पना करता है ॥ १३ ॥

विकरोति नाना करोत्यपरान् वह चित्तके भीतर वासनारूपसे  
 लौकिकान् भावान् पदार्थान् स्थित कल्पान्तर लौकिक भाषों—  
 शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासना शब्दादि पदार्थोंको तथा अन्य पृथ्वी  
 रूपेण व्यवस्थितान्म्याकृतान् आदि नियत और कल्पनाकरणमें ही  
 नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च उत्पन्न होनेवाले अनियत पदार्थोंकी  
 कल्पनाकाठान्बहिःशित्तः संस्तवा बहिःशित्त होकर एवं मनोरथारूप  
 न्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणान् पदार्थोंको अन्तश्चित्त होकर विकृत  
 निस्वेवं कल्पयति प्रसूरीश्वर करतल अर्थात् माना करता है—इस  
 आत्मेत्यर्थः ॥ १३ ॥ प्रकार प्रमु—ईश्वर अर्थात् आत्मा  
 कल्पना करता है ॥ १३ ॥

आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके पदार्थ मित्या है

स्वप्नबधित्तपरिकल्पित सत्य कल्पके समान सब कुछ चित्तक  
 मित्येतदाशङ्क्यते । यस्माच्च ही कल्पना कित्या हुआ है—इस

परिकल्पितैर्मनारथादिलक्षणैश्चित्त-

परिच्छेद्यैर्लक्षण्यं वाहाना

मन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति ।

सा न युक्ताशङ्का ।

त्रियमं यह शङ्का होती है—क्योंकि केवल चित्तपरिकल्पित और चित्तसे ही परिच्छेद्य मनोरथान्तिसे वाद्य पदार्थोंकी अन्वयपरिच्छेद्यत्वरूप विच्छेद्यता है [अतः स्वप्नके समान ये मिथ्या नहीं हो सकते ] ।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, [ क्योंकि—]

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये घृहि ।

कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुक ॥ १४ ॥

जो आन्तरिक पदार्थ केवल कल्पमाकाशक ही रहनेवासे हैं और जो बाह्य पदार्थ द्विकालिक [ अर्थात् अन्वयपरिच्छेद्य ] हैं वे सभी कल्पित हैं । उनकी विशेषताका [ अर्थात् आन्तरिक पदार्थ असत्य हैं और बाह्य सत्य हैं—इस प्रकारकी भेदकल्पनाका ] कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ १४ ॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु

चित्तपरिच्छेद्याः; मान्यचित्त

कालम्यतिरेकेण परिच्छेदकः

काला येषां ते चित्तकालाः ।

कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त

इत्यर्थः । द्वयकालाश्च मेदकाला

अन्योन्यपरिच्छेद्याः । तथा

गोदाहनमास्ते; यावदास्ते तावद्ग्रा

दाग्नि तावद्ग्रा दाग्नि तावदास्ते ।

तावानपमेतागन्म इति परम्पर

जो आन्तरिक हैं अर्थात् चित्त परिच्छेद्य हैं वे चित्तकाल हैं; बिनका चित्तकालके सिवा और कोई काल परिच्छेदक न हो उन्हें चित्तकाल कहते हैं । अर्थात् वे केवल कल्पना के समय ही उपलब्ध होते हैं । तथा अन्वयपरिच्छेद्य पदार्थोंके—भेदकालिक पदार्थोंकी अन्वयपरिच्छेद्यता है । जैसे गन्ताहनरन्त बध्ना हि; यामी जवनक ईश्या है तवनक गौ दुहता है और तवनक गौ दुहता है तवनक ईश्या है । तदन समपत्तय यह रहता है और अन्वयपरिच्छेद्य पदार्थोंके—



परिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां  
मेदानां ते द्वयकालाः अन्त  
चित्तकाला पाश्चात् द्वयकालाः  
कल्पिता एव ते सर्वे । न बाह्या  
द्वयकालस्वविशेषः कल्पितस्व  
व्यतिरेकेणान्यहेतुकः । अथापि  
द्विस्यन्तद्वयान्ता भवत्येष ॥१४॥

इस प्रकार बाह्य पदार्थोंका परस्पर  
परिच्छेद्य-परिच्छेदफल है, वत वे  
दो कालबाले हैं । किन्तु आन्तरिक  
चित्त-कालिक और बाह्य द्विकालिक-  
ये सब कल्पित ही हैं । बाह्य पदार्थों-  
की जो द्विकालिकस्वरूप विशेषता है  
वह कल्पितत्वके सिवा किसी अन्य  
कारणसे नहीं है । इस विषयमें भी  
स्वप्नका उदाहरण है ही ॥ १४ ॥

अन्तरिक और बाह्य पदार्थोंका भेद केवल इन्द्रियजनित है

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहि ।

कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥१५॥

जो आन्तरिक पदार्थ हैं वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य हैं वे स्पष्ट  
प्रतीत होमाले हैं । किन्तु वे सब हैं कल्पित ही । उनकी विशेषता तो  
केवल इन्द्रियोंके ही भेदमें है ॥ १५ ॥

यदप्यंतरव्यक्तत्वं भाषानां  
मनोभासनामाश्राभिव्यक्तानां  
स्फुटत्व वा बहिर्बहुरादीन्दि  
यान्तरे विशेषा नासी मेदाना  
मस्त्विकृतः स्वप्नेऽपि तथा  
दर्शनात् । किं तर्हि ? इन्द्रियान्तर  
कृत एव । अतः कल्पिता एव

चित्तकी वासनामात्रसे अव्यक्त  
इस पदार्थोंकी जो अन्त कारणमें  
अव्यक्तत्व ( अस्पष्टत्व ) और बाह्य  
बहु व्याप्ति अन्य इन्द्रियोंमें जो  
उनका स्पष्टत्व है वह विशेषता  
पदार्थोंकी सत्ताके कारण नहीं है,  
क्योंकि एसा ही स्वप्नमें भी देखा  
जाता है । तो फिर इसका क्या  
कारण है ? यह इन्द्रियोंके भेदके ही

● अर्थात् आत्मज्ञान समान स्वरूप में भी अन्तरिक-कल्पित पदार्थ कहना-  
कालिक और बाह्य पदार्थ द्विकालिक ही होते हैं परन्तु वे होते ही भी ही भिन्ना  
हैं । इसी प्रकार आत्मज्ञान भी समान है ।

वाप्रज्ञात्वा अपि स्वप्नभाववदिति  
सिद्धम् ॥ १५ ॥

कारण है। अतः सिद्ध हुआ कि  
स्वप्नके पदार्थोंके समान आप्तकालीन  
प्राण भी कल्पित ही हैं ॥ १५ ॥

पञ्चाशत्कल्पनाकी मूल जीव कल्पना है

वाद्याप्यात्मिकानां भावाना  
मितरेतगनिमित्तनमिधिकृतया  
कल्पनायां किं मूलमित्युच्यते—

वाद्य और आप्तकालीन पदार्थोंकी  
परस्पर निमित्त और निमित्तिकल्पसे  
कल्पना होनेमें क्या कारण है ? सो  
बतलाया जाता है—

जीव कल्पयते पूर्वं ततो भावापृथग्विधान् ।

वाद्यानाप्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृति ॥ १६ ॥

[ वह प्रश्न ] सबसे पहले जीवकी कल्पना करता है फिर तरह  
तरहके वाद्य और आप्तकालीन पदार्थोंकी कल्पना करता है। उस जीवका  
जीसा विज्ञान होता है वही ही स्मृति भी होती है ॥ १६ ॥

जीव हेतुफलारमकम्; अहं  
करोमि मम सुखदुःखे इत्येव  
लक्षणम्; अनेवंलक्षण एव शुद्ध  
आत्मनि रजाविष सर्प कल्पयते  
पूर्वम् । ततस्तादर्भ्यन क्रिया  
कारकफलमेदेन प्राणादीन्नाना-  
विधा भाषान्वाद्यानाप्यात्मिकां  
इषैव कल्पते ।

तत्र कल्पनायां च हेतुरि  
त्युच्यते । याऽर्था स्वयंकल्पितो  
जीव स्वयंकल्पनायामधिकृतः स

सबसे पहले धी करता है, मुझे  
सुख-दुःख है इस प्रकारके हेतु  
फलारमक जीवकी [ वह प्रश्न ] इस-  
से विपरीत लक्षणवाले शुद्ध आत्मामें  
रजामें सर्पके समान कल्पना करता  
है। फिर तर्कके लिये क्रिया, कारक  
और फलके भेदसे प्राण आदि नाना  
प्रकारके वाद्य और आप्तकालीन  
पदार्थोंकी कल्पना करता है।

उस कल्पनामें क्या हेतु है—इस-  
पर कहा जाता है—वह आ स्वयं  
कल्पना किया हुआ जीव सच प्रकार  
की कल्पनाकर अधिकारी है, वह जीव

यथाविद्यः, यावशी विद्या विज्ञान  
 मस्येति यथाविद्यः तथाविधैव  
 स्मृतिस्तस्मेति तथास्मृतिर्मवति  
 स इति । अतो हेतुकल्पना  
 विज्ञानात्फलविज्ञान तथा हेतुफल  
 स्मृतिस्तवस्तद्विज्ञान तदर्थाक्रिया  
 करकत्फलमेवविज्ञानानि ।  
 नेभ्यस्तस्मृतिस्तस्मृतेषु पुन  
 स्तद्विज्ञानानीत्येवं यावनाप्या  
 रिमकांश्चेत्तरेतरनिमित्तनैमित्तिक  
 भावेनानेकधा कल्पयते ॥ १६ ॥

विद्यावाक्य होता है अर्थात् उसकी  
 ऐसी विद्या यानी विज्ञान होता है वैसी  
 ही स्मृति भी होती है । अतः  
 यह वैसी ही स्मृतिवाक्य होता है ।  
 इस प्रकार [ अन्नमधुणादि ] हेतुकी  
 कल्पनाके विज्ञानसे ही [ तृप्ति आदि ]  
 फलका विज्ञान जाता है, उससे [ दूसरे  
 दिन भी ] उन हेतु और फलकी स्मृति  
 होती है और उस स्मृतिसे उनका ज्ञान  
 तथा उनके किये होनेवाले [ पाकआदि ]  
 कर्म, [ तप्युआदि ] करक और उनके  
 [ तृप्ति आदि ] फलमे'के ज्ञान होते हैं ।  
 उनसे उनकी स्मृति होती है तथा उस  
 स्मृतिसे फिर उन [ हेतु आदि ] के  
 विज्ञान होते हैं । इस प्रकार यह जीव  
 बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी  
 पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिकभावसे  
 अनेक प्रकार कल्पना करता है ॥ १६ ॥

जीवकल्पनाया हेतु अज्ञान इ

तत्र जीवकल्पना सर्पकल्पना-  
 मूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना  
 किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रति  
 पादयति—

यहाँतक जीवकल्पना ही सब  
 कल्पनाओंका मूल है—यह कहा गया  
 किन्तु यह जीव-कल्पना ही किस  
 निमित्तसे ?—इस बातका दृष्टान्तसे  
 प्रतिपादन करते हैं—

अनिश्चिता यथा रज्जुरघकारे विकल्पिता ।

सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्ब्रदात्मा

विकल्पित ॥ १७ ॥

द्विस प्रकर [ अपने स्वरूपसे ] निश्चय न की हुई रज्जु बन्धकर में सर्प-भारा आदि भावोंसे कल्पना की जाती है, वही प्रकर आमतौर भी तरह-तरहकी कल्पनाएँ हो रही हैं ॥ १७ ॥

यथा लोके स्वेन रूपेणानिधि  
तानवभारितैवमेवेति रज्जुमन्दा  
म्बकारे किं सर्पं तद्वदधारा  
दण्ड इति वानेकधा विकल्पिता  
भवति पूर्वं स्वरूपानिधमनिमित्तम्  
यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण  
निश्चिता स्यात्; न सपाद्वि  
कल्पोऽमविष्यत् यथा स्वास्ता-  
शुभ्यादिषु, एष दृष्टान्तः ।  
तद्वद्वतुकडादिससारधर्मानर्थवि  
लक्षणतया स्वेन विशुद्धविद्यसि  
मात्रसत्ताद्वयरूपेणानिधितत्वा-  
त्तीवप्राणाद्यनन्तमात्रमेदरास्मा-  
विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदा  
सिद्धान्त ॥ १७ ॥

द्विस प्रकर अपने स्वरूपसे  
अनिश्चित अर्थात् यह ऐसी ही है—  
इस प्रकार निर्धारण न की हुई रज्जु  
मन्द बन्धकरमें स्पष्ट सर्प है ! "नक्त-  
की धारा है !" अथवा "दण्ड है !"  
इस प्रकार—पहलेसे स्वरूपका निश्चय  
न होनेके कारण—अनेक प्रकारसे  
कल्पना की जाती है, यदि रज्जु  
पहले ही अपने स्वरूपसे निश्चित हो  
तो उसमें सर्पदिका विकल्प नहीं हो  
सकता, जैसे कि अपने हाथकी बँगुली  
जानिने [ ऐसा तरह विकल्प नहीं  
होता ] । यह एक दृष्टान्त है । इसी  
तरह हेतु-फलादि सांसारिक धर्मरूप  
अन्यसे विकल्पण अपने विशुद्ध  
विद्यसिमात्र अद्वितीय सत्तास्वरूपसे  
निश्चित न होनेके कारण ही आत्मा  
जोब एवं प्राण आदि अन्त विभिन्न  
भावोंसे विकल्पित हो रहा है—यही  
सम्पूर्ण उपनिषदोंका सिद्धान्त है ॥ १७ ॥

अहामनिर्वाच ही आत्मज्ञान है

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।

रज्जुरेवेति चाद्वैत तद्वदात्मविनिश्चय ॥ १८ ॥

मिस प्रकार रज्जुका निश्चय हो जानेपर उसमें [ सर्वादि ] विकल्प निवृत्त हो जाता है तथा 'यह रज्जु ही है' ऐसा ब्रह्म निश्चय होता है उसी प्रकार आत्माका निश्चय है ॥ १८ ॥

रज्जुरथेति निश्चये सर्ववि  
कल्पनिवृत्तौ रज्जुरेथेति चाद्वैतं  
यथा तथा "नेति नेति" ( बृ०  
उ० ४।४।२२ ) इति सर्व  
संसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्र  
नितविज्ञानधर्माञ्जोककृतस्मवि  
निश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्"  
( छा० उ० ७।२५।२ )  
"अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्"  
( बृ० उ० २।५।१९ )  
"सबाह्याभ्यन्तरा अयः" ( सु०  
उ० २।१।२ ) "अमरोऽमरो-  
ऽमृतोऽमयः" ( बृ० उ० ४।४।  
२५ ) "एक एवाह्वयः" इति ॥ १८ ॥

'यह रज्जु ही है' ऐसा निश्चय  
होनेसे सर्वादि विकल्पकी निवृत्ति  
हो जानेपर मिस प्रकार 'यह रज्जु  
ही है' ऐसा ब्रह्म-भाव हो जाता  
है उसी प्रकार "नेति-नेति" इस  
सर्वसंसारधर्मशून्य आत्माका प्रति-  
पादन करनेवाले शास्त्रसे उत्पन्न हुए  
विज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशसे आत्माका  
एसा निश्चय होता है कि "यह सब  
आत्मा ही है" "यह कारण-कारणसे  
रहित और अन्तर्बाह्यशून्य है" "बाहर  
भीतरसे ( कर्म-कारण दोनों इष्टियों-  
से ) अचरमा है" "यह जराशून्य  
अमर, अमृत और अमय है" तथा  
"यह एक अद्वितीय ही है" ॥ १८ ॥

पथात्मैक एवेति निश्चयः  
कर्म प्राणादिभिरनन्तैश्च  
संसारलक्षणैर्विकल्पित इति,  
उच्यते, शृणु—

यदि यह बात सिद्धित है कि  
आत्मा एक ही है तो यह इन  
संसाररूप प्राणादि अमृत माणोंसे  
कैसे विकल्पित हो रहा है ?  
सो इस नियममें कहा जाता  
है, सुनो—

विकल्पकी मूल भाषा है

प्राणादिभिरनन्तैश्च

भावैरेतैर्विकल्पित ।

मायैषा तस्य देवस्य यथा संमोहित स्वयम् ॥ १९ ॥

यह जो इन प्राणादि जनस्त माओंसे विकल्पित हो रहा है सो यह उस प्रकृत्यात्म आत्मदेवकी माया ही है, जिससे कि यह स्वय ही मोहित हो रहा है ॥ १९ ॥

मायैषा तस्मात्मनो देवस्य ।  
यथा भाषाभिना बिहिता माया  
गगनमविधिमल इन्द्रुमितैः  
सपलाशैस्तलभिराक्षीर्णमिव करोति  
तद्यपमपि देवस्य माया यथायं  
स्वयमपि मोहित इव मोहितो  
भवति । “मम माया दुरस्पया”  
(गीता ७।१४) इत्युक्तम् ॥१९॥

यह उस आत्मदेवकी माया है ।  
जिस प्रकार मायावीहारा प्रयोग की  
हुई माया अति निर्मल आकाशको  
पल्लवपुल्ल पुष्पित पादपोंसे परिपूर्ण  
कर देती है उसी प्रकार यह भी  
उस देवकी माया है जिससे कि यह  
स्वय भी मोहित हुएके समान मोह  
प्रस्त हो रहा है । “मेरी मायाका पार  
पाना कठिन है” ऐसा [ महाभारते ]  
कहा भी है ॥ १९ ॥

मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मायावाद

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।

गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥ २० ॥

प्राणोपासक कहते हैं—‘प्राण ही जगत्कर कारण है ।’ भूतओं  
( प्रत्यक्षवाणी आर्षाकादि ) का कथन है—[ पृथिवी आदि ] चार भूत  
ही परमार्थ हैं । गुणोंको जाननेवाले [ सांख्यवादी ] कहते हैं—‘गुण ही  
सृष्टिक हेतु हैं ।’ तथा तरुवह (शैव ) कहते हैं—[ आत्मा, अविद्या  
और शिव—ये तीन ] तरु ही जगत्कर प्रकृतक हैं ॥ २० ॥

पादा इति पादविदा विषया इति तद्विदः ।

लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥ २१ ॥

प्राणैता कन्ते हैं—‘शिव आदि प्राण ही मनुष्य व्यवहारक हेतु हैं ।’  
[ परमेश्वरनादि ] विरपण कहते हैं—‘आत्मा विषय ही माय कन्ते हैं ।’

लोकवेद्याओं ( पौरणिकों ) का कथन है—'श्रीक ही सत्य हैं ।' तथा देवोपासक कहते हैं—'भ्रूवादि देवता ही सृष्टिके सञ्चालक हैं' ॥ २१ ॥

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विद ।

भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विद ॥ २२ ॥

वेदज्ञ कहते हैं—'श्रुग्नादि चार वेद ही परमार्थ हैं ।' पात्रिक कहते हैं—'व्यङ्ग ही सकारके आदिकारण हैं ।' भोक्ताको जाननेवाले भोक्ताका ही प्रधानता बतलाते हैं तथा भोज्यके मर्मज्ञ ( सूक्ष्मकारण ) भोज्यपदार्थोंकी ही सारवत्ताका प्रतिपादन करते हैं ॥ २२ ॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविद स्थूल इति च तद्विद ।

मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विद ॥ २३ ॥

सूक्ष्मवेद्या कहते हैं—'आत्मा सूक्ष्म ( कणु-परिमाण ) है ।' स्थूलवादी ( पार्श्विकारण ) कहते हैं—'वह स्थूल है ।' मूर्तवादी ( साक्षरुपासक ) कहते हैं—'परमार्थ वस्तु मूर्तिमान् है ।' तथा अमूर्तवादियों ( शून्यवाणियों ) का कथन है कि वह मूर्तिहीन है ॥ २३ ॥

काल इति कालविदो विश इति च तद्विदः ।

धादा इति धादविदो भुवनानीति तद्विद ॥ २४ ॥

कालज्ञ ( ग्यास्तिये ध्यंग ) कहते हैं—'काल ही परमार्थ है ।' दिशाभेदि नामनकाल ( क्षरोदयशास्त्री ) कहते हैं—'निशार्थ ही सत्य वस्तु है ।' कालवेद्या कहते हैं—'[ प्रातःकाल मन्त्रकाल आदि ] का ही सत्य वस्तु है । तथा भुवनकोपके शताशोक कथन है कि भुवन ही परमार्थ है ॥ २४ ॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विद ।

चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥ २५ ॥

मनाविद् कहते हैं—'मन ही आत्मा है', मौडोंका कथन है—'बुद्धि ही आत्मा है', चित्तज्ञोंका विचार है—'चित्त ही सत्यवस्तु है', तथा धर्माधर्मवेद्या ( धीमोसत्र ) धर्माधर्मको ही परमाथ मानते हैं ॥ २५ ॥

पञ्चविंशक इत्येके पञ्चविंश इति चापरे ।

एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥ २६ ॥

कर्ष ( सांख्यवादी ) पञ्चीस तत्त्वोक्ते, कर्ष ( पातञ्जलमतानुयायी )  
छम्बोसोका और कर्ष ( पाशुपत ) इफतीस तत्त्वोक्त सत्य मानते हैं\* तथा  
अस्य मनाइडम्बी परमाणुको अनन्त मेशोबाठा मानते हैं ॥ २६ ॥

लोकौल्लोकविद् प्राहुराश्रमा इति तद्विद् ।

स्त्रीपुनपुसक लैङ्गा परापरमथापरे ॥ २७ ॥

सांख्यिक पुरुष लोकानुरक्षणको और आश्रमवादी आश्रमोको ही  
प्रथम बतजाते हैं । जिज्ञावादी श्रीष्टिक, पुंष्टिक और नपुंसकशिक्षको  
तथा दूसरे लीग पर और अरु ब्रह्मको ही परमाणु मानते हैं ॥ २७ ॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विद् ।

स्थितिरिति स्थितिविदो सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८ ॥

सृष्टिवेद्य कहते हैं—'सृष्टि ही सत्य है', सपत्नी कहते हैं—'अय  
ही परमाणु बस्तु है' तथा स्थितिवेद्य कहते हैं—'स्थिति ही सत्य है ।' इस  
प्रकार ये [ कहे हुए और बिना कहे हुए ] सभी बातें इस अल्पतरुमें  
सर्वत्र कल्पित हैं ॥ २८ ॥

<p>प्राण प्राज्ञा बीजात्मा तत्काममेदा हीतर म्पिम्यन्ता । अन्य च सर्वे लौकिक्य सर्व प्राणिवरिक्त्वित्ता मदा रज्ज्वा मिर मपादयः तत्पृथुय आत्म</p>	<p>प्राण बीजमम्यम्यप्राणको कहते हैं। उपयुक्त स्थितियुक्त सब विषय उसीमें कल्पित हैं, संपूर्ण प्राणियो- में परिचलित अय सब लौकिक- यम रज्जुमें सपत्न समान टक विचलते हैं शूय अल्पमें अम-</p>
---	---

\* अन्त मन्तार अहमर वज्रमवावा पंचकमे इति व कहते, जो  
बाप गिर और मय—दे कण्ठकीरिदे वयाग काव है। पण एनदे निरा  
छम्बको तव इतर मनः है और कण्ठको दे मये इव कण्ठको लारीदे  
अभिक तव अ वया निरी बाव इव और मन—दे वः काव और है ।



न्यात्मस्वरूपानिश्चयहेतारविद्यया  
कल्पिता इति पिण्ठीकृतोऽर्थः ।  
प्राणादिस्फोकानां प्रत्येकं पदार्थ  
व्याख्याने फल्गुप्रयाजनस्वा  
त्सिद्धपदार्थत्वाच्च परतो न  
कृतः ॥ २८ ॥

स्वरूपक अनिश्चयके कारण अनिश्चयसे  
करना किये गये हैं—यह इन  
स्फोकोंका समुदायार्थ है । प्राणादि  
स्फोकोंके प्रत्येक पदार्थके व्याख्यान-  
का अर्थ अन्त अन्य प्रयोगन होनेके  
कारण तथा वे सिद्ध पदार्थ हैं—इस-  
लिये प्रकृत नहीं किया ॥ २८ ॥

किं बहुना—

अधिक क्या !—

य भाव दर्शयेद्यस्य तं भाव स तु पश्यति ।

तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रह समुपैति तम् ॥ २९ ॥

[ गुरु ] जिसे जो भाव दिखाना देता है वह उसीको आत्मस्वरूपसे  
देखने लगता है तथा इस प्रकार देखनवाले उस व्यक्तिकी वह भाव तद्रूप  
होकर रक्षा करने लगता है । फिर उस ( भाव ) में होनेवाला अनिश्चय  
उस [ के आत्मभाव ] को प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्त

मिसकत आचार्य कथना कोई

बान्धव भाव पदार्थ दर्शयेद्यस्या

अन्य आत्मा पुरुष जिसे प्राणरूपमेंसे

चायोंऽन्या यास इदमेव सत्त्वमिति

किसी कहे हुए कथना किसी बिना

स त भावमात्मभूत पश्यत्यय

कहे हुए अन्य भावको भी वही

महमिति वा ममेति वा । तं च

देता है वह उसी भावको आत्मभूत

ब्रह्म स भावाऽवति यो दर्शितो

हवा देखता है [ और समझता है

भावोऽसौ भूत्वा रक्षति । स्वेना

कि—] मैं वही हूँ कथना वही

त्मना सर्वतो निरुज्जिह्वि ।

मेरा स्वरूप है । तथा उस ब्रह्मकी

भी, जो भाव उसे दिखाना गया

है, तद्रूप होकर रक्षा करता है;  
अर्थात् उसे सब प्रकार अपने स्वरूप-

तस्मिन्प्रहस्तवृद्धस्तदभिनिवेशः ।  
इदमेव तत्त्वमिति स तं ब्रह्मीतार  
मुपैति । तस्मात्प्रभावं निगच्छ-  
तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

से निरुद्ध कर देता है । उसी मायमें जो प्रह—आप्रह अर्थात् प्यही तत्त्व है, इस प्रकारका अभिनिवेश है वह उस मायके प्रहण करनेवालेको प्राप्त होता है, अर्थात् उसके आत्म स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥२९॥

आत्मा सर्वाधिष्ठान है ऐसा जाननेवाला ही परमार्थदर्शी है

एतैरेपोऽपृथग्भावै पृथगेवेति लक्षितः ।

एव यो बद्ध तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कित ॥ ३० ॥

[ इस प्रकार सबका अत्रिष्टान होनेके कारण ] इस प्राणादि अपृथग्भावसे [ पृथक् न होनेपर भी अहानियोंद्वारा ] वह आत्मा भिन्न ही माना गया है । इस बातको जो वास्तविकरूपसे जानता है वह नि शंक होकर [ बेशयकी ] कल्पना कर सकता है ॥ ३० ॥

एतैः प्राणादिभिरारमनो  
ऽपृथग्भूतैरपृथग्भावंरय आत्मा  
रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः  
पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो  
निधिता मूढैरित्यर्थः । विवेकिनां  
तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो  
नात्मन्मतिरकेण प्राणादयः  
सन्तीत्यभिप्रायः “इह सर्व  
यदयमात्मा” ( पू० उ० २ । ४ ।  
६, ४ । ५ । ७ ) इति श्रुते ।

रज्जुमें कल्पित सर्पि मूढोंसे रज्जुके समान यह आत्मा अपनेसे अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावसे पृथक् ही है—एसा मूढोंको लक्षित—अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है । विवेकियोंकी दृष्टिमें तो “प्रह जो कुछ है सब आत्मा ही है” इस श्रुतिक अनुसार रज्जुमें कल्पित सर्पिक समान ये प्राणादि आत्मासे भिन्न हैं ही नहीं—एसा इसका तात्पर्य है ।

एवमारमन्मतिरेकेणासम्भवं  
रज्जुमर्षवदात्मनि कल्पिताना

इस प्रकार रज्जुमें कल्पित सर्पके समान जो आत्मामें कल्पित प्राणा

मात्मान च क्वचलं निर्विकल्पं  
 यो वेद सत्त्वेन भूतितो युक्तिरथ  
 सोऽविश्रुक्तिः। वेदार्थविभागत  
 कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः—इदमेव  
 परं वाक्यमदोऽन्यपरमिति । न  
 ज्ञानध्यात्मविद्वेदाज्जातुं शक्नोति  
 तत्त्वतः । “न ज्ञानध्यात्मविस्त्रभि-  
 त्क्रियाफलमुपाश्रुते” ( मनु०  
 ६ । ८२ ) इति हि मानघ  
 वचनम् ॥ ३० ॥

क्या आत्माक सिवा अस्तित्व समझता  
 है तथा आत्माको शुद्ध और युक्तिसे  
 परमार्थत निर्विकल्प्य जानता है वह  
 नि शंक होकर वेदार्थकी प्यह वाक्य  
 इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाला  
 है और यह अन्यायपरक है। इस  
 प्रकार विभागपूर्वक कल्पना कर  
 सकता है—यह इसका तत्पर्य है ।  
 जो अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता  
 वह पुरुष तत्त्वतः बेनेको भी नहीं  
 जान सकता । “अध्यात्मतत्त्वको न  
 जाननेवाला पुरुष किसी भी कर्मफल-  
 को प्राप्त नहीं करता” ऐसा मनुजी-  
 का भी वचन है ॥ ३० ॥

द्वैतस्य असत्त्व वेदान्तवेद्ये हि

यदेतद्द्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्ति-

तस्तद्द्वैदान्तप्रमाणावगत-

मित्याह—

यह जो युक्तिपूर्वक द्वैतकी  
 अस्तित्वता बतलायी है वह वेदान्त  
 प्रमाणसे कानी गयी है—इस आशयसे  
 कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगर यथा ।

तथा विश्वमिदं दृष्ट वेदान्तेषु विश्वक्षणै ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार सपन और माया देखे गये हैं तथा वीसा गन्धर्व-नगर  
 जाना गया है उसी प्रकार विश्वक्षण पुरुषोंने वेदान्तोंमें इस जगत्को  
 देखा है ॥ ३१ ॥

स्वप्नमाया च स्वप्नमाये  
 असद्वस्त्वान्मिके असत्स्यौ सद्

अद्वैतकी पुरुषोंद्वारा सपन और  
 माया, जो अस्तित्वरूप वर्णित

स्वात्मिके इव लक्ष्येते  
 भविष्येकिभिः यथा च प्रसारित  
 पम्पापणगृहप्रासादस्त्रीपुञ्जनपद  
 म्पवहाराकीर्णमिष गन्धर्वनमरं  
 दृश्यमानमेव सुदकसादमावतां  
 गर्तं दृष्टम्, यथा च स्वप्नमाये  
 दृष्टे असद्रूपे, तथा विश्वमिदं द्रैत  
 समस्तमसद्रूपम् ।

क्रेत्याह—वेदान्तेषु । “नेह  
 नानास्ति किञ्चन” (क०ठ० २।१।  
 ११, ४ उ० ४।४।१९) “इन्द्रो  
 मायाभिः” (४०ठ० २।५।१९)  
 “आत्मैवेदमग्र आसीत्” (४०ठ०  
 १।४।१७) “ब्रह्म वा इदमग्र आ-  
 सीत्” (४०ठ० १।४।१०) “द्विती  
 याद्वै भयं भवति” (४०ठ० १।४।  
 २) ‘न तु तद्विद्वितीयमस्ति’  
 (४०ठ० ४।३।२३) “यत्र  
 स्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्” (४०  
 उ० ४।५।१५) इत्यादिषु  
 विषयैर्निपुणतरवस्तुदर्शिमि  
 पण्डितैरित्यर्थः ।

“तमःश्चानिम दृष्ट वर्णेषु

शुदसंनिमम् । नाश्रुपार्यं सुखा-

अस्य है, सबस्वरूप देखे जाते हैं ।  
 जिस प्रकार निस्तृत वृक्षान, वाजार,  
 गृह, प्रासाद और मगरनिवासी की  
 पुरुषोंके व्यवहारसे भरपूर-सा गन्धर्व  
 नगर देखते-ही-देखते अकस्मात्  
 जमानको प्राप्त होता देखा गया है,  
 और जिस प्रकार ये स्वप्न और माया  
 असद्रूप देखे गये हैं उसी प्रकार  
 यह विश्व अर्थात् समस्त द्रैत असत्  
 देखा गया है ।

कहाँ देखा गया है ! इसमें  
 कहते हैं—वेदान्तमें । “यहाँ नाना  
 कुछ नहीं है” “अन्तर्ने मायासे”  
 “यहमे यह आत्मा ही थी”  
 “यहमे यह ब्रह्म ही था” “दूसरे  
 से मिश्रण मय होता है” “उससे  
 दूसरा कोई नहीं है” “यहाँ इसके  
 छिये सब आत्मा ही हो गया है”  
 इत्यादि वेदान्तमें विषयज्ञान अर्थात्  
 निपुणतर वस्तुदर्शी पण्डितोंद्वारा  
 देखा गया है—यह इसका  
 तात्पर्य है ।

“यह जगत् अन्तरे गढ़के समान  
 और वर्णकी बूँदक स्रष्टा नारायण,  
 सुखसे रहित और नारायण अन्तर  
 जमानको प्राप्त हो जालवाला देखा

स्त्रीन नाशोघरमभाषणम्" इति | गया है" — इस व्यासस्मृतिके भी  
व्यासस्मृतेः ॥ ३१ ॥ | यही बात प्रमाणित होती है ॥ ३१ ॥

### परमार्थ क्या है ?

प्रकरणार्थोपसंहाराथोऽयं  
श्लोकः । यदा चित्तं द्वैतमात्मै-  
वैक्यः परमार्थतः संस्तवेदं निष्पन्नं  
मवति सार्थोऽयं लौकिको वैदिकश्च  
व्यवहारोऽविद्याविषय एवति ।  
उदा—

यह ( आगेका ) श्लोक इस  
प्रकरणके विषयका उपसंहार करनेके  
लिये है । जब कि द्वैत असत्य है  
और एकमात्र ब्रह्मा ही परमार्थ  
सत्य है तो यह निश्चित होता है कि  
यह सारा लौकिक और वैदिक  
व्यवहार अविद्याका ही विषय है ।  
उस अन्वयमें—

न निरोधो न स्वात्पत्तिर्न बद्धो न च साधक ।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३२ ॥

न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है न साधक है, न मुमुक्षु है  
और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है ॥ ३२ ॥

न निरोधः—निरोधनं निरोधः

प्रलयः, उत्पत्तिर्जननम्, बद्धः  
संसारी जीवः, साधकः साधन  
वान्माद्यस्य, मुमुक्षुर्मोक्षनार्थी,  
बुक्ता विमुक्तबन्धः । उत्पत्ति  
प्रलययोरभावाद्ब्रह्मादया न  
मन्तीत्येषा परमार्थता ।

न निरोध है । निरोधमकर भ्रम  
निरोध यानी प्रसन्न है । उत्पत्ति  
जननको, बद्ध—संसारी जीवको,  
साधक मोक्षक साधनवालेको, मुमुक्षु  
मुक्त हानकी इच्छावालेको और मुक्त  
बन्धनसे छूटे हुएका कहते हैं ।  
उत्पत्ति और प्रसन्नका अभाव ज्ञानके  
कारण ये बद्ध आदि भी नहीं हैं—  
यही परमार्थता है ।

कथमस्वप्निप्रलययोरभावाः,  
इत्युच्यते, ब्रह्मसाक्षात्प्राप्तम् । "यत्र

उत्पत्ति और प्रसन्नका अभाव  
विना प्रसन्न है । अतएव यही सत्य

द्विद्वैतमिष भवति" (बृ० उ० २। ४। १४) "य इह नानेष पश्यति" (क० उ० २। १। १०, ११) "आरमं वेदं सर्वम्" (छा० उ० ७। २। ५। २) "ब्रह्मवेदं सर्वम्" (नृसिंहाचर० ७) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६। २। १) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५। ७) इत्यादि नानाश्रुतिभ्यां द्वैतस्यासर्वं सिद्धम् ।

सतां उत्पत्तिः प्रलया वा स्यात्मासतः शशविपाणादेः । नाप्यद्वैतमुत्पद्यते स्तीयते वा । अद्रयं चोत्पत्तिप्रलयद्वयेति विप्रतिपिद्यम् ।

यस्तु पुनर्द्वैतसम्यक्बहार स रज्जुसर्पयदात्मनि प्राणादिलयः कल्पित इत्युक्तम् । न हि मनो विकल्पनाया रज्जुसर्पादि लयणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिषो । न च मनसि रज्जुसर्पस्यान्पत्तिः प्रलया वा न शोभता वा । तथा मानसस्या

द्वैतकी असत्यता होनेक कारण [ इनकी भी सत्ता नहीं है ] । "जहाँ द्वैत-जैसा होता है" "जो यहाँ नानात्व देखता है" "यह सब आत्मा ही है" "यह सब ब्रह्म ही है" "एक ही अद्वितीय" "यह जो कुछ है सब आत्मा है" इत्यादि अनकों श्रुतियोंसे द्वैतकी असत्यता सिद्ध होती है ।

उत्पत्ति अथवा प्रलय सत्की ही हो सकती है, शशशृङ्गाणि अस इस्तुकी नहीं हो सकती । इसी प्रकार अद्वैत वस्तु भी उत्पन्न या लीन नहीं होती । जो अद्रय हो वह उत्पत्ति प्रलयवान् भी हो—यह तो सवपा विरुद्ध है ।

इसके सिवा जो प्राणविरूप द्वैतसम्यक्बहार है वह रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें ही बन्धित है—यह बात पहलक नहीं जा चुकी है । रज्जु-सर्पाविरूप मनादिकल्पकी भी रज्जुमें उत्पत्ति या प्रलय नहीं होती । रज्जुमपकी उत्पत्ति या प्रलय न तो मनमें ही होती है और न [ मन और रज्जु ] दोनोंहीमें । इसी प्रकार द्वैतयज्ञ मनामप्य भी समान ही है,

विशेषावद्वैतस्य । न हि नियते  
मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते ।

अता मनोविकल्पनामात्रं  
द्वैतमिति सिद्धम् । तस्मात्सकलं  
द्वैतस्यासत्त्वाभिराभायभावः  
परमार्थवेति ।

यद्येव द्वैताभावे स्यात्सूक्ष्मापारो  
व्यवहारस्तथा नाद्वैते विरोधात् ।

तथा च सत्यद्वैतस्य  
वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवाद  
प्रसङ्गः, द्वैतस्य चामायात् ।

न; रज्जुसर्पादिविकल्पनाया  
निगस्यदन्वानुपपत्तिरिति प्रस्यु  
क्तमेतत्कथमुत्तीवयसीत्याह—  
रज्जुगपि सपविकल्पस्यास्पदमूला  
विकल्पितंवेति इष्टान्तानुप  
पत्तिः ।

न, विकल्पनाद्ययद्विकल्पस्य  
तस्याविकल्पितरथादेव सत्त्वाप

क्योंकि मनके समाहित अथवा सुषुप्त  
हो जानेपर द्वैतका ग्रहण नहीं होता ।

अतः यह सिद्ध हुआ कि द्वैत  
मनकी कल्पनामात्र है । इसलिये  
यह ठीक ही कहा है कि द्वैतकी  
असत्यता होनेके कारण निरोभादि  
का अभाव ही परमार्थता है ।

एक—यदि ऐसा है तो शास्त्रका  
व्यापार द्वैतका अभाव प्रतिपादन  
करनेमें ही है, अद्वैत-सोपने में नहीं,  
क्योंकि इससे क्रिोध आता है। एसी  
व्यवस्थामें अद्वैतके वस्तुत्वमें कोई  
प्रमाण न होनेके कारण शून्यवादका  
प्रसंग उत्पन्न हो जाता है; क्योंकि  
द्वैतका तो अभाव ही है ।

सिद्धांती—ऐसी बात नहीं है;  
क्योंकि रज्जु-सर्पादि विकल्पका  
निराधार होना सम्भव नहीं है—इस  
प्रकार पहले निराकरण कर लिये  
जानेपर ही इसी शंकाकरे फिर क्यों  
उठता है ? इसीपर [शून्यवादी] कहता  
है—सर्पभ्रमकी अधिष्ठानमूला रज्जु  
भी कल्पिता ही है । इसलिये यह  
इष्टान्त ठीक नहीं है ।

सिद्धांती—नहीं, कल्पनाका  
अवयव ही जानकर अविकल्पित आत्मा

● क्योंकि द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेमें ही यह नहीं समझा जा  
सकता कि शास्त्रको अद्वैतकी वक्ष्य अभीष्ट है ।

पक्षेः । रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति  
 चेत् ? न, एकान्तेनाविकल्पि  
 तत्त्वादविकल्पितरज्ज्वश्वत्प्राक्  
 सपामावधिज्ञानात् । विकल्प  
 यितुश्च प्राग्विकल्पनात्पक्षेः  
 सिद्धत्वाभ्युपगमादसम्भानुप  
 पत्ति ।

कथं पुन स्वरूपव्यापाराभावे  
 घातस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम् ?

नैप दापः । रज्ज्वां सपादि  
 बदात्मनि द्वैतस्माद्विद्याभ्यस्त  
 स्वात् । कथम् ? सुस्यद् दु ग्वी  
 मृता जाता मृता जीर्णो दहवान्  
 पश्यामि प्यक्ताऽप्यक्त कृता  
 कृती संयुक्ता विपुक्त धीणा  
 इदोहं ममैत इत्येवमादयः सप्त  
 आत्मन्यभ्यारोप्यन्ते । आत्मै

की सत्ता उसके अविकल्पितत्वके  
 कारण ही सम्भव हो सकती है ।  
 यदि कहो कि रज्जु-सर्पके समान  
 उसकी वसता है, तो ऐसा  
 कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह  
 अविकल्पित रज्जु-अंशके समान  
 सर्पाभाषक विज्ञानके पहलेसे ही  
 सर्पया अविकल्पितरूपसे विद्यमान  
 है । इसके सिवा, जो विकल्पना  
 करनेवाला होता है उसे विकल्पकी  
 उत्पत्तिसे पहले ही विद्यमान स्वीकार  
 करनेके कारण उसकी वसता नहीं  
 मानी जा सकती ।

पूर्व०—किन्तु कात्मस्वरूपमें  
 प्रमाणकी गति न होनेपर भी शास्त्र  
 द्वैतविज्ञानका निवर्तक कैसे है ?

सिद्धास्त्री—[ यहाँ ] यह दोष नहीं  
 है, क्योंकि रज्जुमें सर्पान्त्रिक समान  
 जानामे अविषाक कारण द्वैतका  
 अभ्यास है । किस प्रकार ?— मैं सुखी  
 हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ  
 मरा हूँ जरापस्त हूँ दहशी हूँ,  
 देवता हूँ मयक हूँ, व्यक्त हूँ, कृता  
 हूँ, पश्यवान् हूँ संयुक्त हूँ, विपुक्त हूँ  
 धीग हूँ इह हूँ ये मर हूँ,—  
 इत्यादि प्रकारके सम्पूर्ण विद्यमान  
 आत्मामे आरोपित किय जाने हैं तथा  
 आत्मा इनमें अनुपपन्न है, क्योंकि



तेष्वनुगतः सर्वश्राव्यभिचारात् ।

यथा सर्पघारादिभेदेषु रन्धुः ।

यदा चैव विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य

सिद्धत्वान्न कठव्यत्वं शास्त्रेण ।

अकृतकृत् च शास्त्रं कृतानु

कारित्वेऽप्रमाणम् । यथाऽबिद्या

भ्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रति

बन्धादेवारमनः स्वरूपेणानवस्थानं

स्वरूपावस्थानं च भेद इति

सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रम्

आरमन्वसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन

नेति नत्यस्युत्तादिवाक्यैः । आत्म-

स्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वा

दिभेदेषु नानुवृत्ताऽस्ति धमः ।

यद्यनुवृत्तं स्यात्श्राव्यारापित

सुखित्वादिलक्षणा विशेष ।

यथाष्वात्क्षुणविशेषप्रत्ययर्ना

धीयता । सम्प्राप्तिर्दिग्प ण्वा

रमनि सुखित्वादया विशेषः

उसका कहाँ भी व्यभिचार नहीं है, जैसे कि सर्प और घारा आदि भेदों में रन्धु ।

जब कि ऐसी बात है तो विशेष्य-रूप प्रत्यय स्वरूपकी प्रतीति सिद्ध होनेके कारण उसका सम्बन्धमें शास्त्रकी कुछ कर्तव्य नहीं है । शास्त्र तो असिद्ध वस्तुको सिद्ध करनेवाला है, सिद्ध वस्तुका अनुवाद करनेसे वह प्रमाण नहीं माना जाता । क्योंकि अबिद्यासे आरोपित सुखित्व आदि विशेष प्रतीकत्वोंके कारण ही आत्माकी स्वरूपसे स्थिति नहीं है, और स्वरूपसे स्थिति ही भेद है, इस-स्थित्ये नस्ति नस्ति और अत्युक्तम् आदि वाक्योंसे आत्मामें असुखित्वात्किरी प्रतीति करानके द्वारा शास्त्र [ उसमें आरोपित ] सुखित्व आदिकी निवृत्ति करनेवाला है । आत्मस्वरूपके समग्र असुखित्व आदि भी सुखित्व आदि भेदोंमें अनुवृत्त धम नहीं है । यदि वह भी अनुवृत्त होता तो उसमें सुखित्व आदिरूप विशेष धर्मका आरोप नहीं किया जा सकता था जिसप्रकार कि उष्णप्रथमविशिष्ट अग्निमें शीतत्वका आरोप नहीं किया जा सकता । जब सुखित्वादि विद्यत निर्विशेष

कल्पिता । यस्वसुस्त्रिस्वादिशास्त्र  
मात्मनस्तस्सुस्त्रिस्वादिविज्ञेयनि  
दृश्यर्थमेवेति सिद्धम् । “सिद्ध तु  
निवर्तकत्वात्” इत्यागमविदां  
सूत्रम् ॥ ३२ ॥

आत्मामें ही कल्पना किये गये हैं ।  
इससे सिद्ध हुआ कि आत्माके  
विषयमें जो असुस्त्रिस्वादि  
शास्त्र हैं यह सुस्त्रिस्वादि विशेषकी  
निवृत्तिके ही किये हैं । शास्त्र  
वेत्ताओंका सूत्र भी है— [ सुस्त्रिस्वा  
दि भर्षोका ] निवर्तक होनेसे  
[ अस्यूक्तम् आदि ] शास्त्रकी प्रामा  
णिकता सिद्ध होती है” ॥ ३२ ॥

अद्वैतभाव ही महत्त्वमय है

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—

पूर्व श्लोकार्थके अर्थका हेतु बत  
लाते हैं—

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पित ।

भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयमा शिवा ॥ ३३ ॥

यह ( आत्मतत्त्व ) प्राणादि असद्भावोंसे और अद्वैतरूपसे कल्पित  
है । वे असद्भाव भी अद्वैतसे ही कल्पना किये गये हैं । इसलिये अद्वैतभाव  
ही महत्त्वमय है ॥ ३३ ॥

यथा रज्ज्व्यामसद्भिः सप्त  
धादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण  
सत्तायं सप्त इयं धारा दण्डाऽपि  
मिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यते  
एव प्राणादिभिरनन्तरमद्भिरेवा-  
विद्यमानं न परमार्थत — न  
धप्रचक्षितं मनसि कथिद्भावात्

जिस प्रकार रज्जुमें अविद्यमान  
सर्प धारा आदि भावोंसे तथा  
विद्यमान अद्वितीय रज्जुद्रव्यमें यह  
सर्प है, यह धारा है यह दण्ड है  
इस प्रकार रज्जुद्रव्य ही कल्पना  
किया जाता है उसी प्रकार  
प्राणादि अमन्य असत्-अविद्यमान  
अर्थात् जो अमन्य नहीं है, [ उन  
भावोंमें जन्मा विकल्पित हो रहा है ]—

उपलक्षयितुं शक्यते केनचित्; न चात्मनः प्रचलनमस्ति; प्रचलितस्यैवापलम्बमाना भावान परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्या - अताञ्जसिद्धिरव प्राणादि भावैरद्वयेन च परमार्थसत्ता स्मना रज्जुषत्सर्वविकल्पस्यास्पदभूतेनार्य स्वयमेवात्मा कल्पितः; सदैकस्वभावोऽपि सन् ।

तं च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सतात्मना विकल्पिताः । न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलम्बते, अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वैनात्मनाद्वयस्याभ्यभिचारात्कल्पनादस्यायामप्यद्वयता शिवा । कल्पना एव त्वशिवाः । रज्जुसर्पादिवत्प्राणादिकारिण्यो हि ताः । अद्वयता जमातः सैव शिवा ॥ ३३ ॥

क्योंकि विद्यके चक्षयमाण न होनेसे किन्तीके द्वारा कोई भाव उपलक्षित नहीं है। सद्यता, और आत्मने प्रचलन है नहीं, तथा केवल चक्षयमान चित्तमें ही उपलब्ध होनेवाले भाव परमार्थत स्वय हैं—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । अत यह आत्म, स्वय एकमात्र सत्यभाव होने पर भी कल्पनाके प्राणादि भावोंसे तथा रज्जुके समान सब प्रकारके विकल्पके आश्रयभूत परमार्थ सत्य आत्मस्वरूपसे कल्पित है ।

ये प्राणादि भाव भी अद्वय स्वरूप आत्मासे ही कल्पना किये गये हैं, क्योंकि कोई भी कल्पना निराधार नहीं हो सकती । अत समस्त कल्पनाकी आश्रयभूता होनेसे और अपने स्वरूपसे अद्वयता कभी अभिचार न होनेसे कल्पना अद्वयतामें ही अद्वयता ही मङ्गलमयी है । केवल कल्पना ही अमङ्गलमयी है क्योंकि वह रज्जु-सर्पान्तिके समान मय आदि उत्पन्न करनेवाली है । अद्वयता अमयरूपा है इसलिये वही मङ्गलमयी है ॥ ३३ ॥

तत्तत्काली इष्टिमे नानात्वस्य आत्मताभाव इ

कृतमाद्वयता शिवा ? नानामूर्त । और भी अद्वयता क्यों मङ्गलमयी

पृथक्त्वमन्वसान्यस्माद्यत्र दृष्टं  
तत्राश्रिय मवेत् ।

हे<sup>१</sup>—जहाँ एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका  
मानामृत पार्थक्य देखा जाता है  
वही धमङ्गल हा सकता है ।  
[ कित्नु— ]

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।

न पृथक् नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥ ३४ ॥

यह नानात्व न तो अत्मस्वरूपसे है और न अपने ही स्वरूपसे  
कुछ है । कोश भी वस्तु न तो प्रकृतसे पृथक् है और न अपृथक् ही—एसा  
तत्त्ववेत्ता जानते हैं ॥ ३४ ॥

न ह्यत्राद्ये परमार्थसत्त्वात्मनि  
प्राणादिसत्तारत्वात्मिन् अगदा  
स्मभावेन परमार्थस्वरूपस्य निरूप्य  
माणं नाना वस्त्वन्वरमृत भवति ।  
यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन  
निरूप्यमाणा न नानामृत  
कल्पित सप्तोऽस्ति तद्वत् । नापि  
स्येन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यत ।  
कदापिदपि रज्जुमर्षवत्कल्पि  
तस्यादेय ।

इस अद्वितीय परमार्थ स्वयं  
आत्मामें यह प्राणादि सत्तारजातरूप  
जगत् आत्मभावसे—परमाथस्वरूपसे  
निरूपण किये जानपर माना अर्थात्  
पृथक् वस्तुके अन्तमृत नहीं रहता ।  
त्रिस प्रकार प्रकाशद्वारा रज्जुस्वरूपसे  
निरूपित होनपर कल्पित सर्प पृथक्-  
रूपसे नहीं रहता उसी प्रकार  
[ परमाथस्वरूपसे निरूपण किये जानपर  
जगत् आत्मामें पृथक् वस्तु नहीं  
टकरता<sup>१</sup> और न यह, रज्जु-मर्षक  
समान कल्पित ज्ञानक कल्पण ही,  
अत्म प्राणादिस्वरूपसे कभी कुछ  
रहता है ।

तथा त्रिस प्रकार बोधसे जैसे  
पृथक् है उस प्रकार प्राणादि वस्तु  
आत्मामें भी पृथक् नहीं है । इसी-  
अर्थे अज्ञान ज्ञानमें आत्मामें अपना

तथान्यान्य न पृथक्प्राणादि  
वस्तु यथास्मदपि पृथग्विद्यत  
ण्वम् । अतोऽसत्प्राणापृथग्विद्यत

अन्योन्व परेण वा किञ्चिदिति  
एवं परमार्थतत्त्वमात्मविदो  
ब्राह्मणा विदुः । अतोऽश्विषहेतु  
स्वाभावाद्द्वयतैव शिषेत्य  
भिप्रायः ॥ ३४ ॥

किसीके अन्यसे कोई वस्तु अपृथक् भी  
नहीं है—ऐसा कारण ब्राह्मणजो  
परमार्थतत्त्वको जानते हैं । अतः  
अमङ्गलकी हेतुताका अभाव होनेसे  
अद्वयता ही मङ्गलमयी है—यह इसका  
तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

इस रहस्यक साक्षी होम वे ।

सदेतस्सम्बर्द्धन स्तुयते— | अब इस सम्बन्धानकी स्तुति की  
जाती है—

धीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।

निर्विकल्पो ह्यय दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५ ॥

जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन वेदके पारगमी  
मुनियोंद्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वय तत्त्व देखा गया है ॥ ३५ ॥

धिगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्व  
दोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलै  
र्विभेक्तिभिर्वेदपारगैरभगतयेदार्थ  
तत्त्वज्ञानिभिर्निर्विकल्प सर्ववि  
कल्पान्माऽपमारमाह्य उपलम्भ  
वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चापशम —  
प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारमस्याप  
शमाऽभावा यस्मिन्स आरमा

जिनके राग, भय और क्रोधादि  
समस्त दोष निवृत्त हो गये हैं उन  
मुनियों अर्थात् सर्वज्ञ मननशील  
विभेक्तियों और वेदक पारगामियों  
द्वारा वेदार्थके मर्मज्ञ वेदान्तार्थ  
परायण तत्त्वज्ञानियोंद्वारा यह  
सब प्रकारक विकल्पोंसे रहित  
निर्विकल्प और प्रपञ्चापशम—द्वैतपर्य,  
भेदके विस्तारका नाम प्रपञ्च है  
उसकी जिसमें निवृत्ति हो जाती है  
वह आत्मा प्रपञ्चोपशम है—इसीलिये  
जो अद्वय है एसा यह आत्मा पण्डित

प्रपञ्चोपसृमोऽत एवाद्रया  
 शिवाद्दोषैरेव पञ्चितैर्षेदान्तार्थ  
 तत्परै संन्यासिभिः परमात्मा  
 द्रष्टुं शक्यः, नान्यै शशादिकृष्टु  
 पितृपेताभिः स्वपक्षपातिदर्शनै  
 स्तार्किकादिभिरित्पमिप्रायः ॥ ३५ ॥

यानी वेदान्तार्थमें तत्पर, दोषहीन  
 सन्यासियोंद्वारा ही देखा जा सकता  
 है। त्रिनके चित्त रणदि दोषसे  
 दूषित हैं और त्रिनके दर्शन अपने  
 पक्षका आपह करनेवाले हैं उन  
 अन्य तार्किकादिको इस कारणका  
 साक्षात्कार नहीं हो सकता—यह  
 इसका अमिप्राय है ॥ ३५ ॥

### तत्त्वज्ञानका आदेश

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वाद्  
 द्रव्यं शिबममयम्—

क्योंकि सम्पूर्ण अनर्थका निवृत्ति-  
 स्थान ज्ञानसे अद्रव्य ही मज्जक-  
 मय और अमयरूप है—

तस्मादेव विदित्वैनमर्हते योजयेत्स्मृतिम् ।

अर्हते समनुप्राप्य जडबल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इसलिये इस (आप्तत्व) को ऐसा जानकर अर्हते मनोनिवेश करे  
 और अर्हतत्वको प्राप्तकर लोकेमें जडबल व्यवहार करे ॥ ३६ ॥

अत एव विदित्वैनमर्हते स्मृतिं  
 योजयत् । अर्हतापगमायैव स्मृतिं  
 द्रव्यादित्यर्थः । तच्चर्हैतमवगम्या  
 इमस्मि परं व्रजति विदित्वा  
 ज्ञानायाधरीतं सायादपरोयादश्च  
 मात्मानं सर्वलोकन्यवहारातीत

इसलिये इसे ऐसा जानकर अर्हते  
 में मनोनिवेश करे अपात् अर्हताप  
 के लिये ही स्मृति करे। और  
 उस अर्हतको जानकर अपात् में  
 ही परब्रह्म है' ऐसा ज्ञान प्राप्तकर,  
 यानी सम्पूर्ण लोकाव्यवहारेसे 'न्य,  
 मोक्षनष्टा आदिसे अतीत; सायात्  
 अरुणश्च अत्रग्या आत्माके अनुभव  
 कर लोकेमें जडबल व्यवहार करे ।

अहधल्लोकमाचरेत् । अप्रस्थ्याप  
यन्नात्मानमहमेवविध इत्यभि-  
प्राय ॥ ३६ ॥

तात्पर्य यह है कि 'मैं ऐसा हूँ'  
इस प्रकार अपनेको प्रकट न करता  
हुआ व्यवहार करे ॥ ३६ ॥

### तत्त्वज्ञान आचरण

क्या चर्याया लोकमाचरे  
दित्याह—

लोकमें कैसे व्यवहारसे आचरण  
करे ? इसपर कहते हैं—

निस्तुतिर्निर्ममस्कारो नि स्वधाकार एव च ।

चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ३७ ॥

यतिको स्तुति, नमस्कार और स्वधाकार ( वैत्रकर्म ) से रक्षित  
हो चला ( शरीर ) और अचला ( आत्मा ) में ही विश्राम करनेवाला  
होकर यादृच्छिक ( बनायासंशय वस्तुद्वारा संशुद्ध रहनेवाला ) हो  
जाना चाहिये ॥ ३७ ॥

स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्म  
षक्तिवस्त्यक्तसर्वबाधौषणः प्रति  
पक्षपरमहंसपारिवान्य इत्यभि  
प्रायः—“एतं वै तमात्मान  
विदिस्वा” ( पू० उ० ३।५।१ )  
इत्यादिश्रुतेः; “तवृषुद्वयस्त  
दात्मानस्तन्निष्ठास्तस्वरायणाः”  
( गीता ५।१७ ) इत्यादि  
स्मृतयः—चल शरीर प्रतिक्षण  
स्मृतयः—चल शरीर प्रतिक्षण-  
मन्यथामावातु, अचलमात्म  
तत्त्वम्, पदाकदाचिद्गोचरना

स्तुति-नमस्काराणि सम्पूर्ण कर्मसे  
रक्षित तथा समस्त बाध एरण्यानीकर  
त्पाणी हो, अर्थात् “निश्चय इस उस  
आत्मको जानकर” इत्यादि श्रुति  
और “मिनक्षी श्रुति, आत्मा और  
निष्ठा उसीमें लगी हुई है तथा जो  
उसीके शरणप्रयत्न है” इस स्मृतिके  
अनुसार परमहंस पारिवान्यमात्रको  
प्राप्त हो—प्रतिक्षण अन्यथा मग्नको  
प्राप्त होनेवाला होनेसे ‘चला’ शरीर  
को कहते हैं तथा ‘अचला’ आत्म  
तत्त्वम् नाम है—इस प्रकार जब  
तप भाजनादि व्यवहारके निमित्तसे  
आकाशके समान अविचार अन

दिश्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलं  
स्वरूपमारमतस्वमात्मना निष्कृत  
माथममारमस्मितिं विस्मृत्याह  
मिति मन्यते यदा तदा चलो देहो  
निकेतो यस्य सोऽप्येव चलाचल  
निकेता विद्वाभ पुनर्वाद्यविषया  
अथः; स च यादच्छिन्ना भवेत्  
सदच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनप्राप्त  
मात्रदेहमित्तिरिस्मर्थ ॥ ३७ ॥

स्वरूपमृत आमततरको जो अपना  
निकेत यानी आश्रय है उसे अर्थात्  
आत्मस्मितिको मृतकर जब 'मैं हूँ'  
इस प्रकार अभिमान करता है,  
उस समय 'चल' यानी शरीर ही  
त्रिसक्य निकेत है—इस प्रकार विद्वान्  
अच्छाचलनिकेत होकर अर्थात् छिन्न  
बाद्य त्रिसक्य आश्रय न करके  
यादच्छिन्न ही जाय; तत्पय यह कि  
अनायास ही प्राप्त हुए कौपीन,  
आच्छादन और प्रममाप्रसे त्रिसक्य  
देहस्मिति है—ऐसा हो जाय ॥३७॥

अविषय तत्त्वनिष्ठास्य विषयान्

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्व दृष्ट्वा तु बाह्यत ।

तत्त्वमीभूतस्तद्वारामस्तत्त्वाद्प्रभुपुतो भवेत् ॥ ३८ ॥

[ फिर वह विवेकी पुरुष ] आध्यात्मिक तत्त्वका देखकर और बाद  
तत्त्वका भी अनुभव कर तत्त्वामृत और तत्त्वमें ही रमण करनेवाला हाकर  
तत्त्वसे प्युत न हो ॥ ३८ ॥

बाह्यं पृथिव्यादितत्त्वत्रम् आध्या-  
त्मिकं च दहादिलक्षण रज्जुसपा  
दिवत्प्यप्नमायादिबध असत्  
“वाचारम्भण विक्राने नामधेयम्”  
(छा० उ० ६ । १ । ४) इत्या  
दिभृते । आत्मा च सबादा

पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्व और  
निष्कारण आध्यात्मिक तत्त्व  
“वाचारम्भण विक्राने नामधेयम्”  
इत्यादि ध्रुविके अनुसार रज्जु  
सर्पिके समान परंम्वन या मायाक  
समान मिथ्या है तथा “यह सत्य  
है वह आत्मा है और बही तू है”  
इस ध्रुविके अनुसार आत्मा बाह्य





मृतेषु" (गीता १३ । २७) | भूतोंमें समान भावसे स्थित" आदि  
इत्यादिस्मृतेः ॥ ३८ ॥ | स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है ॥ ३८ ॥

इति श्रीगोविन्दमगधपूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिब्राजयाचार्यस्य  
श्रीशाङ्करमगधत कृतौ गौडपाणीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्यास्यं  
द्वितीय प्रकरणम् ॥ २ ॥

## वैतथ्यप्रकरण

आङ्कारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चो  
पञ्चमः शिवोऽद्वैत आत्मेति  
प्रतिष्ठायात्रेण । ज्ञाते दत्त न  
विद्यत इति च । तत्र द्वैताभावस्तु  
वैतथ्यप्रकरणेन सम्प्रमायागन्धर्व  
नगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्त  
वत्त्वादिहेतुभिस्तरुणैः च प्रति  
पादिता । अद्वैतं किमागममात्रेण  
प्रतिपत्त्यमाहोस्त्रिचरुणैः पापीत्यत  
माह—शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्  
तस्करुणमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते  
उपास्योपासनादिभेदार्थं सर्वं

[ आगमप्रकरणमें ] लोङ्कारका  
निर्णय करते समय यह बात केवल  
प्रतिष्ठायात्रेसे कही है कि आत्मा  
प्रपञ्चका निवृत्तिस्वाम शिव और  
अद्वैतस्वरूप है तथा ज्ञान ही ज्ञान  
पर हीन नहीं रहता । फिर वैतथ्य  
प्रकरणमें ज्ञान, माया और गन्धर्व-  
नगरादिक दृष्टान्तोंसे दृश्यत्व एवं  
आदि अन्तवत्त्व आदि हतुओंद्वारा  
तर्कसे भी द्वैतके अभावका प्रतिपादन  
किया गया । किन्तु यह कहीत क्या  
शास्त्रमात्रसे ही ज्ञातव्य है अथवा  
तर्कसे भी जाना जा सकता है ?  
इसपर कहते हैं—तर्कसे भी जाना  
जा सकता है । सो किस प्रकार ?  
इसी बातको बतलानेके लिये अद्वैत  
प्रकरणका आरम्भ किया जाता है ।  
उदास्य और उदासना आदि सम्पूर्ण  
में निरुपमा है, केवल आत्मा ही अद्वैत

वितर्धं केवलमात्माद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे; यतः—  
 परमार्थस्वरूप है—यह बात निहते  
 प्रकरणमें निहित हुई है, क्योंकि—  
 भेददर्शी कृपण ह

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।

प्रागुत्पत्तरज सव तेनासौ कृपण स्मृत ॥ १ ॥

उपासनाका आश्रय लेनेवाला जीव कर्म्यब्रह्ममें ही रहता है  
 [ अर्थात् उसे ही अपना उपास्य मानता है, और समझता है कि ]  
 उत्पत्तिसे पूर्व ही सब अज्ञ [ अर्थात् अज्ञानमा ब्रह्मस्वरूप ] था । इसलिये  
 वह कृपण ( दोम ) माना गया है ॥ १ ॥

उपासनाश्रित उपासनामात्मनो  
 माक्षसाधनत्वेन गत उपासको  
 ऽहं ममोपास्यं ब्रह्म । सदुपासनं  
 कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं  
 वर्तमानोऽर्ज ब्रह्म शरीरपातावृष्व  
 प्रतिपस्थे प्रागुत्पत्तेषामिदं  
 सर्वमहं च । यदात्मकोऽहं  
 प्रागुत्पत्तरिदानीं धावा जाते  
 ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया  
 पुनस्तदेव प्रतिपरस्य इत्येव  
 मुपासनाश्रिता धर्मः साधका  
 येनेव सुद्रमदाविचिनासौ कारणेन  
 कृपणा दीनोऽस्यकः स्मृतो

‘उपासनाश्रित’—उपासनाको  
 अपने माक्षक साधनरूपसे मानने  
 वाला पुरुष अर्थात् मैं उपासक  
 हूँ, और ब्रह्म मेरा उपास्य है ।  
 उसकी उपासना करके इस समय  
 कर्म्यब्रह्ममें रहता हुआ शरीरपालके  
 अनन्तर मैं अज्ञानमा ब्रह्मको प्राप्त हो  
 जाऊँगा तथा उत्पत्तिके पूर्व भी यह  
 सब और मैं अज्ञरूप ही थे ।  
 उत्पत्तिसे पूर्व मैं जैसा था अज्ञ  
 होकर जातब्रह्ममें वर्तमान हुआ  
 अन्तमें उपासनाद्वारा मैं फिर उसी  
 रूपको प्राप्त हो जाऊँगा—इस प्रकार  
 उपासनाका आश्रय लेनेवाला साधक  
 जीव क्योंकि क्षुद्रब्रह्मसेवा है, इस  
 कारणसे ही यह सर्वदा अज्ञान  
 ब्रह्मका दशम करनेवाले महात्माओं  
 द्वारा उपासना—दीन अर्थात् क्षुद्र मान

नित्याञ्जनादक्षिभिरित्यमिप्रायः।

“यथाधानम्युदित येन वाग  
म्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद  
अदिदमुपासते” (फे० उ० १।४)

इत्यादिभ्युत्पत्तिलक्षणात् ॥१॥

ग्या है—यह इस्का अमिप्राय है,  
जैसा कि “जो वाणीसे प्रकट नहीं  
होता वस्तिक जिससे वाणी प्रकट  
होती है, वही ब्रह्म है—एसा जान  
जिसकी व उपासना करता है वह  
ब्रह्म नहीं है’ इत्यादि तल्लक्षकर  
श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ १ ॥

### अकार्पण्यनिरूपणकी प्रतिज्ञा

सवाद्याम्यन्तरमज्जमास्मान्  
प्रतिपक्षुमशक्तुबभ्रिषया दीन  
मास्मानं मन्यमानो जातोऽह  
जाते ब्रह्मणि वर्ते तदुपासनाभितः  
सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः  
कृपणो भवति यस्मात्—

बाहर और भीतर वर्तमान  
अजन्मा आत्माको प्राप्त करनेमें  
असमर्थ होमके कारण अतिघातश  
अपनेको दीन माननेवाला पुरुष,  
क्योंकि मैं उत्पन्न हुआ हूँ, उत्पन्न  
हूँ ब्रह्ममें ही वर्तमान हूँ और उत्प-  
की उपासनाका आश्रय लेकर ही  
ब्रह्मको प्राप्त होऊँगा’ इस प्रकार  
माननेके कारण दीन है—

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।

यथा न जायते किञ्चिज्जायमान समन्ततः ॥ २ ॥

इसलिये अब मैं सर्वत्र समानमात्रको प्राप्त जन्मरहित अद्वयणमात्र  
( अजन्मा ब्रह्म ) का वर्णन करता हूँ [ जिससे यह समझमें आ जायगा  
कि ] किन्तु प्रकट सब ओर उत्पन्न होनेपर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ ॥२॥

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमकृपण  
भावमर्जं ब्रह्म । तद्धि कापण्या  
स्वरम् “यत्रान्याऽन्यरपश्यत्य  
न्यच्छृणोत्यन्यद्विज्ञानाति तदन्य

इसलिये मैं अकार्पण्य अद्वयण  
मात्र बर्णित् अजन्मा ब्रह्मका वर्णन  
करता हूँ । “जहाँ अन्य अन्यको  
देखता है, अन्यको सुनता है और  
अन्यको ही जानता है वह अन्य है. बत—

मरणसत्" (छा० उ० ७।२४।

१ ) "वाचारम्भम विकारा

नामधेयम्" (छा० उ० ६।१।४)

इत्यादिमुक्तिम् । तद्विपरीत

सवाह्याभ्यन्तरमन्त्रकार्पण्यं भूमा-

मर्षं ब्रह्म । यत्प्राग्वादिद्याकृत

सर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तद्कार्पण्यं

ब्रह्मामीत्यर्थः ।

तदज्ञाति, अविद्यमाना आति

रस्य समतां गत सर्वसाम्यं

गतम् । कस्मात् ? अवयववैषम्या

भावात् । यदि सावयवं वस्तु

तदवयववैषम्यं गच्छन्नाप्यत इत्यु-

च्यते । इदं तु निरवयवत्वा

त्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवै-

स्फुटत्यतोऽज्ञात्यकार्पण्यम् ।

समन्ततः सम-वायवा न जायते

किंचिदवयवमपि न स्फुटति

रन्तुसर्ववदविद्याकृतदृष्ट्या

मरणशीलं चौर वसत् है" "कि-

वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाम-

है" इत्यादि मुक्तियोंके अनु-

त्पर्युक्त आत्मब्रह्म तो कृपणताका

कारण है । उससे विपरीत वा-

भीतर कर्मदान अज्ञाना मूमासं-

ब्रह्म अकार्पण्यरूप है, जिसे प्र-

ज्ञानपर अविद्याकृत सम्पूर्ण इन्द्र-

की निवृत्ति हो जाती है उस कृप-

भावसे रहित ब्रह्मका मैं कर्णन करूँ-

यह इसका तात्पर्य है ।

यह अज्ञाति अर्थात् अविद्यमान

आति न हो और समताको प्राप्त

अर्थात् सबकी समानताको प्राप्त है ।

ऐसा क्यों है ? क्योंकि उसमें

अवयवोंकी विभक्तताका अभाव है ।

नो वस्तु साक्यता होती है वह

अवयवोंकी विभक्तताको प्राप्त होनेके

कारण उत्पन्न होती है ऐसे कभी

जाती है । किन्तु यह ब्रह्म तो

निरवयव होनेके कारण समताको

प्राप्त है, इसलिये किन्हीं भी अवयवों-

के रूपमें प्रकटित नहीं होता ।

अतः यह सब ओरसे अज्ञाति अर्थात्

अकार्पण्यरूप है । जिस प्रकार कि

कुछ भी उत्पन्न नहीं होता अर्थात्

रन्तु-सर्वके समान अविद्यमानसे

उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार

मान येन प्रकारेण न ज्ञायते  
सर्वतोऽज्वमेव ब्रह्म भवति तथा त  
प्रकारं शृण्वित्यर्थ ॥ २ ॥

उत्पन्न नहीं होता—सब ओर अज्ञान  
ब्रह्म ही रहता है उस प्रकारको  
अज्ञान करो—यह इसका अमिप्राय  
है ॥ २ ॥

जीवकी उत्पत्तिके नियममें दृष्टान्त

अज्ञाति ब्रह्माकार्षण्यं बह्या  
मीति प्रतिज्ञातम् । तत्सिद्धयर्थं  
हेतुं दृष्टान्तं च बह्यामीत्याह—

मैं अज्ञान्ना ब्रह्मका, जो अज्ञान-  
भावसे रहित है, ब्रह्मण करता हूँ—  
ऐसी प्रतिज्ञा की है । उसकी सिद्धिके  
लिये हेतु और दृष्टान्त भी बतवता  
हूँ—इस अमिप्रायसे कहते हैं—

आत्मा आकाशवज्जीर्घटाकाशैरिषोदित ।

घटादिवच्च सघातैर्जाताधेतन्निदर्शनम् ॥ ३ ॥

आत्मा आकाशके समान है; वह घटाकाशके समान जीवरूपसे  
उत्पन्न हुआ है । तथा [ मृत्तिकाके ] घटाके समान देहसंज्ञानरूपसे  
भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है । आत्माकी उत्पत्तिके नियममें यही दृष्टान्त  
है ॥ ३ ॥

आत्मा परो हि यस्मादाकाश  
वस्तुन्मा निरवयव सर्वगत  
आकाशयदुक्ता जीवै ध्वजसुर्षणा  
कार्शरिव घटाकाशतुल्य उदित  
उक्तः स एवाकाशमम पर  
आत्मा ।

अथ वा घटाकार्षण्यथाकाश  
उदित उत्पन्नथा परो जीवाम-

क्योंकि परमात्मा ही आकाशवत्  
अर्थात् आकाशके समान सूक्ष्म  
निरवयव और सर्वगत कहा गया है  
आर वही घटाकाशमदृश क्षेत्रज्ञ  
जीवके रूपमें उत्पन्न हुआ कहा  
गया है, इसलिये वह परमात्मा ही  
आकाशके समान है ।

अथवा जो सनातान कि जिस  
प्रकार घटाकाशके रूपमें आकाश  
उत्पन्न हुआ है उन्ही प्रकार परमात्मा

मिरुत्पन्नः । जीवात्मनां परमा-  
दात्मन उत्पत्तिमा भूपते वैदान्तपु-  
त्रा महाकाशाशुभटाकाशात्पत्ति  
समा न परमार्थत इत्यभिप्रायः ।

तस्माद्वाकाशाशुभटादयः

सपाता यथोत्पद्यन्त दशमाकाश  
स्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्या-  
दिभूतसंपाता आत्माग्निक्वाथ  
कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्पबद्धि  
कल्पिता जायन्त । अथ उच्यते  
घटादिबन्ध सपातैरुचित इति ।  
यदा मन्दबुद्धिप्रतिपिपासविषया  
भूत्यात्मना जातिरुच्यते जीवा  
दीनां वदा जाताषुषगम्भमानाया  
मेतन्निदधनं दृष्टान्ता यदादिता  
काशुभदित्याम् ॥ ३ ॥

जीवात्माओंके रूपसे उत्पन्न हुआ  
है । तात्पर्य यह है कि वेदन्तमें  
व्या परमात्मासे जीवात्माओंकी उत्पत्ति  
सुनी जाती है यह महाकाशासे  
घटाकारशौकी उत्पत्तिके समान है,  
परमास्त नहीं ।

उसी आकाशसे जिस प्रकार घट  
आदि संघात उत्पन्न होते हैं, उसी  
प्रकार आकाशस्थानीय परमात्मासे  
रज्जुमें सर्पके समान विदम्बित हुए  
पृथिवी आदि भूतसंघात और शरीर  
तथा इन्द्रियरूप आत्मात्मिकभाव  
उत्पन्न होते हैं । इसीसे कहा जाता  
है—घटादिके समान देहात्संघात-  
रूपसे भी उदित हुआ है । जिस  
समय मन्दबुद्धि पुरुषोंके प्रति प्रति  
पत्त्यन करनेकी इच्छासे शुभिन  
आत्मासे जीवादिकी उत्पत्तिकर वर्णन  
किया है उस समय उनकी उत्पत्ति  
मूलमयें यह उच्यते आकाशात्तिके  
समान ही जिनमान—दृष्टान्त है ॥ ३ ॥

जीवक विलीन होनेमें दृष्टान्त

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।

आकाश सप्रलीयन्ते सद्जीवा इहात्मनि ॥ ४ ॥

घटादिके लीन होनेमें जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाशमें लीन  
हो जाते हैं तभी प्रकार जीव इस आत्मामें विलीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशा  
 युत्पत्तिः; यथा वा घटादिप्रलये  
 घटाकाशादिप्रलयस्तद्देहादि  
 सघातोत्पत्त्या जीवात्पत्तिस्त  
 त्प्रलये च जीवानामिहात्मनि  
 प्रलयो न स्वत इत्यर्थ ॥ ४ ॥

जिस प्रकार घटादिकी उत्पत्तिसे  
 घटाकाशादिकी उत्पत्ति होती है और  
 जिस प्रकार घटादिक माशसे घटा-  
 काशादिका नाश होता है उसी  
 प्रकार देहादि\* संघातकी उत्पत्तिसे  
 जीवकी उत्पत्ति होती है और उनका  
 लय होनेपर जीवोक्त इस आत्मामें  
 लय हो जाता है। तात्पर्य यह है  
 कि स्वतः उनका लय नहीं होता ॥४॥

### आत्माकी असङ्गतामें दृष्टान्त

सर्वदेहेष्वारमैकत्वं एकस्मि  
 अननमरणसुखादिमत्पारमनि  
 सर्वात्मनां तत्सम्बन्धः क्रियाफल  
 साङ्ख्य च सादिति य आहुर्वैति-  
 नस्ता प्रतीदमुच्यते—

सम्पूर्ण देहमें एक ही आत्मा  
 होनेपर तो एक आत्माके जन्म-मरण  
 और सुख-दुःखादिमान् होनेपर  
 समीको उसका सम्बन्ध हांग्र तथा  
 कर्म और फलकी संकरता हो जायगी  
 [ अर्थात् कर्म किसीका होगा और  
 उसका फल कोई और ही मोगेगा ]  
 इस प्रकार जो ईश्वरानी कहते हैं  
 उनका प्रति कहा जाता है—

ययैकस्मिन्घटाकाशे

रजोघूमादिभिर्युते ।

न सर्वे सप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवा सुखादिभि ॥ ५ ॥

जिस प्रकार एक घटाकाशमें धूलि और धुँए आदिसे युक्त होनेपर  
 समस्त घटाकाश उतमें युक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादि  
 भोगोंमें भिन्न नहीं होते [ अर्थात् एक जीवके सुखादिमान् होनेपर सब  
 जीव सुखादिमान् नहीं हो जाते । ] ॥ ५ ॥

\* सर्वो देह\* शब्दमें सिद्ध देह समस्तना आदिये क्योंकि जीवसक्य नाप  
 सिद्ध-देहके नागन ही हो सकता है मूक देहके मागते नहीं ।



यथैकसिन्धुटाकाशे रवाधूमा  
दिभिर्पुंते सपुक्त न सर्वे षटा  
काशादयस्तद्रजोधूमादिभि

संपुज्यन्ते तद्वस्त्रीवा सुखादिभि  
नन्वेक एवात्मा ?

षाडम्; ननु न धृत म्बया  
काशवत्सर्वसपातेऽनेकएषारमेति।

यद्येक एवात्मा तर्हि सर्वत्र  
सुखी दुःखी च स्यात् ।

न चेदसांख्यवार्थसम्भवति ।  
न हि सांख्य आरभनः  
सुखदुःखादिमन्त्रमि  
च्छति बुद्धिसमवाया  
भ्युपगमारसुखदुःखा  
दीनाम् । न चापलम्बिरूपस्था  
रमनो मदकल्पनायां प्रमाणमस्ति।

मदाभावे प्रधानस्य पाराध्या  
नुपपत्तिरिति चेत्, न; प्रधान  
कृतम्याधेभ्यात्मन्यसमवायात् ।

यदि हि प्रधानकृता कथा माया  
वार्थं पुरुषतु भेदन समवेति  
अत्र प्रधानस्य पाराध्यमार्गमकम्ब

निस प्रकार एक भद्रकाशके  
धूलि और धुँसे युक्त होकर समस्त  
घनाकाशदि उस धूलि और धुँसे  
संयुक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव  
भी सुखादिसे छित नहीं होते ।

पूर्व०—आत्मा तो एक ही है न ?  
सिद्धान्ती हों, क्या तुने यह  
नहीं सुना कि सम्पूर्ण सपातेमि  
आकाशके समान व्याप्त एक ही  
आत्मा है ?

पूर्व०—यदि आत्मा एक ही है  
तो वह सर्वत्र सुखी-दुःखी होगा ।

सिद्धान्ती—सांख्यवार्थीकी यह  
आपत्ति सम्भव नहीं है । सांख्य  
आत्माका सुख-दुःखादिमत्त्व स्वीकार  
नहीं करता, क्योंकि सुख-दुःखादि तो  
बुद्धिसमवेत माने गये हैं तथा इसके  
सिवा अनुभवसत्य आत्माकी भेद  
कल्पनामें कोई प्रमाण भी नहीं है ।

यदि कहो कि भेद न हानकर तो  
प्रधानकी पराधता भी सम्भव नहीं  
है ता ठेगा कदना ठीक नहीं  
क्योंकि प्रथमद्वारा संपादित कथ  
का आत्मिक साध सम्भव नहीं है ।  
यदि प्रधानवर्गक कथ वा मोक्ष  
पुरुषोमि शृणु-शृणु-पुरुषो  
हान तो आत्माका उभाव सम्भव

नोपपद्यत इति युक्ता पुरुषमेद  
कल्पना । न च सांख्यैर्षधो  
मोक्षो धार्थ पुरुषसमवेतोऽभ्युप  
गम्यते । निर्बिज्ञेपाद्य चेतन  
मात्रा आत्मानाऽभ्युपगम्यन्ते ।  
अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव  
प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु  
पुरुषमेदप्रयुक्तमिति । अतः  
पुरुषमेदकल्पनायां न प्रधानस्य  
पारार्थ्यं हेतुः ।

न चान्यत्पुरुषमेदकल्पनायां  
प्रमाणमस्ति सांग्घ्यानाम् ।  
परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्ती  
कस्य स्वयं कथ्यते घृष्यते च  
प्रधानम् । परमोपलम्बिमात्र  
सत्तामूर्तरूपेण प्रधानप्रवृत्तां हेतुर्न  
कनचिद्विज्ञेयेति कबलमूडत्वयैष  
पुरुषमेदकल्पना वेदार्थपरि  
स्यागय ।

येस्वाहूर्ध्वशेषिकादय इष्टादय  
आमस्रमयायिन इति;  
इति शेषः  
तदप्यसत् । स्मृति  
हेतुना संस्काराणाम-

प्रधानकी परार्थता सम्भव नहीं हो  
सकती थी और तब पुरुषोंके भेदकी  
कल्पना करनी ठीक थी । किन्तु  
सांख्यवादी तो बन्ध या मोक्षको  
पुरुषसे सम्बद्ध ही नहीं मानते, वे  
तो आत्माओंको निर्बिज्ञेय और चेतन  
मात्र ही मानते हैं । अतः प्रधानकी  
परार्थता तो कबल पुरुषकी सत्ता  
मात्रसे ही सिद्ध है, पुरुषोंके भेदके  
कारण नहीं । इसलिये पुरुषोंकी  
भेदकल्पनामें प्रधानकी परार्थता  
कारण नहीं है ।

इसके सिवा सांख्यवादियोंके  
पास पुरुषोंका भेद माननेमें और  
कोई प्रमाण नहीं है । पर  
( आत्मा ) की सत्तामात्रकी ही  
निमित्त बन्धका प्रधान स्वयं बन्ध  
और मोक्षको प्राप्त होता है और  
बह पर केवल उपलम्बिमात्र सत्ता-  
स्वरूपसे ही प्रधानकी प्रवृत्तिमें हेतु  
है, किन्ती विशेषताके कारण नहीं ।  
अतः केवल मूडतासे ही पुरुषोंकी  
भेदकल्पना और वेदार्थका परिप्लव  
विषय जाता है ।

इसके सिवा विज्ञेयिण्यदि मनाक-  
लम्बी जो कहते हैं कि इष्ट्य आदि  
आत्माक धर्म हैं, सो ठगका यह बयन  
भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मृतिके  
हेतुमूल संस्कारोंका प्रदेहाहीन

अद्वेषस्यात्मन्यप्रमथापात् ।

आत्ममनःसंयोगान्च स्मृत्युत्पत्तेः

स्मृतिनियमानुपपत्तिः । युगपद्वा

सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः ।

न च भिन्नब्राह्मीयानां स्पर्शा-

दिहीनानामात्मनां

मनसादिभिः संबन्धो

युक्तः । न च द्रव्या

रूपादयो गुणाः कर्म-

सामान्यविशेषसमवाया

वा

भिन्नाः सन्ति परेषाम् । यदि

( निरवयव ) आत्मासे सम्बन्ध-  
सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि  
आत्मा और मनके संयोगसे स्मृतिही  
उत्पत्ति मानी जाय तो स्मृतिका  
कोई नियम ही सम्भव नहीं है  
क्यथा एक साथ ही सम्पूर्ण स्मृतिर्यो-  
की उत्पत्तिके प्रसङ्ग उपस्थित हो  
जायगा ।\*

इसके सिवा स्पर्शादिसे रचित  
भिन्नब्राह्मीय आत्माओंका मन आदि  
के साथ सम्बन्ध मानना ठीक भी  
नहीं है तथा दूसरोंके मतमें द्रव्यसे  
रूप आदि उसके गुण एवं कर्म,  
सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न  
भी नहीं हैं ।† यदि दूसरोंके मतमें

\* उक्त सम्यक् ऐसा निबन्ध नहीं हो सकेगा कि बस्तुके प्रत्यक्ष अनुभवके  
समय उतकी स्मृति न हो, क्योंकि स्मृतिका अन्तमवाही कारण आत्मा और  
मनका संयोग तो अनुभवकालमें भी है ही । इसके सिवा अन्तमवाही कारणही  
द्रव्यकाके कारण एक साथ समकाल स्मृतिर्योकी उत्पत्तिके प्रसङ्ग भी उपस्थित हो  
जायगा । यदि कहो कि स्मृतिके उत्पत्तिके उद्देश्य न होनेके कारण एक साथ  
स्मृति नहीं हो सकती तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि संस्कार और अन्तम  
उद्देश्य ये दोनों आत्मामें ही रहते हैं—इस विषयमें अन्तम एक मत नहीं है ।  
इसलिये इनकी यथन्य स्मृतिही सामग्रीके अन्तर्गत नहीं हो सकती ।

† वैशेषिक मतमें साधारणतया द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और  
समवाय—ये छः प्रकारके भाग पदार्थ हैं । उनमें द्रव्य उल्लेख करते हैं जिसके साथ  
गुण एवं क्रिया आदि सम्बन्ध सम्बन्ध रहें । गुण—रूप रस एतदृश आदिको  
कहते हैं । कर्म—गमनादि क्रिया । सामान्य—जाति मनुष्यत्व पशुत्व आदि ।  
विशेष—परमाणुओंका परस्पर भेद करनेवाला धर्म जिसके कारण विभिन्न  
प्रकारके परमाणुओंके विभिन्न प्रकारका कार्य उत्पन्न होता है । समवाय—एक  
प्रकारका सम्बन्ध ऐसा कि गुण एक क्रिया आदिका द्रव्य ही साथ है ।

अत्यन्तमिच्छा एव द्रव्यास्त्यु  
रिच्छाद्वयमात्मनस्तथा च सति  
द्रव्येण तेषां सम्बन्धानुपपत्तिः ।

अयुतसिद्धानां समवायसम्बन्धः  
सम्बन्धो न विरुध्यत इति चेत्,  
न । इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य  
आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वा-  
त्प्रयुतसिद्धत्वापत्तिः । आत्मना  
युतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्म-  
गतमहत्त्वव्यभिक्त्यत्वप्रसङ्गः । स  
चानिष्ट । आत्मनोऽनिर्मोक्ष  
प्रसङ्गात् ।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे  
सति द्रव्येण सम्बन्धान्तरं वाच्यं  
यथा द्रव्यगुणयोः । समवायो  
नित्यसम्बन्ध एवेति न वाच्यमिति  
चेत्तथा च समवायसम्बन्धवर्ता

वे द्रव्यसे तथा इच्छा आदि आत्मासे  
अत्यन्त मित्र ही हों तो ऐसा होनेपर  
तो द्रव्यके साथ उनका सम्बन्ध ही  
सिद्ध नहीं हो सकता ।

यदि कहो कि अयुतसिद्धपदार्थों-  
का समवाय-सम्बन्ध माननेमें विरोध  
नहीं है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, \*  
क्योंकि इच्छा आदि अनित्य धर्मोंसे  
नित्य आत्मा पूर्वसिद्ध होनेके कारण  
उनका परस्पर अयुतसिद्धत्व सम्भव  
नहीं है । यदि इच्छा आदि आत्माके  
साथ अयुतसिद्ध हों तो आत्मगत  
महत्त्वके समान उनकी भी नित्यता-  
का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा ।  
और यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि  
इससे आत्माके अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग  
आ जाता है ।

यदि समवाय द्रव्यसे मित्र है  
तो द्रव्यके साथ उसके कई अन्य  
सम्बन्ध बतलाना चाहिये, जैसा कि  
द्रव्य और गुणका है । और यदि कोई  
कहे कि समवाय तो नित्यसम्बन्ध  
ही है, इसलिये उसके साथ कोई

१ जी पदार्थ परस्पर मित्रकर सिद्ध हुए हों ।

● अयुतसिद्धत्वमें चार पक्ष हैं—१ अभिन्न काष्ठमें होना २ अभिन्न देशमें  
होना ३ अभिन्नत्वमात्रवाके होना ४ लक्ष्मण और विबोधादी अक्षोभ्यतावाके  
होना । उनमेंसे प्रथम पक्ष ही लक्ष्य करते हैं—

नित्यसम्बन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वा

नुपपत्तिः । अत्यन्तपृथक्त्वे च

द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्य

भोरिव पृथक्त्वाऽनुपपत्तिः ।

इच्छासुपजनापायवद्गुणवत्त्वे

वात्मनोऽनित्यत्वं  
प्रसङ्गः । देहफलादि  
वस्तुत्ववत्त्वं विक्रि  
यावत्त्वं च देहा

दिवदेवेति दोषात्परिहार्यौ ।

यथा स्वाकाशस्त्राविद्याभ्यारो

पितरबोधूममलवत्त्वादिदोषवत्त्वं

तथात्मनोऽविद्याभ्यारापितृबुद्ध्या-

सुपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे

बन्धमोक्षद्वयोऽभ्यावहारिका न

विरुद्ध्यन्ते । सर्वथादिभिरविद्या

कृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्था-

नभ्युपगमात् । तस्मादात्ममेव

सम्बन्धवतत्वानेकी आवश्यकता नहीं है तो ऐसी अवस्थामें समवाय-सम्बन्धवाक्योंका निरयसम्बन्ध होनेके कारण उनकी पृथक्ता सम्भव नहीं है । और यदि द्रव्यादिको परस्पर अत्यन्त भिन्न माना जाय तो जिस प्रकार स्पर्शान् और स्पर्शहीन द्रव्योंमें परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार उसका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ।

यदि आत्माको इच्छादि उत्पत्ति-विनाशशील गुणोंवाला माना जाय तो उसकी अनिश्चिताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । तथा उसके देह और फलादिके समान सावयवत्व एवं देहादिके समान ही विक्रियावत्त्व—ये दो दोष भी अपरिहार्य ही होंगे । जिस प्रकार कि आकाशका अविद्याभ्यारोपित ब्रह्मादि उपाधियोंके कारण ही घृष्टि, धूम और भस्मसे युक्त होना है उसी प्रकार अत्राकाश भी अविद्यासे आरोपित बुद्धि आदि उपाधिके कारण सुख-दुःखादि दोषसे युक्त होनेपर, व्यावहारिक बन्ध, मोक्ष आदि होनेमें कोई विरोध नहीं है । क्योंकि सभी वादियोंने व्यवहारको अविद्याकृत माना है, परमायत्त नहीं माना । अतः

परिकल्पना इयैव तार्किकैः तार्किकलोग जीवोके भेदकी कल्पना  
क्रियत इति ॥ ५ ॥ | वृथा ही करते हैं ॥ ५ ॥

### व्यावहारिक जीवभेद

कथं पुनरारम्भभेदनिमित्त इव किन्तु एक ही आत्मा में, आत्माओं-  
व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्या के भेदके कारण होमेवालेके समान,  
कृत उपपद्यत इति, उच्यते— अविभाषित व्यवहार किन्तु प्रकर  
सम्भव है \* इसपर कहते हैं—

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।

आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥ ६ ॥

[ वयदि उपाभियोंके कारण प्रतीत होनेवाले ] भिन्न-भिन्न आकाशों-  
के रूप, कार्य और नामोंमें तो भेद है, परन्तु आकाशमें तो कोई भेद नहीं  
है । उसी प्रकार जीवोंके विषयमें भी निश्चय समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यथेहाकाश एकस्मिन्घटफर | भिन्न प्रकार इस एक ही  
कापवरकायाकाशानामल्पत्वम आकाशमें घट, कल्पखड्ग और मछादि  
हृत्वादिरूपाणि भिद्यन्ते तथा आकाशोंके अल्पत्व-महत्त्वादि रूपोंमें  
कार्यमुदकाहरणभारणशयनादि भेद है, तथा जहाँ-उहाँ व्यवहारमें  
समाख्याश्च घटाकाशकारकाकाश उनके विले हुए जल लाना, जल  
इत्याद्यान्तस्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते। धारण करना और शयन करना  
तत्र तत्र वै व्यवहारविषय आदि कार्य एवं घटाकाश, करकाकाश  
इत्यर्थः। सर्वोऽवमाकाशेरूपादि आदि नाम किन्तु भिन्न देखे जाते हैं ।  
भेदकृता व्यवहारो न परमार्थ किन्तु आकाशमें रूपादिके कारण  
एव । परमार्थतस्त्वाकाशस्य न मार्याक ही नहीं है । परमात्मता ता  
भेदोऽस्ति । न चाकाशभेद आकाशक भेदके कारण होमेवात्स्य  
निमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण

परोपाधिकृतं द्वारम् । यथैतद्य  
द्रवुदेहापाधिभेदकृतेषु जीवेषु  
घटाकाशस्यानीयेष्वात्मसु नि  
रूपणारकृतो बुद्धिमन्निर्निर्णयो  
निश्चय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

कोई व्यवहार है ही नहीं । जैसा  
कि यह [ वाक्यशास्त्रा मेद ] है  
उसी प्रकार देहादि उपाधिके मेदसे  
किये हुए घटाकाशात्मानिय जीवोंमें  
भेदका निरूपण किया जानेके कारण  
बुद्धिमानोंने [ उस भेदका अंतर  
साधितकर ] निश्चय किया है—यह  
इसका तत्पर्य है ॥ ६ ॥

जीव आत्माका विकार या अवयव नहीं है

ननु तत्र परमार्थकृत एव  
घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेद  
व्यवहार इति ? नैतदस्ति, यस्मात्

किन्तु घटाकाशादिमें जो रूप  
और कार्य आदि भेद-व्यवहार है  
वह तो वास्तविक ही है । [ ऐसी  
साक्षात् होनेपर कहते हैं— ] यह बात  
नहीं है, क्योंकि—

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।

नैवात्मन सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ ७ ॥

जिम प्रकार घटाकाशाकाशका विकार या अवयव नहीं है उसी  
प्रकार जीव भी आत्माका विकार या अवयव नहीं है ॥ ७ ॥

परमाधाकाशस्य घटाकाशा  
न विकारः, यथा सुवर्णस्य  
रुण्मादिर्मथा वापां फलपुद्  
बुद्धिमादिः, नाप्यवयवा यथा  
पृथग्य प्राग्वादिः । न तथा  
आकाशस्य घटाकाशा विकारा  
वयवौ यथा तथा नैवात्मन

परमार्थाकाशाकाश घटाकाशा न तो  
विकार है, जैसे कि सुवर्ण का रूपका  
कामूतक तथा उनके पत्त, मुद्गमुद्ग  
और जिम आदि है, और न जैसे  
प्राग्वादि वृक्षके अवयव हैं उम  
प्रकार उमका अवयव ही है । तभी  
साह जैसे कि महाकाशाकाशकाशका  
विकार या अवयव नहीं है तभी

परस्य परमार्थसत्ता महाकाशस्या  
नीयस्य घटाकाशस्यानीयो जीव  
सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टात्तद्वन्न  
विकारो नाप्यवयवः । अत  
आत्ममेदकृतो व्यवहारो मूयै  
वेत्स्वर्धः ॥ ७ ॥

प्रकार, अर्थात् उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार  
ही, महाकाशस्यानीय परमार्थ सत्  
परमात्माकाश घटाकाशस्यानीय जीव,  
किसी व्यवस्थामें विकार या अवयव  
नहीं है । अतः तात्पर्य यह है  
कि आत्ममेदजनित व्यवहार मिथ्या  
ही है ॥ ७ ॥

आत्माकाश मलिनता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है

मसाद्यथा घटाकाशादिमेद  
बुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिमेद  
व्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवमेद  
कृतो जन्ममरणादिव्यवहार ।  
ससाधत्कृतमेवकलेषुकर्मफलमल  
व्यवमात्मना न परमार्थत  
इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपा  
दयिपन्नाह—

क्योंकि जिस प्रकार घटाकाशादि  
मेदबुद्धिके कारण उसका रूप एवं  
कार्य आदि मद्यव्यवहार है उसी  
प्रकार देहोपाधिक जीवमेदके कारण  
ही जन्म-मरण आदि व्यवहार है;  
इसलिये उसका किया हुआ ही  
आत्माकाश क्लेश, कर्मफल और मलसे  
युक्त होना है, परमार्थत नहीं—  
इसी बातको दृष्टान्तसे प्रतिपादन  
करनेकी इच्छासे कहते हैं—

यथा भवति घालानां गगन मलिन मलैः ।

तथा भक्त्यद्युद्धानाम्मात्मापि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार मूर्ख लोगोंको [ धूँल आदि ] मलके कारण आकाश  
मलिन जान पड़ता है उसी प्रकार अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आत्मा भी  
[ उग्र-देहादि ] मलसे मलिन हो जाता है ॥ ८ ॥

यथा भवति लाके पातानाम  
विवेकिनां गगनमाकाश धन  
रक्षाधूमादिमलैर्मलिनं मलवन्त

लोकमें जिस प्रकार बाल अर्थात्  
अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आकाश  
मूष धूँल और धुआँ आदि मलसे



मगनमलवद्याथात्म्यविवेकिनाम्,  
 तथा भवत्यात्मा पराऽपि यो  
 विज्ञाता प्रत्यक्षछेदकर्मफलमलै  
 र्मैठिनऽऽधुदानां प्रत्यगात्मविवेक  
 रहितानां नात्मविवेकवताम् ।

ननुपरदेशस्त्वद्वत्प्राण्यभ्यारो-

पितादकफेनतरङ्गादिमांस्तथा  
 नात्माधुधारोपितङ्केशादिमलैर्मैठि  
 नो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

कारण मलिन—मलयुक्त हो जाता है,  
 किन्तु आकाशके पर्याय स्वरूपको  
 जाननेवालोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं  
 होता; उसी प्रकार जसुद्ध प्रत्य-  
 गत्माके विवेकसे रहित पुरुषोंकी  
 दृष्टिमें, जो प्रत्यक् और सबका साक्षी  
 है वह परमात्मा भी क्लेश, कर्म और  
 फलरूप मध्येसे मलिन हो जाता है;  
 किन्तु आत्मज्ञानियोंकी दृष्टिमें ऐसा  
 नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार  
 उत्तरदेश तृपित प्राणीके आरोपित  
 किये हुए जलके फेन और तरङ्गादि  
 से युक्त नहीं होता उसी प्रकार  
 ज्ञानमा भी अज्ञानियोंद्वारा आरोपित  
 क्लेशादि मध्येसे मलिन नहीं  
 होता ॥ ८ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

निर भी पूर्वोक्त अर्थका ही  
 विस्तार कहते हैं—

मरणे सम्मये चैव गत्यागमनयोरपि ।

स्थितौ सवशरीरेषु आकाशेनाविलक्षण ॥ ९ ॥

यह ज्ञानमा सम्पूर्ण शरीरमें श्वायु, जन्म, लोकांतरमें गमनागमन  
 और स्थित रहनेमें भी आकाशसे अविच्छेद है । [ अर्थात् इन सब  
 व्यवहारोंमें रहते हुए भी यह आकाशक समान निर्विकार और विगु है ] ॥९॥

पराशक्तमनाशगमना

गमनम्यनिपरसयशरीरेष्वहमनो

पराशक्तमनाशक जन्म, मारा, गमन,  
 आगमन और स्थितिके समान सम्पूर्ण  
 शरीरोंमें आत्माके जन्म-मरणारिष्य।

स्वप्नमरणादिराकाशेनाभिलक्षणः  
प्रत्येकस्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

आकाशसे अविकल्पण ( भेदरहित )  
ही अनुभव करना चाहिये—यह  
इसका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

सघाता स्वप्नवत्सर्वे ध्यात्ममायाविसर्जिता ।

आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥१०॥

देहादि समस्त संघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही रचे हुए  
हैं । उनके अपेक्षाकृत उत्कर्ष अथवा सबकी समानतामें भी कोई हेतु  
नहीं है ॥ १० ॥

घटादिस्वानीयास्तु देहादि  
संघाता स्वप्नवत्सर्वदेहादिवन्माया-  
विकृतदेहादिवत्साम्याभि-  
सर्जिताः; आत्मनो मायाविद्या  
तथा प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः  
सन्तीत्यर्थः । यथाभिक्रमभिक्र-  
भावस्तिर्भेदेहाद्यप्यस्या देयादि  
कार्यकरणसंघातानां यदि वा  
सर्वेषां समतैव नैपाव्युपपत्तिः  
सम्भवः सद्भावाप्रतिपादको  
इत्युच्यते नास्ति, हि यस्याप्त  
सादविद्याकृत एव न परमार्थतः  
सन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

घटादिस्वानीय देहादिसंघात  
स्वप्नमें दीखनेवासे देहादिके समान  
तथा मायानीक रचे हुए देहादिके  
सदृश आत्माकी मायासे ही रचे  
हुए हैं [ तात्पर्य यह है कि आत्माकी  
माया जो अविद्या है उसके प्रस्तुत  
किये हुए हैं, परमार्थत नहीं हैं ।  
यदि त्रिगुण्णि देहोंको अपेक्षा देवता  
आत्तिके शरीर और इन्द्रियोंकी  
अविकला—उत्कृष्टता है अथवा यदि  
[ तत्त्वदृष्टिसे ] सबकी समानता ही  
है तो भी, क्योंकि उनके सद्भावका  
प्रतिपादक कोई हेतु नहीं है, इसलिये  
वे अविद्याकृत ही हैं, परमार्थत नहीं  
हैं—पेसा इसका तात्पर्य है ॥ १० ॥

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्यत्त्वात्म-

उपपत्ति व्यादिसे रहित अद्वितीय  
अहमत्त्वका धृतिप्रमाणकत्व प्रदर्शित

तत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं | करनेके लिये [ उपनिषद्के ] वाक्यों-  
वाक्यान्वुपन्यस्यन्ते— का रस्येभ्यः किये जाता है—

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातारतैत्तिरीयके ।

तेषाम्मात्मा परो जीवः स्व यथा संप्रकाशित ॥ ११ ॥

तैत्तिरीय श्रुतिमें निम्न रसादि [ अन्नमपादि ] कोशोंकी व्याख्या की गयी है, आकाशवत् परमात्मा ही उनके आत्मा जीवरूपसे प्रकाशित किया गया है ॥ ११ ॥

रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमय  
इत्येवमादयः कोशा इव काशा  
असादेतिवाचगोघरस्यापेक्षया  
बहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याता  
विस्पष्टमाकृषातास्तैत्तिरीयक  
तैत्तिरीयकान्मोपनिषद्ब्रह्मण्यं तेषां  
कोशानामात्मा येनात्मना पञ्चापि  
कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन,  
स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वा  
त्मावः ।

काऽसादित्याह—परमात्मा  
य पूर्वम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"  
(सि० ड० २।१) इति प्रकृतः ।  
यन्मादात्मन स्वप्नमायादिब्रह्म  
काशादिक्रमेण रसादयः काश

तैत्तिरीयकमें अर्थात् तैत्तिरीयक-  
शाखोपनिषद्ब्रह्मीमें निम्न रसादि—  
अन्नरसमय एवं प्राणमय इत्यादि  
कोशोंकी व्याख्या—एतत् विवेचना  
की गयी है और जो उक्तोक्तकी  
व्यपेक्षा पूर्व-पूर्व बहिर्भित्त होनेके  
कारण सबके कोशके समान कोश  
कहे गये हैं उन कोशोंका व्याप्य,  
त्रिस अन्तरतम आत्माके कारण  
पौर्वा कोश व्याप्तवान् हैं, वही सबके  
जीवनका निमित्त होनेके कारण  
'जीव' कहलाता है ।

ब्रह्म जीव है। इत्यपर कहते हैं—  
ब्रह्म परमात्मा ही है, त्रिसपत्र परमे  
"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि  
वाक्योंमें प्रकृत है और त्रिस  
आत्मामें स्वप्न और माया आदिके  
समान आकाशादि क्रमसे कोशरूप  
संशान् अन्तर्मापि मायामें ही उसे

लक्षणा संघाता आत्ममाया  
विमर्शिता इत्युक्तम् । स आत्मा-  
साभिर्भया स्वं तवेति सप्रकाशितः  
“आत्मा साक्षाद्यवत्” ( अद्वैत०  
३ ) इत्यादि श्लोकैः । न तार्किक-  
परिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धि  
प्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

गये है—ऐसा कहा गया है । उस  
आत्माको हमने “आत्मा साक्षाद्य-  
वत्” इत्यादि श्लोकोंमें, जैसा आकाश  
है उसीके समान प्रकाशित किया  
है । तत्पर्य यह है कि यह तार्किकों-  
के कल्पना किये हुए आत्माके समान  
मनुष्यकी बुद्धिसे प्रमाणित होनेवाला  
नहीं है ॥ ११ ॥

द्वयोर्द्वयार्थबुद्धाने पर ब्रह्म प्रकाशितम् ।

पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशित ॥ १२ ॥

अंशमें जिस प्रकार पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित  
हो रहा है, उसी प्रकार [ वृहदारण्योक्त ] मनु ब्राह्मणमें [ अव्यात्म और  
अधिदैवत—इन ] दोनों स्थानोंमें एक ही ब्रह्म निरूपित किया गया है ॥१२॥

किं चाधिदैवमव्यात्म च  
तेजोमयाऽमृतमय पुरुषः पृथि  
व्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर  
एवात्मा ब्रह्म सर्वमिति  
इयार्थोराद्वैतधर्मात्परं ब्रह्म  
प्रकाशितम् । इत्याह—ब्रह्म  
विद्यास्यं मध्वमृतममृतत्वं मोद  
नहेतुश्चाद्विद्यायतं यस्मिन्निति  
मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्नि

तथा अधिदैव और अव्यात्म-  
भेदसे जो तेजोमय और अमृतमय  
पुरुष पृथिवीके भीतर है और जो  
विज्ञाता परमात्मा ब्रह्म ही सब कुछ  
है—इस प्रकार ईतका क्षय होमेपर्यन्त  
दोनों स्थानोंमें परब्रह्मका ही प्रति-  
पदन किया गया है । कहाँ किया  
गया है ? उसी ब्रह्मके हैं—जिसमें  
ब्रह्मविद्यासंबन्धक मधु पानी अमृतका  
ज्ञान है—आनन्दका हेतु होनेके  
कारण उसका अमृतत्व है—उस  
मधुज्ञान पानी मधुब्राह्मणमें [ उसका  
प्रतिज्ञान किया गया है ] ।  
जिसका समान प्रतिपदन किया है ।

स्पर्शः । किमिवेत्याह—पृथिव्या-  
मुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमा-  
नेन प्रकाशितो लोके तद्वदि-  
त्यर्थः ॥ १२ ॥

इसपर कहते हैं कि जिस प्रकार अंधमें  
अनुमानसे पृथिवी और उदरमें एक  
ही आकाश प्रकाशित होता है,  
उसी तरह [ इनकी एकता समझो ]  
यह इसका अभिप्राय है ॥ १२ ॥

आत्मैक्य ही समीचीन है

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।

नानात्वं निन्द्यते यद्य तदेवं हि समञ्जसम् ॥ १३ ॥

क्योंकि जीव और आत्माके अभेदरूपसे एकस्यकी प्रशंसा की  
गयी है और उनके भिन्नत्वकी निन्दा की गयी है । इसकिये बही [ यानी  
उनकी एकता ही ] ठीक है ॥ १३ ॥

यद्युक्तित श्रुतितभनिधारित  
सौवस्य परम्य चात्मनो जीवा  
त्मनारनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते  
न्यत शारेण व्यासादिभिः ।  
यद्यमप्राणिमाधारं व्याभारिक  
शास्त्रपदिष्ठैः कृतादिर्षिपरिचितं  
नानात्वदशन निघत "न तु  
तद्वितीयमस्ति" ( पू० उ० ४।  
३ । २३ ) "द्वितीयार्द्धं भय  
भवति" ( पू० उ० १।४।२ )  
"उदरमन्तरं पुरुषत, अप तस्य  
भय भवति" ( तै० उ० २।  
७।१ ) 'इदं मय्यदप्यमात्मा'  
( पू० उ० २।४।६, ४।५, ७ )  
"मात्माः न शृण्वन्मात्मानि य इदं

क्योंकि युक्ति और धुनिमें  
निश्चय त्रिये हुए जीव और परमात्मा  
के एकस्यकी शाय और व्यासदि  
मुनियोंने समानरूपसे प्रशंसा कही  
रुनि की है और शास्त्रकार  
पुनर्दिक्तेश्वरा कल्पित सबप्रामि  
साधारण व्याभारिक माना-व्यक्तकी  
"तस्यो अत्रिरिक्त दृश्यं यद्वै नदी  
है" "दूसरेतो निश्चय भय दाता है  
'जा बोधा-सा भी भे- करता है,  
उसे भय प्राप्त होता है" "यद  
भा पुन द्वै मय आ न है" 'प्रो  
पदी माना-ए- न-ता है इद  
मात्मा न शृण्वन्मात्मानि हो । इ-  
तया न शृण्वन्मात्मानि य इदं

नानेव पश्यति" ( क० उ० २ । १ । १० ) इत्यादिवाक्यैर्भान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः । यच्चैतत्तदेव हि समञ्जसमृन्वन्नबोधं न्याय्यमित्यर्थः । यास्तु तार्किकपरिहरिपता कृष्टप्यस्ता अनुन्म्यो निरूप्यमाणा न षटनां प्राञ्चन्ती स्यमिप्रायः ॥ १३ ॥

द्वारा निन्दा की गयी है । यह जो [ बतलाया गया ] है वह इसी प्रकार समझस-सरल बोधगम्य अर्थात् न्याययुक्त है । तथा तार्किकों की कल्पना की हुई जो कुछ दृष्टियाँ हैं वे सरल नहीं हैं अमिप्राय यह है कि वे निरूपण की जानपर प्रसंगके अनुरूप नहीं टहरती ॥ १३ ॥

सुस्तुफ जीव-ब्रह्मभेद गौण है

जीवात्मनो पृथक्त्व यत्प्रागुत्पत्ते प्रकीर्तितम् ।

मविप्यद्बृहत्या गौणं तन्मुख्यत्व हि न युज्यते ॥ १४ ॥

पहले ( उपनिषदोंके कर्मकाण्डमें ) उत्पत्तिबोधक वाक्योंद्वारा जो जीव और परमात्माका पृथक्त्व बतलाया है वह मविप्यद्-बृहत्तिसे गौण है, उसे मुख्य अर्थ मानना ठीक नहीं है ॥ १४ ॥

ननु श्रुत्यापि जीवपरमात्मनोः

पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेरुत्पत्त्यर्थोप

निषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं

कर्मकाण्डे अनेकदाः कामभेदत

इदकामाऽद्काम इति; परम

“स दाधार पृथिवीं धाम्”

( ऋ० सं १० । १२१ । १ ) इत्यादि

मन्त्रवर्षैः; तत्र कर्मकर्मज्ञानकाण्ड

सक-जब श्रुतिमें भी पहले-कर्मकाण्डमें उत्पत्ति प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्योंद्वारा ‘पूर्वकर्म’, ‘अदकर्म’, आदि प्रकारसे [ कर्मकाण्डमें भिन्न-भिन्न कर्मनाओंवाले कर्माधिकारी पुरुषक समान ] अनेकों कर्मनाओंके भेदसे जीव और परमात्माका भेद प्रतिपादन किया है तथा परमात्माका उससे पृथिवी और पृथोक्त्वके धारण किया” इत्यादि मन्त्रवर्षासे पृथक् ही निर्देश किया है, तब इस प्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके

वाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थ  
स्वैवैकत्वस्य सतमञ्जसमवधार्यत  
इति ?

अत्राच्यते—“यतो वा इमानि  
भूतानि जायन्ते” ( तै० उ० ३।  
१ ) “यथायः सुद्रा विष्कुलिजाः”  
( वृ० उ० २। १। २० ) “तस्माद्वा  
पतस्मादात्मन आकाशः संभूतः”  
( तै० उ० २। १। २ ) “यदेकत”  
( छा० उ० ६। २। ३ )  
“तत्तेवाऽसृजत” ( छा० उ० ६।  
२। ३ ) इत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनि  
षद्वाक्येभ्यः प्राक्पुत्रकत्वं कर्मकाण्ड  
प्रकीर्तित यच्च परमार्थम् । किं  
तर्हि ? गौण महाकाशपटा  
काशादिभेदवत् । यथौदनं  
पचतीति भविष्यत्कृत्या यद्वत् ।  
न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि  
मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते । स्वामा-  
विकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्ट्यनुवा  
दिस्वादात्मभेदवाक्यानाम् ।

इह चोरनिपत्स्यत्पत्तिप्रलयादि  
वाक्यैर्धीषपरमात्मनारेकत्वमेव

वाक्योंमें विरोध उपस्थित होनेपर  
केवल ज्ञानकाण्डोक्त एकत्वका ही  
सामञ्जस्य ( यथार्थत्व ) किस प्रकार  
निश्चय किया जा सकता है !

समाधान—इस विषयमें हमारा  
कथन है कि “जहाँसे ये सब मूल  
उत्पन्न होते हैं” “जिस प्रकार  
अधिसे मन्ही-मन्ही विमग्नरिषीं  
[ भिकरती हैं ]” “उसी इस आत्मा-  
से आकाश उत्पन्न हुआ” “उसने  
ईश्वर किया” “उसने ते प्रको रचा”  
इत्यादि उत्तरत्यर्थक उपनिषद्वाक्योंसे  
पहले कर्मकाण्डमें जो पुत्रत्वका  
प्रतिपादन किया गया है वह  
परमार्थत नहीं है । तो कैसा है !  
वह महाकाश और घटाकाशारिके  
भेदके समान गौण है और जिस  
प्रकार भविष्यद्दृष्टिसे भात पकत्व  
है\* ऐसा कहा जाता है उसीके  
समान है । आत्म-भेदवाक्योंका मुख्य  
भेदप्रतिपादकत्व समी सम्भव नहीं  
है, क्योंकि भेदवाक्य तो अज्ञानी  
पुरुषोंकी सामाविकी भेददृष्टिका ही  
अनुवाद करनेवाले हैं ।

यहाँ उपनिषदोंमें तो “५ वह  
है” “५ह अन्य है और मैं अन्य

\* भात' उपमे हुए वाक्योंमें करते हैं जो पापक पकाने आत है  
उनकी नञा भात' नहीं है । अतः इत वाक्योंमें जो उनके बिने भात उद्भव  
प्रयोग हुआ है वह भविष्यद्दृष्टिते है ।

प्रतिपिपादयिपितम् "तत्त्वमसि"  
 (छा० उ० ६ । ८-१६) "अन्यो  
 ऽसावन्योऽहमस्मीति न सु वेद"  
 ( बृ० उ० १ । ४ । १० )  
 इत्यादिभिः । अत उपनिषत्सु  
 एकत्वं भ्रुत्या प्रतिपिपादयिपित  
 भविष्यतीति भाषिनीमेकवृत्ति  
 माभित्य लाके मेददृष्टयनुवादो  
 गौण एवेत्यभिप्रायः ।

अथ वा "सदैवत" ( छा०  
 उ० ६ । २ । ३ ) "तत्तेवो  
 ऽब्रुवत" (छा० उ० ६ । २ । ३)  
 इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् "एकमेवा  
 द्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । २)  
 इत्येकत्वं प्रकीर्तितम् । तदेष च  
 "तत्सत्स्यं स आत्मा तत्त्वमसि"  
 (छा० उ० ६ । ८-१६) इत्येकत्व  
 भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिम  
 पश्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र  
 कश्चिद्वाक्ये गम्यमान तर्हीयम्,  
 यथादिन पश्यतीति सदद् ॥ १४ ॥

है [ ऐसा जो जानता है ] वह  
 नहीं जानता" इत्यादि श्रुतियोंके  
 अनुसार उत्पत्ति-प्रख्यादि-बोधक  
 वाक्योंसे भी जीव और परमा  
 त्माका एकत्व ही प्रतिपादन करना  
 इष्ट है । अत उपनिषदोंमें श्रुतिको  
 एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट  
 होगा—इस मतिव्यद्वृत्तिको वाच्य  
 करके लोकमें मेददृष्टिकर अनुवाद  
 गौण ही है—यह इसका अभिप्राय है ।

अथवा "उसने ईक्षण किया"  
 "उसने तेजको रचा" इत्यादि  
 श्रुतियोंद्वारा जो उत्पत्तिसे पूर्व "एक-  
 मेवाद्वितीयम्" इत्यादि प्रकारसे  
 एकत्वका निरूपण किया है वह एकत्व  
 है "वह सत्य है, वह आत्मा है और  
 वही तू है" इस प्रकार आगे एकत्व  
 हो जायगा इस मतिव्यद्वृत्तिसे है ।  
 अत अहाँ कहीं किसी वाक्यमें जीव  
 और आत्माका पृथक्त्व जाना गया है  
 उसी प्रकार—गौण है जैसे कि 'भास  
 पकता है' इस वाक्यमें [ 'भास'  
 शब्दका प्रयोग ] ॥ १४ ॥

दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था

ननु यद्युत्पत्ते प्रागर्था सर्वा

मेकमेवाद्वितीय तथाप्युत्पत्तेर्नर्था

पनि फलौ कि उत्पत्तिसे पूर्व तो  
 सब अज्ञान तथा एक ही अद्वितीय  
 है तथापि उत्पत्ति पीछे तो सब



जातमिदं सर्वं जीवाद्य मिन्ना  
 इति, मैवमु; अन्यार्थत्वादुत्पत्ति  
 धृतीनाम् । पूर्वमपि परिहृत  
 एवार्थ होयः स्वप्नवदात्ममाया  
 विसर्जिताः सघाता घटाकाशो  
 त्यचिमेदादिवत्तीवानामुत्पत्ति  
 मेदादिरिति । इत एवोत्पत्ति-  
 मेदादिधृतिम् आकृष्य इह  
 पुनरुत्पत्तिधृतीनामैदंप्रतिपि  
 पादपिपयोपन्यासः—

उत्पन्न हुआ ही है और तब जीव  
 भी भिन्न ही हैं—तो ऐसा कहना  
 ठीक नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसूचक  
 धृतियों दूसरे ही वसिष्ठापसे हैं ।  
 'वेदादिसघात' स्वप्नके समान  
 आत्माकी मायासे ही प्रस्तुत किये हुए  
 हैं, तथा 'घटाकाशकी उत्पत्तिसे  
 होनेवाले भेदके समान जीवोंकी  
 उत्पत्तिके भेद हैं' इन वाक्योंद्वारा  
 पहले भी इस शीपका परिहार किया  
 ही जा चुका है । इसीलिये पूर्वोक्त  
 उत्पत्ति भेदादिसूचक धृतियोंसे उन  
 का निष्कर्ष लेकर यहाँ फिर उन  
 उत्पत्तिधृतिमोका ब्रह्मात्मैक्यपरत  
 प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उपन्यास  
 किया जाता है—

मृष्टोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्मा चोदितान्यथा ।

उपाय सोऽवताराय नास्ति भेद कथञ्चन ॥१५॥

[ उपनिषत्तमें ] जो मृत्तिकर, जोहस्फुलिङ्ग और विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों  
 द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिकर निरूपण किया है वह [ ब्रह्मात्मैक्यमें ]  
 बुद्धिका प्रवेश करानेका उपाय ही नरतत उनमें कुछ भी भेद नहीं  
 है ॥ १५ ॥

मृष्टोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्ता  
 पन्यासैः सृष्टिर्मा चादिता  
 प्रकाशितान्पथान्यथा च स सर्वैः

सृष्टिकर, जोहस्फुलिङ्ग और विस्फु-  
 लिङ्गादिके दृष्टान्तोंका उपन्यास करके  
 जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिकर  
 प्रकाशित कर्षाद कल्पित किया  
 गया है वह सृष्टिकर सम्पूर्ण प्रकार

सृष्टिप्रकारो वीषपरमात्मैकत्व  
 पुद्गलतारायोपायोऽस्माकम् ।  
 यथा प्राणदवादं वागाद्यासुर  
 पाप्मवधायात्पायिका कल्पिता  
 प्राणयशिएरबोधायताराय ।

तदप्यसिद्धमिति चेत् ।

न; क्षालामेदप्यन्यथा यथा  
 च प्राणादिसंवाग्भवणात् । यदि  
 हि संवादः परमार्थ एवाभूदकरूप  
 एव संवादः सर्वज्ञानाम्बभोप्यत  
 विरुद्धानेकप्रकारण नाथाप्यत ।

हमें जीव और परमात्माका एकत्व  
 निश्चय करनेवाली मुक्ति प्राप्त करने-  
 के लिये है, जिस प्रकार कि प्राण-  
 संवाग्में प्राणकी उत्कृष्टतारा बोध  
 करनेके लिये वाग्यि इन्द्रियोंके  
 असुरोंद्वारा पापसे विद्व हो जानेकी  
 आख्यायिका कल्पना की गयी है ।

एव —परन्तु यह बात भी तो  
 सिद्ध नहीं हो सकती । †

सिद्धांती—नहीं; भिन्न-भिन्न  
 शाखाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्राण-  
 संवाग् सुना जानक धरग [ उभ-  
 वर यही लक्षण्य होना चाहिये ] । ‡  
 यदि यह संवाग् बस्तुन हुआ होना  
 तो सगूर्ण शास्त्राओंमें एक ही  
 संवाग् सुना जान, परस्पर विरुद्ध

● उपरोक्त उपनिषद्क प्रथम प्रयत्नके द्वितीय लक्षणमें यह आख्यायिका  
 इस प्रकार आती है—एक बार देवताओंका अनुपीके साथ युद्ध छिड़ गया ।  
 वही अनुपमे मनकी राजनरुति और देवताके लरिरकृति समझनी चाहिये ।  
 इन दोनों बुद्धियोंका पारलौकिक युद्ध निर प्रसिद्ध है । देवताओंने अनुपीको  
 उर्ध्वदिशाक प्रभावसे पराज करवा पाया । अत उर्ध्वने बाहू आदि प्रत्येक  
 इन्द्रियोंका एक-एक करके उर्ध्वगन्तमें निरुक्त किया। किन्तु प्रत्येक ही इन्द्रिय  
 स्वाध्याय(शुद्धे पासे अनुपीके लक्ष्में बगल हो गयी । अन्तमें सुप्त प्राणका  
 निरुक्त किया गया । वह लक्ष्मीके विदे मय्यत भागमें लक्ष्मण करने लगे  
 अत अनुपान्न उभरा कुछ भी न विगड कर और देवताओंका विजय प्राप्त हुए ।

† अर्थात् उन अगदरिषाओंका लक्षण प्राणकी उर्ध्वगन्त कोर  
 करके ही है ।

‡ इति भाष्येण एक आख्यायिका वृत्तमन्तोरनिर्गु अन्तार ६  
 अन्त १ में और इति वृत्त उ अन्तार १ अन्त १ में ही है ।

भूयते तु; तस्मान्न तादर्थ्यं  
संवादश्रुतीनाम् । तयोस्पधि  
वाक्यानि प्रत्येतभ्यानि ।

कल्पसर्गमेदात्संवादश्रुतीना  
मुस्पधिभ्रुतीनां च प्रतिसर्ग  
मन्यथात्वमिति चेत् ?

न; निष्प्रयोजनत्वाद्यथाक-  
शुद्धत्वतारप्रयोजनव्यतिरेक्य ।  
न अन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादो-  
स्पधिभ्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम्  
तथास्वप्रतिपक्षमे ध्यानार्थ  
मिति चेन्न; कलहोत्पधिप्रलयानां  
प्रतिपक्षरनिष्टत्वात् । तस्मा-  
दुत्पन्नयादिभ्रुतय आत्मैकत्व  
शुद्धत्वतारायैव नान्यार्थाः  
कल्पयितुं युक्ताः । अथा  
नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः  
कथञ्चन ॥ १५ ॥

भिन्न-भिन्न प्रकारसे नहीं । फल-  
वत्सा सुना ही बात है, इसलिये  
संवादश्रुतियोंका तात्पर्य यथाशु-  
भार्थमें नहीं है । इसी प्रकार उत्पत्ति-  
वाक्य भी सम्बन्धने चाहिये ।

पृ०-प्रत्येक कल्पकी सृष्टिके  
मेदक कारण संवादश्रुति और उत्पत्ति-  
श्रुतियोंमें प्रत्येक सृष्टिके अनुसार भेद  
है—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुतिक  
उत्पत्त्युक्त [ ब्रह्मात्मैकत्वमें ] मुक्ति  
प्रवेशरूप प्रयोजनके अतिरिक्त कल्प  
कोई प्रयोजन ही नहीं है । प्राण-  
संज्ञा और उत्पत्तिश्रुतियोंका इसके  
स्थिति और कोई प्रयोजन नहीं  
कल्पना किया जा सकता । यदि  
कहो कि उनका स्वरूपता प्राप्त करने-  
के प्रयोजनसे ध्यानके लिये ऐसा  
कहा गया है, तो ऐसा भी सम्भव  
नहीं है, क्योंकि कलह तथा उत्पत्ति  
या प्रयोजनकी प्राप्ति किसीको ए-  
नहीं हो सकती । अतः उत्पत्ति  
वाक्य प्रतियोगन करनेवाली श्रुतियों  
आत्मैकत्वरूप मुक्तिकी प्राप्तिके ही  
लिये हैं, उन्हें किसी और प्रयोजन  
के लिये मानना उचित नहीं है ।  
अतः उत्पत्ति वाक्यके कारण होने  
वाला भेद कुछ भी नहीं है ॥ १५ ॥

त्रिविध अधिकारी और उनके लिये उपासमात्रिणि

पदि पर एवात्मा निरत्यशुद्ध-  
बुद्धमुक्तस्यभाष एकः परमार्थ  
सन् "एकमेवाद्वितीयम्" (छा०  
उ० ६।२।२) इत्यादि  
श्रुतिम्योऽसदन्यत्किमर्थेपमुपा-  
सनोपदिष्टा "आत्मा वा अरे  
द्रष्टव्यः" (पृ० उ० २।४।५)  
"य आत्मापहतपाप्मा" (छा०  
उ० ८।७।१, ३) "स कर्तुं  
क्षुर्षीति" (छा० उ० ३।१४।१)  
"आत्मेत्येवापासीत्" (पृ० उ०  
१।४।७) इत्यादिश्रुतिम्यः,  
कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि ?

मृगु तत्र कारणम्—

सङ्का—यदि "एकमेवाद्वितीयम्"  
इत्यादि श्रुतिषोऽपि अनुसार परमार्थतः  
एकमात्र नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्यभाष  
परमात्मा ही सत्य है, अन्य सब  
मिथ्या है, सो "अरे, इस आत्मका  
साक्षात्कार करना चाहिये" "जो  
आत्मा पापरहित है" "ब्रह्म (अधिकारी)  
कतु ( उपास्यसुम्बन्धी संकल्प )  
करे" "आत्मा है—इस प्रकार ही  
उपासना करे" इत्यादि श्रुतिषोऽपि  
इस उपासनाका उपदेश क्यों दिया  
गया है ? तथा अग्निहोत्रादि कर्म  
भी क्यों ब्रह्मज्ञे गये हैं ?

समाधान—इसमें जो कारण है,  
सो सुनो—

आश्रमास्त्रिविधा

हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टय ।

उपासनोपदिष्टेय

तदर्थमनुकम्पया ॥ १६ ॥

आश्रम ( अधिकारी पुरा ) तीन प्रकारके हैं—हीन, मध्यम और  
उत्कृष्ट दृष्टिवाले । उनपर श्रुति बरके उन्हीके लिये यह उपासना उपदेश  
की गयी है ॥ १६ ॥

आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृता,  
वर्णिनश्च मार्गगा, आश्रम-  
सुन्दर्य प्रदक्षनार्थस्वाश्रमिणाः ।  
कथम् ? हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टय ।  
हीना निकृष्ट मध्यमात्कृष्टा च

आश्रमा—क्याधिकारी आश्रमी  
परं समार्गगम्ये बर्णदक्षिण—क्योंकि  
'आश्रम' शब्द उनपर भी उ-  
पेक्ष्य ब्रह्मज्ञानका है—हीन प्रकारका  
है । श्रुति प्रकर ' हीन, मध्यम  
अरु उत्कृष्ट दृष्टिवाले । अगात् विनयी—

दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं येषां ते मन्द  
 मध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता  
 इत्यर्थः ।

उपासनोपदिष्टेषां तदर्थं मन्द  
 मध्यमदृष्ट्याभिमार्थं कर्मणि  
 च, न चात्मैक एवाद्वितीय इति  
 निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं इत्याहुना  
 वेदेनानुक्रम्यया सन्मार्गगाःसन्तः  
 कथमिमांशुचमामकत्वदृष्टिं प्राप्नु  
 युरिति । “यन्मनसा न मनुते  
 वेनाहुर्मनो मत्तम् । तदेव ब्रह्म  
 त्व विद्धि नेदं यदिदमुपासत”  
 (के० उ० १ । ५) “तत्त्वमसि”  
 (छा० उ० ६ । ८-१६) “आत्मैवेदं  
 सर्वम्” (छा० उ० ७ । २५ । २)  
 इत्यादिभ्रुविम्यः ॥ १६ ॥

दृष्टि यानी दर्शनसामर्थ्य हीन-  
 निवृत्त, मध्यम और उत्कृष्ट है ऐसे  
 मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिकी  
 सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं ।

उन मन्द और मध्यम दृष्टिवाले  
 आत्ममादिके लिये ही इस उपासना  
 और कर्मका उपदेश किया गया है  
 ‘आत्मा एक और अद्वितीय ही है’  
 ऐसी जिनकी निश्चित उत्तम दृष्टि  
 है, उनके लिये उसका उपदेश नहीं  
 है । उपासु वेदने उसका इस्तीखिये  
 उपदेश किया है कि जिससे वे  
 किसी प्रकार सन्मार्गगामी होकर  
 “जिसका मनसे मनन नहीं किया  
 जा सकता, बल्कि जिसके द्वारा  
 मन मनन किया कहा जात है  
 उसीको व ब्रह्म जान, यह, जिसकी  
 व उपासना करता है, ब्रह्म नहीं  
 है” “यह व है” “यह सब आत्मा  
 ही है” इत्यादि भ्रुविम्योक्तप्रति-  
 पादित इस उत्तम एकत्व दृष्टिके  
 प्राप्त कर सकें ॥ १६ ॥

अद्वैतात्मदर्शन किसीका विरोधी नहीं है

शास्त्रापपत्तिम्यामवधारित  
 स्वादद्वयात्मदर्शनं सम्पद्दर्शनं  
 तद्व्याख्याभिः स्याददर्शनमन्यत् ।

शास्त्र और मुक्तिसे निश्चित  
 होनेके कारण अद्वितीय आत्मदर्शन  
 ही सम्पद्दर्शन है, उससे अज्ञ  
 होनेके कारण और सब दर्शन मिथ्या  
 हैं । इत्यादियोंने दर्शन इसलिये

इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां राग | मी मिथ्या है, क्योंकि वे राग-द्वेषादि  
दोषोंके आशय हैं; किस प्रकार ?  
द्वेषादिदोषास्पदत्वात् । कथम् ? [ सो बताते हैं ]—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।

परस्पर विरुध्यन्ते तैरय न विरुध्यते ॥ १७ ॥

द्वैतवादी अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थामें दृढ़ आग्रही होनेके कारण आपसमें विरोध रखते हैं, परन्तु यह [ अद्वैतदर्शन ] उनसे विरोध नहीं रखता ॥ १७ ॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्त-  
रचनानियमेषु कपिलकण्वाद्  
शुद्धाहवादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैति  
नो निश्चिताः । एषमेवैष परमार्थो  
नान्यथेति तत्र सप्रानुरक्ताः  
प्रतिपक्षं चात्मनः पश्यन्तस्तं  
द्विपन्त इत्येवं रागद्वेषापेताः  
स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तम् एव  
परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्त ।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थामें अर्थात्  
अपने-अपने सिद्धान्तकी रचनाके  
नियमोंमें कपिल, कणाद, शुद्ध और  
शुद्ध ( जिन ) की दृष्टियोंका अनु-  
सरण करनेवाले द्वैतवादी निश्चित  
हैं, अर्थात् यह परम्पराएँ इसी  
प्रकार हैं अथवा नहीं—इस प्रकार  
अपने-अपने सिद्धान्तमें अनुरक्त हो  
अपने प्रतिपक्षीको देखकर उससे  
द्वेष करते हैं । इस तरह राग-द्वेषसे  
मुक्त हो अपने-अपने सिद्धान्तके  
दर्शनके कारण ही परस्पर एक-  
दूसरेसे विरोध मानते हैं ।

उन परस्पर विरोध करनेवालों-  
से हमारा यह आशय है कि अद्वैतदर्शनके  
वैदिक सिद्धान्त अपने-अपने होनेके  
कारण विरोध नहीं मानता, जिस  
प्रकार कि अपने हाथ-पैर आदिसे  
किसीका विरोध नहीं होता । इह

तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयो  
ऽयं वैदिकः सवालन्यत्वादात्मैक  
स्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा  
स्वहस्तपादादिभिः । एवं

रागद्वेषादिदोषानास्यदत्त्वात्-  
स्मैकत्वमुद्भिरेव सम्यग्दर्शनमित्य  
भिप्रायः ॥ १७ ॥

प्रकार राग-द्वेषादि दोषोंका वाक्य  
न होनेका कारण भास्यैकत्वमुद्भि  
ही सम्प्रदायि है—एव इत्यत्र  
तात्पर्य है ॥ १७ ॥

अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु

केन हेतुना तैर्न विरुध्यते | कित्त कारण उससे इत्यत्र  
इत्युच्यते— | विरोध नहीं है—इसपर कहते हैं—

अद्वैत परमार्थो हि द्वैत तद्भेद उच्यते ।

तेषामुभयथा द्वैत तेनाय न विरुद्ध्यते ॥ १८ ॥

अद्वैत परमार्थ है और द्वैत उसीका भेद ( कर्ष्य ) कहा जाता है  
तथा उन ( द्वैतादियों ) के मतमें [ परमार्थ और अपरमार्थ ] दोनों  
प्रकारसे द्वैत ही है इसलिये उनसे इसका विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

अद्वैत परमार्थो हि यस्माद्द्वैत  
नानात्वं तस्माद्द्वैतस्य भेदस्त  
द्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः । “एकमे  
वाद्वितीयम्” ( छा० उ० ६ ।  
२ । २ ) “तत्तद्वैतमुच्यते”  
( छा० उ० ६ । २ । ३ ) इति  
अतैरुपपत्तेः स्वचित्त-  
स्वन्दनाभावे समाधौ मूर्च्छायां  
सुषुप्तौ चामावात् । अतस्तद्भेद  
उच्यते द्वैतम् ।

द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतया  
परमार्थतयाभयथापि द्वैतमेव ।  
यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैत  
दृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्ता

अद्वैत परमार्थ है, और क्योंकि  
द्वैत यानी नानात्व उस अद्वैतका  
भेद अर्थात् उसका कर्ष्य है, जैसे  
कि “एकमेवाद्वितीयम्” “तत्तद्वैत-  
मुच्यते” इत्यादि श्रुतियोंसे तब  
समाधि मूर्च्छा अवस्था सुषुप्तिमें अपने  
चित्तके स्वरूपका अभाव हो जानेपर  
द्वैतका भी अभाव हो जानेका कारण  
शुक्तिसे भी सिद्ध होता है; इसलिये  
द्वैत उसका भेद कहा जाता है ।

किन्तु उन द्वैतादियोंकी दृष्टिमें  
तो परमार्थतः और अपरमार्थतः  
दोनों प्रकार द्वैत ही है । यदि उन  
भ्रान्त पुरुषोंकी दृष्टिरिति है और दृ-

नाम्, वेनाय हेतुनासात्पद्यो न  
विरुध्यते तैः । “इन्द्रो मायाभि  
पुरुकूप ईयते” ( ष० उ० २ ।  
५।१९) “नतु सद्ब्रह्मिणीयमस्ति”  
( ष० उ० ४ । ३ । २३ ) इति  
भवे ।

यथा मत्तगन्वात्सु उन्मत्तं  
मूमिष्टप्रति गन्वात्सुोऽऽर्जवं वाहय  
मां प्रतीति प्रुवाणमपि तं प्रति  
न वाहयत्पविरोधबुद्ध्या तद्वत् ।  
ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव  
द्वैतिनाम् । तेनायं हेतुनासात्पद्यो  
न विरुध्यते तैः ॥ १८ ॥

अमर्शिनोकी अद्वैतदृष्टि है तो इस  
करणसे ही हमारे फलका उनसे  
विरोध नहीं है । “इन्द्र मय्यसे  
अनेक रूप धारण करता है”  
“उससे भिन्न वृत्ता है ही नहीं”  
इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही प्रमाणित  
होता है ।

जिस प्रकार मत्तगले हाथीपर  
बका हुआ पुरुष किसी उन्मत्त  
मूमिष्ठ मनुष्यके प्रति, उसके ऐसा  
कहनेपर भी कि ‘मैं तेरे प्रतिद्वन्द्वी  
हाथीपर बका हुआ हूँ व अपना  
हाथी मेरी ओर बका दे, विरोधबुद्धि  
न होनेके कारण उसकी ओर हाथी  
नहीं ले जाता, उसी प्रकार [ हमारा  
भी उससे विरोध नहीं है ] । तब,  
परमार्थत तो ब्रह्मवेत्ता द्वैतश्रुतियोंका  
भी अहमा ही है । इसीसे कर्त्यात्  
इसी कारण उनसे हमारे फलका  
विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

मात्मानं मेद मायाहीके कारण है

द्वैतमद्वैतमेद इत्युक्ते द्वैत  
मप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति स्यात्  
ब्रह्मविदान्द्वैतस्यत आह—

द्वैत-अद्वैतका मेद है—ऐसा  
कहनेपर किसी-किसीको चान्हा का  
सकती है कि अद्वैतके समान द्वैत  
भी परमार्थ सद् ही होना चाहिये—  
इसप्रिये कहते हैं—



मायया भिद्यते द्योतमान्यथाज कथञ्चन ।

तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृत व्रजेत् ॥ १९ ॥

इस अजमा अद्वैतमें मायाहीके कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं, यदि इसमें वास्तविक भेद होता तो यह अमृतस्वरूप मरणशीलताको प्राप्त हो जाता ॥ १९ ॥

यत्परमार्थसद्वैतं मायया  
भिद्यते द्योतचैमिरिहानेकचन्द्र  
वद्रञ्जुः सर्पधारादिभिर्मेदैरिव न  
परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः ।

सावयव्यं अणवयवान्यधाम्भेन  
भिद्यते । यथा मृद् घटादिभेदैः ।  
तस्मात्निरवयवमजं नान्यथा  
कथञ्चन केनचिदपि प्रकारेण न  
भिद्यत इत्यभिप्रायः ।

तत्त्वतो भिद्यमाने अमृतम  
जमद्रव्यं स्वभावतः सन्मर्त्यतां  
व्रजतु; यथाग्निः क्षीतताम् ।  
सधानिष् स्वभाववैपरीत्यगमनम्,  
सर्वप्रमाणविरोधात् । अजमम्यय  
मारमत्सर्वं माययैव भिद्यत न

जो परमार्थ सत् अद्वैत है वह  
तिमिरदोषसे प्रतीत होनेवाले अनेक  
चन्द्रमा और सर्प-धारादि भेदोंसे  
विभिन्न दीकनेवाली रज्जुके समान  
मायासे ही भेदवान् प्रतीत होता है,  
परमपण नहीं, क्योंकि वास्तव  
निरवयव है । जो वस्तु साक्ष्य  
होती है वही अवयवोंके भेदसे भेद  
को प्राप्त होती है, जिस प्रकार घट  
आदि भेदोंसे मृत्तिका । वन निरवयव  
और अजम्य वास्तव [ मायाके सिध ]  
और किसी प्रकार भेदको प्राप्त नहीं  
हो सकता—यह इत्यत्र अभिप्राय है ।

यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो  
अमृत अत्र अद्वय और सम्भवसे  
संशयकूप होकर भी आत्मा मर्त्यताको  
प्राप्त हो जायगा, जिस तरह कि अग्नि  
क्षीतताको प्राप्त हो जाय । और  
अग्ने सम्भवसे विपरीत अवस्थाको  
प्राप्त हो जाना सम्पूर्ण प्रमाणोंसे  
निरुद्ध होनके कारण किसीको शक नहीं  
हो सकता । अतः अत्र और अद्वैतीय  
आत्मत्वं मायास ही भेदको प्राप्त

परमार्थत । तस्मान्न परमार्थ । इत्यादि, परमायत नहीं, इसलिये  
सद्वैतम् ॥ १९ ॥ । इत परमाय सत् नहीं है ॥ १९ ॥

जीवोत्पत्ति सर्वथा असंगत है

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिन ।

अजातो ह्यमृता भावो मर्त्यतां कथमेप्यति ॥ २० ॥

इत्यादीश्लेष जन्महीन आत्माके भी जन्मकी इच्छा करते हैं किन्तु  
जो पदार्थ निश्चय ही अजन्मा और मरणहीन है वह मरणशीलताको  
किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ॥ २० ॥

ये तु पुन केचिदुपनिष  
इत्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो  
वाक्यदूका अजातस्यैवात्मतत्त्वस्य  
अमृतस्य स्वभावतो जातिम्  
उत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव  
तेषां जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेप्य  
स्यवश्यम् । स चाजातो ह्यमृतो  
भावे स्वभावतः सत्त्वात्मा कथं  
मर्त्यतामेप्यति ? न कथञ्चन  
मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्यमेप्यती-  
त्यर्थः ॥ २० ॥

किन्तु जो कोई उपनिषोक्तों  
व्याख्या करनेवाले वाक्यमानी ब्रह्मवादी  
श्लेष अजात और अनृतत्वस्य आत्म-  
तत्त्वदी जाति यानी उत्पत्ति परमार्थत  
ही सिद्ध करमा चाहते हैं उनके मतमें  
यदि वह उत्पन्न होता है तो अवश्य  
ही मरणशीलताको भी प्राप्त हो  
जायगा । किन्तु वह जन्मतात्त्व  
स्वभावसे अजात और अमृत होकर  
भी किस प्रकार मरणशीलताको प्राप्त  
हो सकता है ? जन सत्यतय यह है  
कि वह किसी प्रकार अपने स्वभावसे  
वैपरीत मरणशीलताको प्राप्त नहीं  
हो सकता ॥ २० ॥

यस्मात्—

| क्योमि—

न भवत्यमृत मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ २१ ॥

मरणहीन वस्तु कभी मरणशील नहीं होती; और मरणशील कभी अमर नहीं होती। किसी भी प्रकार स्वभावकी विपरीतता नहीं हो सकती ॥२१॥

<p>न भवत्यमृतं मर्त्यं लोके नापि मर्त्यममृतं तथा । ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कश्चिद्भविष्यति, अग्नेरिवोष्णस्य ॥ २१ ॥</p>	<p>अकर्म मरणहीन वस्तु मरण- शील नहीं होती और न मरण- शील वस्तु मरणहीन ही होती है । तब अग्निकी उष्णताके समान प्रकृति अर्थात् स्वभावकी विपरीतता—अपने स्वरूपसे च्युति किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥२१॥</p>
--	--

उत्पत्तिशून्य बोध अमर नहीं हो सकता

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।

कृतकैनामृतस्तस्य कथं स्यास्यति निश्चलः ॥ २२ ॥

जिसके मर्त्यत्वमें स्वभावसे मरणहीन पदार्थ भी मर्त्यत्वको प्राप्त हो जाता है उसके सिद्धान्तानुसार कृतक ( जन्म ) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ चिरस्थायी कैसे हो सकता है ? ॥ २२ ॥

<p>यस्य पुनर्वादिन स्वभावेन अमृतो भावो मर्त्यतां गच्छति परमार्थतो वापते तस्य प्रमुत्पद्यः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा सृष्टैव । कथं तर्हि कृतकैनामृतस्तस्य भावः ? कृत कैनामृतः स कथं स्यास्यति</p>	<p>किन्तु जिस वादीके मर्त्यमें स्वभाव- से अमृत पदार्थ भी मर्त्यत्वको प्राप्त होता है अर्थात् परमार्थतः जन्म मेव है उसकी यह प्रतिज्ञा कि उत्पत्तिसे पूर्व वह पदार्थ स्वभावसे अमरणधर्मा है—मिथ्या ही है । [ यदि ऐसा न मानें ] तो फिर इतना होनेके कारण उसपर स्वभाव अमरत्व कैसे हो सकता है ? और इस प्रकार इतना होनेसे ही वह अमृत पदार्थ निश्चय पक्षी अमृतत्वभाव भी कैसे रह</p>
--	--

निबलोऽमृतत्वभावस्तथा न  
 क्वचित्स्वास्त्यात्मजातिवादिनः  
 सर्वदासं नाम नास्त्येषः सर्व  
 मेतन्मत्स्यम् । अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग  
 इत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

सकता है । अर्थात् वह कभी ऐसा नहीं  
 रह सकता । अत आत्मका जन्म  
 कतजनेवालेके मतमें तो अजन्मा  
 वस्तु कोई ही नहीं । उसके लिये  
 यह सब मरणशील ही है । इससे यह  
 अभिप्राय हुआ कि [उसके मतमें] मोक्ष  
 होनेका प्रसङ्ग ही नहीं ॥ २२ ॥

सृष्टिधृतिश्च संगति

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रति  
 पादिका धृतिर्न संगच्छते  
 प्रामाण्यम् ?

बाहं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका

धृतिः; सा स्वन्यपरा । उपायः

सोऽवतारायेत्यबोचाम । इदानी-

मुक्तेऽपि परिहारे पुनर्बोध-

परिहारौ विवक्षितार्थं प्रति

सृष्टिधृत्यधराणामानुलोम्य

विरोधाश्चङ्कामात्रपरिहारार्थौ—

सङ्ग—किन्तु अजातिवादीके मत-  
 में सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली  
 धृतिकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ?

समाधान—हाँ ठीक है, सृष्टिका

प्रतिपादन करनेवाली धृति भी है

किन्तु उसका उद्देश्य दूसरा है ।

“उपाय सोऽवताराय” इस प्रकार

हम उसका उद्देश्य पहले ( अद्वैत०

१५में) बता ही चुके हैं । इस प्रकार

यद्यपि इस शब्दाका पहले समाधान

किया जा चुका है तो भी सृष्टिधृतिके

अक्षरोंकी अनुकूलताका हमारे वि-  
 क्षित अर्थसे विरोध है । इस शब्दाका

परिहार करनेके लिये ही इस समय

असम्बन्धी शब्दा और समाधानका  
 पुन उल्लेख किया जाता है—

मृततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा धृतिः ।

निश्चित युक्तियुक्तं च यत्प्रवृत्ति नेतरत् ॥ २३ ॥

पारमार्थिक जपका अपारमार्थिक किस्ती भी प्रकारकी सृष्टि होनेमें श्रुति से समान ही होगी । अतः उनमें जो निश्चित और युक्तियुक्त मत हो रही [ श्रुतिक्रम अभिप्राय ] हो सकता है, अन्य नहीं ॥ २३ ॥

मृततः परमार्थतः सुन्यमाने  
वस्तुन्यमूढतो मायया वा  
मायाविनेषु सुन्यमाने वस्तुनि  
समा तुस्या सृष्टिश्रुतिः । ननु  
गौणमुख्ययोर्मुख्यं शब्दार्थ  
प्रतिपत्तिर्युक्ता । न, अन्यथा  
सृष्टेरप्रसिद्धस्वाभिप्रयोजनत्वात्वे-  
त्यवोचाम । अविद्यासृष्टिविपर्ययैव  
सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न  
परमार्थतः "सषास्मान्मन्तरा  
ह्वयः" ( मू० उ २।१।२ )  
इति श्रुतेः ।

वस्तुके मृततः यानी परमार्थतः  
रचे जानेमें जपका अमृततः यानी  
मायासे मायावीक्षण रचे जानेमें सृष्टि  
श्रुति तो समान ही होगी । यदि  
कहो कि गौण और मुख्य दोनों वर्ण  
होनेपर शब्दका मुख्य अर्थ लेना ही  
उचित है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं,  
क्योंकि अन्य प्रकारसे न तो सृष्टि  
सिद्ध ही होती है और न उसका  
कुछ प्रयोजन ही है—एह हम  
पहले कह चुके हैं । "अजमा बाहर  
भीतर विचक्षण और अज्ञान है"  
इस श्रुतिके अनुसार सब प्रकारकी  
गौण और मुख्य सृष्टि का विषय  
सृष्टिसम्बन्धिनी ही है, परमार्थतः  
नहीं ।

तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं तदेकमेवा-  
द्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं  
च युक्त्या च सम्पन्नं तदेवेत्य-  
वोचाम पूर्वैर्ग्रथैः । तदेव श्रुत्यर्थो  
भवति नेतरत्कदाचिदपि ॥२३॥

अतः श्रुतिने जो एक, अद्वितीय,  
अज्ञान और अमृत तत्त्व निश्चित  
किया है वही युक्तियुक्त वर्ण  
युक्तिसे भी सिद्ध होता है ऐसा  
प्रतिपादन कर चुके हैं वही श्रुतिक्रम  
तात्पर्य हो सकता है; अन्य वर्ण  
कभी और किस्ती जपस्वामे नहीं हो  
सकता ॥ २३ ॥

कथं भुक्तिनिबन्धः ? इत्याह— यह भुक्तिनिबन्ध किन प्रकार है ? मो मतभ्रंते है—

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।

अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥ २४ ॥

'नेह नानास्ति किंचन' इन्द्रो मायामि पुरुषरूप ईषते' तथा 'अजायमानो बहुधा विजायते' इन भुक्तिवाक्योंके अनुसार यह परमात्मन्यसासे ही उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

यदि हि मृतत एव सृष्टि स्यात्तत एत्वमेव नाना वस्तिवति तदभाषप्रदर्शनार्थमात्मनापो न स्यात् । अस्ति च "नेह नानास्ति किंचन" (क० उ० २।१।११) इत्यादिरात्मनापो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः । तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरमृतत्वप्राणसंवादवत् । "इन्द्रो मायामि" (पू० उ० २।५।१९) इत्यमृतार्थप्रतिपादकेन भाषाशब्देन व्यपदेशात् ।

ननु प्रज्ञावचनो भाषाशब्दः ।

सत्यम्; इन्द्रियप्रज्ञाया

अविद्यामयत्वेन मायाशब्दोप

यदि वास्तवमें ही सृष्टि हुई है । तो नाना वस्तु सत्य ही हैं ऐसी अवस्थामें उनका अभाव प्रदर्शित करनेके लिये कोई शास्त्र-वचन नहीं होना चाहिये था । किन्तु द्वैतमताका निषेध करनेके लिये "यहाँ नाना वस्तु कुछ नहीं है" इत्यादि शास्त्र-वचन ही हैं । अतः प्राणसंवादके समान आत्मैकत्वकी प्राप्तिके लिये परमात्मा की हुई सृष्टि अपर्याप्त ही है; क्योंकि "इन्द्र मायासे [ अनेकरूप हो जाता है ]" इस भूमिमें सृष्टिकार, अमृतार्थ-प्रतिपादक 'माया' शब्दसे निर्देश किया गया है ।

सद्वा—'माया' शब्द तो प्रज्ञा-वाचक है [ इसलिये इससे सृष्टिकार भिष्याच सिद्ध नहीं होता ] ।

समाधान—ठीक है, आविद्यक होनेके कारण इन्द्रियप्रज्ञाया मायाच्य मना गया है इसलिये उसमें कोई

गमाद्दोषः । मायाभिरिन्द्रिय  
प्रज्ञाभिः अविद्यारूपाभिरित्यर्थः  
“अजायमानो बहुधा विजायते”  
इति श्रुतेः, तस्मान्माययैव आयते  
तु सः । तुल्यदोऽवधारणार्थः—  
माययैवति । न अजायमानत्वं  
बहुधा जन्म चैकत्र सम्भवति,  
अग्नाविष्व श्वेत्यमौष्यं च ।

फलबन्धाद्यात्मैकत्वदर्शनमेव  
श्रुतिनिश्चितार्थः “एतन्न को  
मोक्षः कश्चिदशोक एकस्वमनुपपद्यतः”  
( ई० उ० ७ ) इत्यादिमन्त्रवचनात्;  
“मृत्योः स मृत्युमाप्नोति” ( क  
उ० २ । १ । १० ) इति निन्दि  
तत्वाद्य सृष्ट्यादि भद्रदृष्टः ॥ २४ ॥

दोष नहीं है । अतः मायासे अर्थात्  
अविद्यारूप इन्द्रियप्रज्ञासे; जैसा कि  
“उत्पन्न न होकर भी अनेक प्रकार  
से उत्पन्न होता है” इस श्रुतिसे सिद्ध  
होता है । अतः वह मायासे ही  
उत्पन्न होता है । यहाँ ‘तु’ शब्द  
निश्चयार्थक है । अर्थात् मायासे ही  
[ उत्पन्न होता है ] । अग्निमें  
शीतलता और उष्णताके समान जन्म  
न लेना और अनेक प्रकारसे जन्म  
लेना एक ही वस्तुमें सम्भव नहीं है ।

“उस अवस्थामें एकत्रचक्र  
साक्षात्कर करनेवाले पुरुषको क्या  
मोक्ष और क्या शोक हो सकता है ?”  
इत्यादि श्रुतिके अनुसार फल्युक्त  
होनेके कारण तथा “[ जो नानात्व  
देखता है ] वह मृत्युको मृत्युसे प्राप्त  
होता है” इस श्रुतिसे सृष्टि आदि  
भेददृष्टिके निन्दा की जानेके कारण  
भी अजायमानत्वं ही श्रुतिके  
निश्चित अर्थ है ॥ २४ ॥



श्रुति स्वयं और कारण दोनोंका प्रतिषेध करती है  
सभूतेरपश्चादाद्य स भव प्रतिपिच्यते ।

को न्वेनं जनयेदिति कारणं F

२

श्रुतिमें सम्भूति ( हिरण्यगर्भ ) की निन्दा

किया गया है तथा ‘इसे कौन उत्पन्न

प्रतिषेध किया गया है ॥ -

“अन्धं तमः प्रविशन्ति ये  
संभूतिमुपासते” ( ई० उ० १२ )

इति समूतेरुपासत्वापवाद-  
त्संभव प्रतिपिच्यते । न हि  
परमार्थतः संभूतायां संभूतौ  
उदपवाद उपपद्यते ।

ननु विनाशेन समूते  
समुच्चयविध्यर्थः संभूत्यपवादः ।  
यथा “अन्धं तम प्रविशन्ति  
येऽविद्यामुपासते” ( ई० उ० ९ )  
इति ।

सत्यमेव देवतादर्शनम्य संभूति-  
विषयस्य विनाश-

उदुच्यते

शब्दवाच्यस्य कर्मण

प्रयोगस्य

समुच्चयविधानार्थ

संभूत्यपवादः । तथापि विनाशा  
स्यस्य कर्मणः स्वाभाविकज्ञान  
प्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतिविरमार्थ  
स्ववद्वेवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य  
पुरुषसत्त्वधार्यस्य कर्मफलराग  
प्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनपणा  
द्वयलक्षणस्य मृत्योरतिविरमार्थ  
त्वम् । एवं दोषणाद्वयस्या

“जो सम्भूति ( विरण्यागम ) की  
उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें  
प्रवेश करते हैं” इस प्रकार सम्भूति-  
के उपास्यत्वकी निन्दा की जानेके  
कारण कर्षकप्रकार प्रतिषेध किया  
गया है । यदि सम्भूति परमार्थ  
सत्त्वरूप होती तो उसकी निन्दा  
की जानी सम्भव नहीं थी ।

सङ्घा—सम्भूतिके उपास्यत्वकी  
जो निन्दा की गयी है वह तो विनाश  
( कर्म ) के साथ सम्भूति ( देवतो-  
पासना ) का समुच्चयविधान करनेके  
लिये है; नैसा कि “जो भविष्यकी  
उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें  
प्रवेश करते हैं” इस वाक्यसे सिद्ध  
होता है ।

समाधान—सचमुच ही, सम्भूति-  
विरयक देवताच्यन और विनाशा  
शब्दवाच्य कर्मका समुच्चयविधान  
करनेके लिये ही सम्भूतिके अर्थद  
किया गया है तथापि जिस प्रकार  
‘विनाश’ संज्ञक कर्म स्वाभाविक  
अज्ञानजनित प्रवृत्तिरूप मृत्युकी  
पार करनेके लिये है उसी प्रकार  
पुरुषक मत्परके लिये विदित देवता  
दर्शन और कर्मका समुच्चय कर्म-  
फलक रूपमें होनेकी प्रवृत्तिरूप  
जो साध्य-साधनरूपका दो प्रकारकी  
व्यसनात्मकी मृत्यु है, उसे पार करनेके



मृत्योरशुद्धेर्विमुक्तः पुरुषः  
 संस्कृतः स्यादतो मृत्योरतिव  
 रणार्था देवतादृष्टनकर्मसमुच्चय  
 लक्षणा विद्या ।

एवमेव एषामालक्षणाविद्याया  
 मृत्योरतितीर्णस्य  
 सम्भूतस्य  
 विरक्तस्योपनिपच्छा  
 वेत्  
 स्रार्यालोचनपरस्य

नान्तरीयकी परमात्मैकत्व  
 विद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीम-  
 विद्यामपेक्ष्य पञ्चाङ्गाविनी ब्रह्म  
 विद्यामृतत्वसाधनैक्यं पुरुषेण  
 सम्बन्धमानाविद्यया समुपेयत  
 इत्युच्यते । अतोऽन्यार्थत्वाद्  
 मृतत्वसाधनं ब्रह्मविद्यामपेक्ष्य  
 निन्दार्थ एव भवति संभूत्य  
 पवादः । यद्यप्यशुद्धिविद्यागदु  
 अतन्निष्ठत्वात् । अत एव समूत  
 अपवादोऽस्मिन्मृतेरापधिकमेव सत्त्व  
 मिति परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्य  
 अमृताख्यः संभवः प्रतिपिच्यते

लिये है । इस प्रकार एषणाद्वयरूप  
 मृत्युकी अशुद्धिसे मुक्त हुआ पुरुष ही  
 संस्कारसम्पन्न हो सकता है । अत  
 देवतादर्शन और कर्मसमुच्चयलक्षण  
 विद्या मृत्युसे पार होनेके लिये ही है ।

इसी प्रकार एषणाद्वयलक्षण  
 विद्यारूप मृत्युसे पार हुए तब  
 उपनिषद्ब्रह्मके अर्थकी आलोचनामें  
 तबपर विरक्त पुरुषको ब्रह्मसमैक्यरूप  
 विद्याकी उत्पत्ति दूर नहीं है,  
 इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि पहले  
 होनेवाली अविद्याकी अपेक्षासे पीछे  
 प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या, जो अमृतत्व-  
 का साधन है, एक ही पुरुषसे सम्बन्ध  
 रखनेके कारण अविद्यासे समुच्चित  
 की जाती है । अत अमृतत्वके  
 साक्षात् साधन ब्रह्मविद्याकी अपेक्षा  
 अन्य प्रयोजनवाला होनेसे सम्भूतिकर  
 अपवाद निन्दाहीके लिये किया  
 गया है । यह यद्यपि अशुद्धिके क्षयका  
 कारण है, तो भी अतन्निष्ठ ( मोक्षका  
 साक्षात् हेतु न ) होनेके कारण  
 [ उसकी निन्दा ही की गयी है ] ।  
 इसलिये सम्भूतिकर अपवाद त्रितय  
 जानेके कारण उसका सत्व आपेक्षिक  
 ही है इसी आशयसे परमार्थ सत्त्व  
 आत्मैक्यकी अपेक्षासे अमृतसंज्ञक  
 सम्भूतिकर प्रतिपत्ति किया गया है ।

एवं मायानिर्मितस्यैव  
जीवस्याविद्यया प्रत्यु  
विद्योत्पत्त्यन्तरं  
जीवनाशस्य पस्यापितस्याविद्या  
अनुपपत्ति- नाशे स्वभावरूप  
प्रतिपादकत्वं  
त्वात्परमार्थतः को  
न्वेनं जनयेत् । न हि रज्ज्वाम  
विद्यारोपितं सर्पं पुनर्विविक्तो  
नष्टं जनयेत्कश्चित् । तथा न  
कश्चिदनं जनयेदिति को न्विद्या  
क्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिपिष्यते ।  
अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयित्वा  
कारणं न किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः  
“नार्यं इत्यधिकं कर्तव्यं कश्चित्”  
( क० उ० १ । २ । १८ ) इति  
श्रुतेः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अविद्याद्वारा क्या  
किया गया मायप्रभित जीव जब  
अविद्याका नाश होनेपर अपने  
स्वरूपसे स्थित हो जाता है तब उसे  
परमार्थतः कौन उत्पन्न कर सकता  
है ? रज्जुमें अविद्यासे आरोपित सर्प-  
को, विवेकसे नष्ट हो जानेपर, फिर  
कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । उसी  
प्रकार इसे भी कोई उत्पन्न नहीं कर  
सकता । “को न्वेनम्” इत्यादि श्रुति  
आक्षेपार्थक है [ प्रत्यापक नहीं ]  
इसलिये इससे कारणका प्रतिषेध  
किया जाता है । इसका तात्पर्य यह  
है कि अविद्यासे उत्पन्न हुए इस  
जीवका निष्पन्नारा नाश हो जानेपर  
फिर इसे उत्पन्न करनेवाला कोई भी  
कारण नहीं है, वैसे कि “यह  
कहाँसे ( किसी कारणसे ) किसी  
रूपमें उत्पन्न नहीं हुआ” इत्यादि  
श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥

अनारमप्रतिषेधसे अज्ञाना आत्मा प्रकाशित होता है

स एव नेति नेतीति व्याख्यातं निवृत्ते यत ।

सर्वमप्राप्त्यभावेन हेतुनाज प्रकाशते ॥ २६ ॥

क्योंकि ‘स एव नेति नेति’ ( यह यह आत्मा यह नहीं है, यह  
नहीं है ) इत्यादि श्रुति आत्माके अप्राप्त्यके कारण [ उसके निरपेक्ष ]  
पक्षसे कदाप्ये हुए सभी मायोंका निषेध करती है, जब इस [ निषेध-  
रूप ] हेतुके द्वारा ही अज्ञान आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन “अथात्  
आदेशो नेति नेति” ( ५० उ०  
२ । ३ । ६ ) इति प्रति  
पादिसत्त्वात्मना दुर्बोध्यत्व  
मन्यमाना भृति पुनः पुनरुपा  
यान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिषिपाद्  
विषया यदुन्धारभात् तत्सव  
निहृते, ग्राह्य वनिमदुपुद्धि  
विषयमपत्तपति । अर्थात् “स  
एव नति नेति” ( ५० उ० ३ ।  
९ । २६ ) इत्यात्मनाऽऽत्म्यता  
दर्शयन्ती भृतिः उपायस्योपेय  
निष्ठतामजानत उपायत्वेन  
व्याख्यातस्यापेयवदुप्राहता मा  
भृदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन  
निहृत् इत्यर्थ । तत्सर्वैवमुपा-  
यस्योपेयनिष्ठतामेव जानत  
उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति  
तस्य सत्ताद्याभ्यन्तरमजमात्म  
तस्य प्रकाशते स्वयमेव ॥ २९ ॥

“अथात् आदेशो नेति नेति”  
इस प्रकार समस्त विशेषणोंके प्रतिषेध-  
द्वारा प्रतिपादन किसे हुए आत्मज्ञ  
दुर्बोध्यत्व माननेवाली भृति बारंबार  
दूसरे उपायमें उसीका प्रतिपादन  
करनेकी इच्छासे, पहले जो कुछ  
व्याख्या थी है उस समीप अज्ञान  
( असम्पत्ता प्रतिपादन ) करती है ।  
यह भाष्य—युद्धिके अन्य विषयोंका  
अपवाद करती है । अर्थात् “स एव  
नति नेति” इस प्रकार आत्मकी  
अद्वयता दिखानेवाली भृति,  
उपायकी उपेयनिष्ठताको न जानने-  
वाले व्यक्तियोंके उपायरूपसे कृतअपे  
द्वय विषय उपेयके समान प्राप्त न हो  
जायें—इसलिये, अप्राप्तस्वरूप हेतुसे  
उनका निषेध करती है—यही उसका  
अभिप्राय है । तदनन्तर इस प्रकार  
उपायकी उपेयनिष्ठताकी जाननेवाले  
और उपेयकी नित्यैकस्वरूपताको भी  
समझनेवाले पुरुषोंको यह बाहर  
मतिार विद्यमान अजन्मा अज्ञमत्तत्त्व  
स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है ॥२९॥

सद्वस्तुकी उत्पत्ति मासिक होती है

एवं हि भृतिवाक्यधरैः । इस प्रकार सैकड़ों भृतिवाक्योंसे  
सुबोधान्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं । यही निश्चित होता है कि बाहर

१. इस ( मूर्त और अमूर्तके उपस्थात् ) के अनन्तर [ निर्विशेष आत्म-  
त्व बोध करनेके लिये ] यह नहीं है यह नहीं है—येका उपदेश है ।

न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत् ।  
युक्त्या च अधुनैतदथ पुन

निर्धायत इत्याह—

सता हि मायया जन्म युच्यते न तु तत्त्वत ।

तत्त्वता जायते यस्य जात तस्य हि जायते ॥ २७ ॥

मदस्तुत्र जन्म मायामे ही ही मयया है परन्तु नहीं । त्रिमूर्ति  
मन्त्रों परन्तु त न दाता है उनके मित्रातानुमार भी दृष्टातिगोत्र  
यस्तुत्र ही जन्म ही करता है ॥ २७ ॥

सर्वैतन्मास्सदाप्राणमय चैदम

दयान्मवस्थमिति । तत्र, काय

ग्रहणात् । यथा यता मायायिना

मायया जन्म कायम् । एष

जगता जन्म काय गृह्यमान

भाषारिनिमित्त परमाथमन्तम

आधानं जगत्जननापान्मदम्

सर्वगमयति । यस्मात्प्रजा दि

विद्यमानान्कारना नायानिमि

तस्य इत्यादिष्टायम्पर जगत्जनम

पुपत्र नामत धारणात् । न

तु तत्त्वत परात्मना जन्म पुपत्र ।

मीतर कर्मानाम—अजमा अत्मानस्य  
अद्वितीय है, उससे भिन्न और कुछ  
नहीं है । यही बात अप युक्तिसे  
निर निश्चय की जाती है, इसीसे  
कहते हैं—

उग जन्मस्यक विद्यमे पद

गद्दा दाती है कि यदि आत्मनस्य

मरणा म्पाय ही है ना तद् असत्

होना चादिय । परन्तु पन्ना पदना

दीर नहीं क्योंकि उगस्य पश्य

तस्य जता है । त्रिस प्रसर सत्

सत्त्व मात्तिस्य स्वकम जन्म पन्ना

काय है उगी प्रसर व- विगदारी

जनना जगत्स्य जन्मस्य कर्मे

जन्मस्य स्वकम अद्यमृत

परमस्य गद्दा मात्तिस्य जन्म अन्म

का पान कर्माय है, क्योंकि स्वकम

रा है हाथ अ- कर्माय जन्मन

गद्दा अन्म विद्यमान कर्माय ही

जन्मस्य जन्मदाता जन्मा है, किन्ती

अधिपत्य कर्मायें नहीं । तथा

जन्मस्य जन्मस्य जन्म जन्मा

जन्मा है ही नहीं ।

अथ वा सतो विद्यमानस्य  
वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवत्  
मायया जन्मयुज्यते न तु तत्त्वतो  
यथा तथाग्राहस्यापि सत् एवा  
त्मनो रज्जुसर्पवस्त्रग्राह्येण मायया  
जन्म युज्यते । न तु तत्त्वत  
एवात्मस्यात्मनो जन्म ।

यस्य पुनः परमार्थसद्वत्त्वात्म  
तत्त्व जगद्ग्राह्येण घायते वादिनो  
न हि तस्मात्तं जायते इति शक्यं  
वस्तु विरोधात् । तदस्तस्मा-  
त्तन्जातं जायते इत्यापन्नं  
तत्त्वान्तवत्त्वा ज्ञाताजायमान  
त्वेन । तस्मात्तद्वत्त्वमेवात्म-  
वत्त्वमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

जप्या [ यों समझो कि ] जिस  
प्रकार रज्जु आदिसे सर्पादिके सम्भन  
सत् अर्थात् विद्यमान वस्तुका जन्म  
मायासे ही हो सकता है, तत्त्वत  
नहीं, उसी प्रकार अमूर्त होनेपर  
भी सत्स्वरूप आत्माका, रज्जुसे  
सकिके सम्भन, जगत्स्वरूपसे जन्म  
होना मायासे ही सम्भव है—उस  
जन्ममा आत्माका तत्त्वत ज  
नहीं हो सकता ।

किन्तु जिस वादीके मत  
परमार्थ सत् अस्तित्व ही जगत्  
रूपसे उत्पन्न होता है उसमें  
सिद्धान्तानुसार यह नहीं कहा जा  
सकता कि अजन्मा वस्तुका ही जन्म  
होता है, क्योंकि इससे विरोध  
उपस्थित होता है । अतः यह सत  
सिद्ध हो जाता है कि उत्पत्ते  
मतानुसार किसी अजन्मवस्तुका ही  
जन्म होता है । किन्तु इस प्रकार  
अजन्मवस्तु ही जन्म माननेपर  
अनवस्था उपस्थित हो जाती है;  
अतः यह सिद्ध हुआ कि अस्तित्व  
अजन्मा और एक ही है ॥ २७ ॥

असद्वस्तुस्य उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।

घन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ २८ ॥

असद्वस्तुका जन्म तो मायासे अपना तत्त्व किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं है । बन्ध्याका पुत्र न तो वस्तुतः उत्पन्न होता है और न मायासे ही ॥ २८ ॥

<p>असद्वादिनामसतो भावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथञ्चन जन्म युज्यते, अष्टत्वात् । न हि बन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा ज्ञायते तस्मात्प्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ २८ ॥</p>	<p>असद्वादिपदोंके पक्षमें भी, असद्वस्तुका जन्म मायासे अपना वस्तुतः किसी प्रकार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता । बन्ध्याका पुत्र न तो मायासे उत्पन्न होता है और न वस्तुतः ही । अतः तार्क्य यह हुआ कि असद्वाद से सर्वथा ही अयुक्त है ॥ २८ ॥</p>
--	---

कथं पुनः सतो मायैव जन्मेत्युच्यते— सत्त्वस्तुका जन्म मायासे ही कैसे हो सकता है—इसपर कहते हैं—

यथा स्वप्ने द्रयाभास स्पन्दते मायया मनः ।

तथा जाग्रद्द्रयाभास स्पन्दते मायया मनः ॥ २९ ॥

त्रिस प्रकार सप्तकर्ममें मन मायासे ही रूपाभासरूपसे स्फुरित होता है उसी प्रकार जाग्रत्कर्ममें भी यह मायासे ही रूपाभासरूपसे स्फुरित होता है ॥ २९ ॥

<p>यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणःसन्नेपं मनः परमार्थविद्वत्स्यास्मरूपेणा- वेक्ष्यमाणं सद् प्राद्यग्राहकरूपेण द्रयाभास स्पन्दते स्वप्ने मायया,</p>	<p>त्रिस प्रकार रज्जुमें कल्पना किया हुआ सर्प रज्जुरूपसे देखे जानेपर सत् है उसी प्रकार मन भी परमार्थज्ञानरूप आत्मेश्वररूपसे देखा जानेपर सत् है । यह रज्जुमें सर्पि समान स्वप्नावस्था में मायासे ही प्राद्य-ग्राहकरूप रूपाभासरूपसे स्फुरित होता है । इसी प्रकार यह मन ही जाग्रत्</p>
--	---

रज्ज्वामिष सर्प । तथा तद्दद्वय अत्रस्थाने मी मायासे [ त्रिविध रूपों  
 आश्रज्जागरिते स्पन्दत मायया में ] स्थित होता है, अर्थात् स्थित  
 मन स्पन्दत इवेत्यर्थ ॥ २९ ॥ होता-सा माय्यम होता है [ वास्तवमें  
 स्थित भी नहीं होता ] ॥ २९ ॥

स्वप्न और जागृति मनक ही विलयत है

अद्वय च द्वयाभास मन स्वप्ने न सशय ।

अद्वय च द्वयाभास तथा जाग्रन्न सशय ॥ ३० ॥

इसमें सन्देह नहीं स्वप्नावस्थाने अद्वैत मन ही द्वैतरूपसे मासनेवाला  
 है, इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी नि सन्देह अद्वय मन ही द्वैतरूपसे  
 मासता है ॥ ३० ॥

रज्जुरूपस्य सर्प इव परमार्थत रज्जुरूपसे सत् सर्पके सम्भन  
 आत्मरूपेषाद्वयं सबुद्वयाभासं परमपत अद्वय आत्मरूपसे सत्  
 मनः स्वप्ने न संशयः । न हि मन ही स्वप्नमें द्वैतरूपसे मासनेवाला  
 स्वप्ने इस्त्वादि प्राणं सदग्राहकं है—इसमें सन्देह नहीं । स्वप्नमें  
 वा भी अग्नि प्राण पदाथ और उन्हें प्रवृत्त करनेवाले वायु आदि दोनों  
 वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानम्यति ही विज्ञानके सिवा और कुछ नहीं  
 रेकेनास्ति । चाग्रदपि तथैवेत्यर्थः । है, ऐसा ही जाग्रतमें भी है—यह  
 परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ३० स्वप्नरूपसे विद्यमान है ॥ ३० ॥  
 इत्यत्र तत्पर्य है, क्योंकि दोनों ही  
 अवस्थाओंमें परमार्थ सत् विज्ञान ही

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैत रज्जुर्म सर्पके समान विकल्पनारूप  
 रूपस्य मन एवेत्युक्तम् । तत्र यह मन ही द्वैतरूपसे स्थित है—  
 ऐसा पहले कहा गया । इसमें

किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेक-

लक्षणमनुमानमाह । कथम्—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥

यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मनका दृश्य है, क्योंकि मनका अमनीभाव ( संकल्पशून्यत्व ) हो जानेपर द्वैतकी उपजम्बि नहीं होती ॥ ३१ ॥

तेन हि मनसा विबल्लभ्यमानेन

दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं

मन इति प्रतिज्ञा । तद्भावे

भाषाचदमाहऽमावात् । मनसो

ह्यमनीभाव निरोधे विषक

दर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां रज्ज्वा

मिष सर्पे लभ्य गते वा सुषुप्ते द्वैत

नैवोपलभ्यत इत्यभावात्सिद्धं

द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थ ॥ ३१ ॥

प्रमाण क्या है ? इसके अन्वये अन्वय-  
व्यतिरेकरूप अनुमान प्रमाण कहा  
जाता है सो किस प्रकार—

उस विकल्पित होनेवाले मनद्वारा  
दृश्यभयी देने योग्य यह सम्पूर्ण द्वैत  
मन ही है—यह प्रतिज्ञा है, क्योंकि  
उसके वर्तमान रहनेपर यह भी  
वर्तमान रहता है तथा उसका अभाव  
हो जानेपर इसका भी अभाव हो  
जाता है । मनका अमनीभाव—  
निरोध अर्थात् विवेकशक्तिके अभावसे  
और वैराग्यद्वारा रज्जुमें सर्पके  
समान छप्य हो जानेपर, अथवा  
सुषुप्ति-अवस्थामें द्वैतकी उपजम्बि  
नहीं होती । इस प्रकार अभाव का  
जानेके कारण द्वैतकी असत्ता सिद्ध  
ही है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३१ ॥

तत्त्वचोपसे अमनीभाव

कथं पुनरमनीभावः ? इति

किन्तु यह अमनीभाव होता  
किस प्रकार है । इस विषयमें कहा

उच्यते—





आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।

अमनस्तां तदा याति प्राद्याभावे तदग्रहम् ॥ ३२ ॥

जिस समय आत्मस्वरूपकी उच्छ्रिप्ति होनेपर मन सफल नहीं करता उस समय वह अमनीमात्रक प्रप्त हो जाता है, उस अवस्थामें प्राद्याकार अभाव हो जानेके कारण वह प्रश्न करनेके विकल्पसे रहित हो जाता है ॥ ३२ ॥

आत्मैव सत्यमात्मसत्यं मृत्ति  
कावत् “वाचारम्भं विकारो  
नामधेय मृत्तिकस्येव सत्यम्”  
( छा० उ० ६।१।४ ) इति  
श्रुतेः तस्य शास्त्राचार्योपदेश  
मन्ववबोधः आत्मसत्यानुबोधः ।  
तेन सङ्कल्प्याभावतया न  
सङ्कल्पयते, दाद्याभावे ज्वलन  
मित्वाग्नेः, यदा यस्मिन्काले तदा  
तस्मिन्कालेऽमनस्ताममनाभावं  
याति; प्राद्याभावे तन्मनोऽग्रहं  
अग्रहविकल्पनात्तद्विस्तमित्यर्थः ३२

“[ अथदि ] माण्डूक्ये आत्म होने-  
वाला विकार नाममात्र है, मृत्तिका  
ही सत्य है” इस मृत्तिके अनुसार  
मृत्तिकाके समान आत्मा ही सत्य  
है । उस आत्म-स्वरूपका शास्त्र और  
आचार्यके उपदेशके अनन्तर बोध  
होना आत्मसत्यानुबोध है । उसके  
कारण सङ्कल्पयोग्य वस्तुका अभाव  
हो जानेसे, दाद्य वस्तुका अभाव  
हो जानेपर अग्निके दाद्यकारके  
अभ्यन्तके समान, जिस समय कि  
सङ्कल्प नहीं करता उस समय वह  
अमनस्करूप अर्थात् अमनीमात्रक  
प्रप्त हो जाता है । प्राद्या वस्तुका  
अभाव हो जानेसे वह मन अमन  
अर्थात् प्रश्न-विकल्पनासे रहित  
हो जाता है ॥ ३२ ॥

आत्मज्ञान किसे होता है ?

यद्यसदिदं द्वैतं केन स्वमन्-  
आत्मसत्यं विबुध्यते ? इति  
उच्यते—

यदि यह सम्पूर्ण द्वैत असत्य है  
तो प्रकृत सत्य आत्मस्वरूपका ज्ञान  
किसे होता है ? इसपर कहते हैं—

अकल्पकमज ज्ञान ज्ञेयाभिन्न प्रवक्षते ।

ब्रह्मज्ञेयमज नित्यमजेनाज विबुध्यते ॥ ३१ ॥

उस सर्वकल्पनाशून्य अत्रन्मा ज्ञानको विवेकी श्रेय श्रेय ब्रह्मसे अभिन्न ब्रह्मप्रती है । ब्रह्म ब्रह्मका विषय है वह ज्ञान अत्रन्मा और नित्य है । उस अत्रन्मा ज्ञानसे अत्रन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है ॥ ३३ ॥

अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जित  
मत एवार्जं ज्ञानं ज्ञप्तिमार्जं  
ज्ञेयेन परमार्थसत्ता ब्रह्मणाभिन्न  
प्रवक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः ।  
न हि विद्यातुर्विद्यातेद्विपरिलापो  
विद्यतेऽन्युप्यात् “विज्ञानमा  
नन्दं ब्रह्म” ( पू० उ० ३ । ९ ।  
२८ ) “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”  
( सै० उ० २ । १ ) इत्यादि  
भ्रुतिभ्यः ।

अकल्पक—सम्पूर्ण कल्पनाजैसि  
रहित अथवा अत्रन्मा अर्थात्  
ज्ञप्तिमार्जं ज्ञानको ब्रह्मनेता श्रेय  
श्रेय यानी परमापस्तम्बरूप ब्रह्मसे  
अभिन्न ब्रह्मप्रती है । अग्निकी उष्णता-  
के समान विद्यार्थके ज्ञानको कभी  
लोप नहीं होता । “ब्रह्म विज्ञान  
और आनन्दस्वरूप है” “ब्रह्म सत्य,  
ज्ञान और अनन्त है” इत्यादि  
भ्रुतिप्रती है यही बात प्रमादित  
होती है ।

उस ( ज्ञान ) के ही विशेषण  
ब्रह्मप्रती है—“ब्रह्मज्ञेयम्” अर्थात्  
ब्रह्म ब्रह्मका श्रेय है वह ज्ञान अग्नि  
के उष्णताके समान ब्रह्मसे अभिन्न  
है । उस आत्मतत्त्व अत्रन्मा  
ज्ञानसे अत्रन्मा ब्रह्मतत्त्व आत्मतत्त्व  
स्वयं ही जाना जाता है । तात्पर्य  
यह है कि नित्यब्रह्मज्ञानमय मूलके  
सम्बन्ध नित्यविज्ञानैकब्रह्मतत्त्व  
ज्ञानने कारण यह सिद्धी अन्य  
ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ३३ ॥

सत्यैव विशेषणं ब्रह्म श्रेय  
यस्य स्वयं तद्विद ब्रह्मज्ञेय  
मौष्यस्येवाप्रिबदभिषम् । तेना-  
त्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाज श्रेय  
मात्मतत्त्व स्वयमेव विबुध्यते  
ऽवगच्छति । नित्यप्रकाशमयस्वरूप  
इव सविता नित्यविज्ञानैकब्रह्म  
पतन्वाप्त ज्ञानान्तरमपेयत  
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

## शान्तशुचिश्च स्वरूप

आत्मसत्यानुबोधेन सहस्यम-

कुर्वन्नाहविषयामावे निरिध

नामिषत्प्रक्षान्तं निगृहीतं निरुद्ध

मनो मधतीत्युक्तम् । एवं च

मनसो समनीभावे द्वैता

भावोक्तः । तस्यैषम्—

आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेसे

संक्रम्य न करता हुआ चित्त, बाह्य-

विषयका अभाव हो जानेसे, रुध्न-

रहित अग्निके समान शान्त होकर

निगृहीत अर्थात् निरुद्ध हो जाता

है—ऐसा कहा गया । इस प्रकार

मनका अमनीभाव हो जानेपर द्वैत-

का भी अभाव बतजाया गया । उस

इस प्रकार—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमत ।

प्रचार स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्सम ॥ ३४ ॥

निगृहीत, निर्विकल्प और विकल्पसम्पन्न चित्तका जो व्यापार है वह विशेषरूपसे ज्ञातव्य है । सुषुप्ति-अवस्थामें जो चित्तकी वृत्ति है वह अस्य प्रकारकी है, वह उस ( निरुद्धावस्था ) के समान नहीं है ॥ ३४ ॥

निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो  
निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्धित  
स्य धीमता विषकवतः प्रचारा  
यः स तु प्रचारो विशेषेण स्या  
योगिभिः ।

ननु सर्षप्रस्पयामावे यादृशः

सुषुप्तस्य मनसः प्रचारस्तादृश

निगृहीत—रोके हुए, निर्विकल्प—  
सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित  
और धीमान्—विकल्पसम्पन्न चित्तका  
जो प्रचार-व्यापार है, योगियोंको  
उसका वह व्यापार विशेषरूपसे  
जानना चाहिये ।

सङ्का—सब प्रकारकी प्रतीतियों  
का अभाव ही जानेपर जैसा व्यापार  
सुषुप्तिस्थ चित्तका होता है वैसा ही  
निरुद्धका भी होगा, क्योंकि प्रतीति-  
का अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें

एष निरुद्धस्यापि प्रत्ययामावा-  
विशेषार्थिक तत्र विशेषमिति ।

अत्रोच्यते—नैवम्; यस्मात्  
सुषुप्तेऽन्य प्रचारोऽविद्यामोह  
तमोप्रस्तस्यान्तर्लानानेकानर्थ  
प्रवृत्तिबीजवासनावसो मनस  
भात्मसत्त्वानुबाधदुष्टाद्विप्लुष्टा  
विद्यानर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्ध  
स्वान्य एव प्रधान्तसर्वकलेश्वरजसः  
स्वतन्त्रः प्रचारः । असौ न  
सत्तमः । तस्माद्यक्तः स विद्यातु  
मित्यभिप्राय ॥ ३४ ॥

समान है । उसमें विशेषरूपसे  
जाननेयोग्य कौन-सी बात है ।

समाधान—इस विषयमें हमारा  
कहना है कि ऐसी बात नहीं है,  
क्योंकि सुषुप्तिमें अविद्या-मोहरूप  
अन्धकारसे मत्त हुए तथा जिसके  
भीतर अनेकों अनर्थ-प्रवृत्तिकी बीज  
मूत वासनाएँ छिपी हैं उस मनका  
म्यापार दूसरे प्रकारका है और  
आत्मस्वरूपके बोधरूप अग्निमें जिसकी  
अविद्यारूपी अनर्थ-प्रवृत्तिकी बीज  
दग्ध हो गया है तथा जिसके सब  
प्रकारके क्लेशरूप दोष शान्त हो  
गये हैं उस निरुद्ध चित्तका स्वप्न-  
प्रचार दूसरे ही प्रकारका है । अतः  
यह उसके समान नहीं है । इसलिये  
तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान  
असंभव प्राप्त करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सुषुप्ति का समाधिस्थ भे-

प्रचारभेद दत्तुमाह—

उन दोनोंमें प्रचारभेदमें क्या  
बतलाते हैं—

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृह्यते न लीयते ।

तदेव निर्मयं यद्वा ज्ञानालोक समन्ततः ॥ ३५ ॥

सुषुप्ति अवस्थामें मन [ अविद्यामें ] स्थित हो जाता है, किन्तु  
निरुद्ध होकर यह उसमें छिपी नहीं होता । उस समय तो मन अज्ञानमें  
विद्यमान मन निर्मल रूप ही रहता है ॥ ३५ ॥

## साप्तवृत्तिका स्वरूप

आत्मसत्यानुबोधेन सङ्कल्पम-  
 कुर्वन्नाद्यविषयाभावे निरिध  
 नाधिब्रह्मप्रधानं निगृहीतं निरुद्ध  
 मनो भवतीत्युक्तम् । एवं च  
 मनसो क्षमनीभावे द्वैता  
 भावश्लोकः । तस्यैवम्—

आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेसे  
 संकल्प न करता हुआ चित्त, वाङ्-  
 मयिक अभाव हो जानेसे, इन्द्र-  
 रहित अग्निके समान शान्त होकर  
 निगृहीत अर्थात् निरुद्ध हो जाता  
 है—ऐसा कहा गया । इस प्रकार  
 मनका क्षमनीभाव हो जानेपर द्वैत-  
 का भी अभाव बतलाया गया । उस  
 इस प्रकार—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमत ।

प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥ ३४ ॥

निगृहीत, निर्विकल्प और विकल्पसम्पन्न चित्तका जो व्यापार है वह  
 विशेषरूपसे हातक्य है । सुषुप्ति-अवस्थामें जो चित्तकी वृत्ति है वह अन्य  
 प्रकारकी है, वह उस ( निरुद्धावस्था ) के समान नहीं है ॥ ३४ ॥

निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो  
 निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जित  
 स्य धीमता विषयवतः प्रचारा  
 यः स तु प्रचारो विज्ञेयेण ज्ञेयो  
 योगिभिः ।

ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृश

सुषुप्तस्य मनस प्रचारस्तादृश

निगृहीत—रोके हुए, निर्विकल्प-  
 सब प्रकारके कल्पनावर्जित रहित  
 और धीमान्—विकल्पसम्पन्न चित्तका  
 जो प्रचार-व्यापार है, योगियोंके  
 उसका वह व्यापार विशेषरूपसे  
 जानना चाहिये ।

सङ्का—सब प्रकारकी प्रतीतियों  
 का अभाव ही जानेपर वैसे व्यापार  
 सुषुप्तिस्य चित्तका होता है वैसे ही  
 निरुद्धका भी हाण्ड, क्योंकि प्रतीति-  
 का अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें

ब्रह्मस्वरूप

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्

सकृद्विभात सर्वज्ञ नोपचार कथञ्चन ॥ ३६ ॥

इह ब्रह्म जन्मरहित, [ अज्ञानरूप ] निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नामरूपसे रहित, नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है, उसमें किसी प्रकारका फलमय नहीं है ॥ ३६ ॥

अजमनिमिच्छाभावात्सबाधा  
म्यन्तरमजम् । अविद्यानिमित्तं  
हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यबोधाम ।  
सा चाविद्यात्मसस्यानुभावेन  
निरुद्धा यतोऽजमत् एवानिद्रम् ।  
अविद्यालक्षणादिमाया निद्रा ।  
स्वापात्प्रभुदाऽद्रव्यस्वरूपेणात्मनात्तः  
अस्वप्नम् । अप्रबाधकृते ह्यस्य  
नामरूपे । प्रबोधाद्य ते रज्जुसर्प  
वद्विनष्टे इति न नाम्नाभिधीयते  
ब्रह्म रूप्यते सा न क्लवित्प्रका  
रेणत्यनामकरूपक च सत् ।  
“यतो वाचो निर्वर्तन्ते” ( वै०  
उ० २।४।१ ) इत्यादिभूतेः ।  
किं च सकृद्विभातं सदैव  
विभातंसदा भारूपमग्रहणान्यथा

जन्मके कारणतया अभाव होनेसे  
ब्रह्म बाधाम्यन्तरकर्त्री और अजन्मा  
है । रज्जुमें सर्पके समान जीवका जन्म  
अविद्याके कारण है—ऐसा हम पहले  
कह चुके हैं; क्योंकि आत्मस्वप्नका  
अनुभव होनेसे उस अविद्याका निरोध  
हो गया है; इसलिये ब्रह्म अजन्मा  
है और इसीसे अनिद्र भी है । यहाँ  
अविद्याका अनादिमाया ही निद्रा है ।  
अग्ने अद्रव्यस्वरूपसे वह स्वप्नमे जग  
बुद्धा है; इसलिये अस्वप्न है । उसका  
नामरूप भी अज्ञानक ही कारण है ।  
ज्ञान होनेपर वे रज्जुमें प्रतीत होने  
वाले सर्पके समान नष्ट हो जाते  
हैं । अतः ब्रह्म किसी नामद्वारा कल्प  
महाँ किया जाना और न किसी  
प्रकार उसका रूप ही बनाया जाना  
है इसलिये वह अनाम और अरूप है ।  
वेदा कि “ब्रह्मसे कभी छोट आती  
है” इत्यादि धृतिमे सिद्ध होता है ।  
यही नहीं, वह अप्रमाण, अन्वया  
रहित तथा अविनाशित्वरूपमे

लीयते सुप्तौ हि यस्मात्सर्वा-  
भिरविद्यादिप्रत्ययभीज्ज्वासनाभि-  
सह तमोरूपमविशेषरूपं बीज-  
भाषमापद्यते तद्विषेकविज्ञानपूर्वक  
निरुद्धं निगृहीतं सन्न लीयते  
तमोबीजभाषं नापद्यते । तस्माद्युक्तः  
प्रचारमेदः सुप्तस्य समाहितस्य  
मनसः ।

यदा प्राज्ञप्राहक्यविद्याकृत  
मलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं  
प्रज्ञैव तत्संबुधमित्यतस्तदेव  
निर्मयं द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्या  
भाषात् । छान्तमभयं ब्रह्म,  
यद्विद्वाभ विमति कुतश्चन ।

तदेव विशेष्यते शक्तिर्ज्ञान-  
मान्मस्वभावाच्चैतन्य तदेव ज्ञान-  
मालोकः प्रकाशो यस्य सद्ब्रह्म  
ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसधनमि-  
त्यर्थः । समन्ततः समन्वात्सर्भता  
व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापक  
मित्यर्थः ॥ ३५ ॥

क्योंकि सुप्तिमें मन अविद्यादि  
सम्पूर्ण प्रतीतियोंकी बीजमूत्र  
घसनात्मके सहित तम स्वभाव  
अविरोधरूप बीजभक्तके प्राप्त हो  
जाता है और उसके विवेक ज्ञान-  
पूर्वक निरुद्ध किया जानेपर छीन नहीं  
होता, अर्थात् अज्ञानरूप बीजभक्तके  
प्राप्त नहीं होता । अतः सुप्त और  
समाहित चित्तका प्रचारमेद ठीक  
ही है ।

जिस समय चित्त प्राज्ञ-माहक्यरूप  
अविद्यासे होनेवाले दोनों प्रकारके  
मूर्च्छेसे रहित हो जाता है उस  
समय वह परम अद्वितीय ब्रह्मरूप  
ही हो जाता है । अतः द्वैतग्रहणरूप  
मयके कारणका अभाव हो जानेसे  
[ उस अस्त्यार्थे ] भी निर्मय होता  
है । ब्रह्म शान्त और अमयपद है,  
जिसे जान देनेपर पुरुष कित्तीसे  
मर्ही करता ।

उसीका विशम्य बतल्य रहे है  
—ज्ञानकर अर्थ ज्ञप्ति अर्थात् आत्म-  
स्वरूप चैतन्य है, वह ज्ञान ही  
जिसका आलोक यानी प्रकाश है  
वह ब्रह्म ज्ञानात्मके अर्थात् विज्ञानैक-  
रसत्वरूप है । समन्ततः—सब ओर  
अर्थात् आकाशके समान निरन्तरत्व-  
से सब ओर व्यापक है ॥ ३५ ॥

## ब्रह्मसत्त्व

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्

सकृद्विभात सर्वज्ञ नोपचारः कथंचन ॥ ३६ ॥

यह ब्रह्म जन्मरहित, [ अज्ञानरूप ] निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नामरूपसे रहित, नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है, उसमें किसी प्रकारका कर्तव्य नहीं है ॥ ३६ ॥

अन्मनिमिच्छाभावात्सषास्त्रा  
 म्यन्तरमवम् । अविद्यानिमित्तं  
 हि अन्म रज्जुसर्पवदित्यषोषाम ।  
 सा चाविद्यास्मसत्यानुषोषेन  
 निरुद्धा यतोऽवमत एवानिद्रम् ।  
 अविद्यालक्षणानादिर्माया निद्रा ।  
 स्वापात्प्रभुद्वोऽद्वयस्वरूपेभात्मनातः  
 अस्वप्नम् । अप्रबोधकृते ह्यस्य  
 नामरूपे । प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्प  
 वद्विनष्टे इति न नाम्नाभिधीयते  
 ब्रह्म रूप्यते वा न क्वचित्प्रकाश-  
 रेणत्यनामकरूपकं च सत् ।  
 “यतो वाचो निवर्तन्ते” ( तै०  
 उ० २।४।१ ) इत्यादिभूतेः ।  
 किं च सकृद्विभातं सदैव  
 विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथा

जन्मके कारणका अभाव होनेसे  
 ब्रह्म बाह्याम्बुत्तरकर्मी और अजन्मा  
 है । रज्जुमें सर्पके समान जीवका अन्म  
 अविद्याके कारण है—ऐसा हम पहले  
 कह चुके हैं, क्योंकि अहमसून्यका  
 अनुभव होनेसे उस अविद्याका निरोध  
 हो गया है, इसलिये ब्रह्म अजन्मा  
 है और इसीसे अनिद्र भी है । यहाँ  
 अविद्यारूप अनादिमाया ही निद्रा है ।  
 अपने अद्वयस्वरूपसे यह स्वप्नसे अलग  
 हुआ है, इसलिये अस्वप्न है । उसके  
 नामरूप भी अज्ञानके ही कारण हैं ।  
 ज्ञान होनेपर वे रज्जुमें प्रतीत होने-  
 वाले सर्पके समान नष्ट हो जाते  
 हैं । अतः ब्रह्म किसी मायद्वारा कल्पन  
 नहीं किया जाता और न किसी  
 प्रकार उसका रूप ही बतलाया जाता  
 है, इसलिये यह अनाम और अरूप है,  
 वैसे कि “जहाँसे वाणी और धाती  
 है” इत्यादि भ्रुतिसे सिद्ध होता है ।  
 यही नहीं, यह अप्राण, अम्यथा-  
 प्राण तथा आविर्भाव-निरोधकसे



ब्रह्माविमायतिरोमावर्जित  
 त्यात् । ब्रह्माब्रह्मे हि राम्यहनी  
 तमभाविद्यालयं सदाप्रभातत्वे  
 कारणम् । तदभावाभित्यर्चतन्य  
 भास्यत्वाद्य युक्त सकृदिमात  
 मिति । अत एव सर्वं च  
 तन्मन्वरूपं चेति सर्वज्ञम् । नेह  
 ब्रह्मण्येवत्रिध उपधारणसुपचारः  
 कृतव्य । यथान्येषामात्मस्वरूप  
 व्यतिरक्तेण समाधानासुपचारः ।  
 नित्यशुद्धबुद्धमुक्तमभावात्सा-  
 ब्रह्मणः कथंचन न कथंचिदपि  
 कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः  
 ॥ ३६ ॥

रहित होने का कारण सदाब्रह्म-  
 सत्ता ही भासनेवाला क्योंकि नित्य-  
 प्रकाशात्मक है । ब्रह्मण और  
 अब्रह्मण ही राशि और दिन है तब  
 अविद्यात्मक अन्धकार ही मनुष्य  
 प्रपञ्चके प्रकाशित न होनेमें कारण  
 है । उसका अभाव होनेमें और  
 नित्यवैतन्यस्वरूप होनेसे ब्रह्मण  
 नित्यप्रकाशात्मक होने का ठीक ही है ।  
 मन सब आर इन्द्रिय होनेसे वह  
 सर्वज्ञ है । इस प्रकारके ब्रह्ममें कोई  
 उपचार यानी कृतव्य नहीं है, जिस  
 प्रकार कि बुराईके आत्मरूपसे  
 भिन्न समाधि जानि कर्तव्य है ।  
 तात्पर्य यह है कि ब्रह्म नित्य-शुद्ध  
 बुद्ध-मुक्तत्वमय है इसलिये अविद्या-  
 का नाश हो जानेपर विशुद्धको  
 कुछ भी कर्तव्य रहना सम्भव नहीं  
 है ॥ ३६ ॥

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये  
 हेतुमाह—

अनामकत्व आदि उपर्युक्त अर्थ-  
 की सिद्धिके लिये कारण मन्नात है—

सर्वाभिलापविगत

सबचिन्तासमुत्थितः ।

सुप्रशान्त सकृज्ज्योति समाधिरचलोऽभय ॥ ३७ ॥

जब सब प्रकारके वाक्याहारसे रहित, सब प्रकारके चिन्तन  
 ( अन्त करणके व्यापार ) से ऊपर अत्यन्त शान्त, नित्यप्रकाश, समाधि  
 सत्त्व, अचल और अभय है ॥ ३७ ॥

अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो  
वाङ्मरण सर्वप्रकारस्याभिधानस्य,  
तस्माद्दिगतः । वागश्रोपलक्षणार्था  
सर्ववाङ्मरणवर्जित इत्येतत् ।

तथा सर्वाचिन्तासमुत्थित ।  
चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता शुद्धि  
स्तस्याः समुत्थिताऽन्त करण  
वर्जित इत्यर्थ "अप्राप्नो ब्रामना  
शुभ्रो ब्रधरात्परतः पर" ( मु०  
उ० २ । १ । २ ) इत्यादिभते ।

यस्मात्सर्वविषयवर्जितोऽत  
सुप्रशान्त , सकृञ्ज्योति सर्वव  
ज्योतिरात्मर्चतन्यस्वरूपण,  
समाधि समाधिनिमित्तप्रज्ञात्  
गम्यत्वात्, समाधीयतऽसिञ्चिति  
वा समाधिः, अचलोऽसिञ्चित्य ,  
अत एवामया विक्रियाभावात् ३७

जिसके द्वारा शब्दोच्चारण किया  
जाता है वह 'अभिधाय' अर्थात्  
'वाङ्' है, जो सब प्रकारके शब्दो  
च्चारणका साधन है, उससे रहित ।  
यहाँ वागिन्द्रिय उपलक्षणक लिये है,  
अत नातर्य यह है कि वह सब  
प्रकारकी वाङ् इन्द्रियोंसे रहित है ।

तथा सब प्रकारकी चिन्तासे  
उत्पन्न हुआ है । जिससे चिन्तन  
किया जाता है वह शुद्धि ही चिन्ता  
है, उससे उत्पन्न हुआ है अर्थात्  
अन्त करणसे रहित है अर्थात् कि  
"प्राणरहित मनोरहित और शुद्ध  
है तथा पर अक्षरमे भी पर है"  
इत्यादि श्रुतियोंमे प्रनामित होना है ।

क्योंकि यह सगूर्ण चिन्त्योंसे रहित  
है इसलिये अत्यन्त शान्त है,  
सकृञ्ज्योति अर्थात् आत्मचैतन्यरूप-  
से सदा ही प्रकाशस्वरूप है, सदाभिके  
परमणस्य होनवादी प्रज्ञासे उपलब्ध  
होनेक कारण सम्यग्नि है, अर्थात्  
इसमे बिना समाहित किया जाना  
है इसलिये इसे समाधि कहत है,  
अचल अर्थात् अविचरती है और  
इसीसे निररपर अमय होनेक कारण  
ही अमय है ॥ ३७ ॥

यसाद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय

क्योंकि ब्रह्म ही 'समाधिररूप',  
अचल और अभय है' ऐसा कहा  
गया है, इसलिये—

इत्युक्तमत —

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।

आत्मसस्य तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥ ३८ ॥

जिस ( ब्रह्मपद ) में किसी प्रकारका चिन्तन नहीं है, उसमें किसी  
तरहका ग्रहण और त्याग भी नहीं है । उस अस्त्वामें आत्मनिष्ठ ज्ञान  
अमरद्विज और समताको प्राप्त हुआ रहता है ॥ ३८ ॥

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहो  
ग्रहणमुपादानम्, नोत्सर्ग उत्सर्जनं  
हानं वा विद्यते । यत्र हि  
विक्रिया तद्विपयस्त्वं वा तत्र  
ज्ञानोपादाने स्यातां न तदूद्यमिह  
ब्रह्मणि संभवति । विकारहेतोर  
न्यस्याभावाभिरवयवस्वाद्य  
अतो न तत्र ज्ञानोपादाने इत्यर्थः ।  
चिन्ता यत्र न विद्यते । सर्व  
प्रकारैव चिन्ता न संभवति  
पत्रामनस्त्वात्कृतवत्तत्र ज्ञानो-  
पादाने इत्यर्थः ।

तहाँ — उस ब्रह्ममें न तो ग्रह-  
ग्रहण यानी उपादान है और न  
उत्सर्ग—उत्सर्जन अर्थात् त्याग ही  
है । जहाँ विकार अथवा विकारकी  
विरयता ( विरक्त होनेकी योग्यता )  
होती है वहाँ ग्रहण और त्याग भी  
रहते हैं किन्तु यहाँ ब्रह्ममें उन  
दोनोंहीकी सम्भावना नहीं है,  
क्योंकि उसमें विकारका हेतुमूल कोई  
अन्य पदार्थ है नहीं और वह सब  
निरक्यत है । इसलिये सार्वपर्य यह है कि  
उसमें ग्रहण और त्याग भी सम्भव  
नहीं है । जहाँ चिन्ता नहीं है अर्थात्  
मनोरहित होनेके कारण जिसमें  
किसी प्रकारकी चिन्ता सम्भव नहीं  
है वहाँ त्याग और ग्रहण कैसे हो  
सकते हैं ?

यदैवात्मसस्यानुबोधो जात-  
स्तदैवात्मसंस्वर्ष विषयामावा-

जिस समय भी आत्मस्वरूपको बोध  
होता है उसी समय आत्मसंस्व

दग्न्युष्णवदात्मन्येष स्थितं  
ज्ञानम्, अजाति जातिवर्जितम्  
समतां गत परं साम्यमापन्नं  
भवति ।

यद्वाच्यौ प्रतिष्ठातमसौ ब्रह्मा-  
न्यर्ह्यर्पण्यमजाति समतां  
गतमितीदं तदुपपत्तितः साह्य  
तद्योक्तमुपसंहियते, अजाति  
समतां गतमिति । एतस्मादात्मस  
त्यालुषोधात्कार्पण्यविषयमन्यत्  
“यो वा एतदधरं गार्ग्यवि  
दित्वासात्त्रलोक्यत्प्रैति स कृपणः”  
( बृ० उ० ३ । ८ । १० ) इति  
श्रुतेः । प्राप्नोतस्सर्वं कृतकृत्यो  
ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥३८॥

अर्थात् विस्फुक्त अमाय होनेके  
कारण अतिक्रि उष्णताके समान  
अप्रमार्गे ही स्थित ज्ञान अजाति—  
जन्मरहित और समताके प्राप्त  
हो जाता है ।

पहले ( इस प्रकरणके दूसरे  
श्लोकमें ) जो प्रतिष्ठा की थी कि  
पृथग्व्ये में समान मायके प्राप्त,  
अब मा अह्यगन्धक कर्गन कर्ह्येण  
उस पूर्वकथनकर ही यहाँ ‘अजाति  
समतां गतम्’ ऐसा कहकर युक्ति  
और शास्त्रकार उपसंहार किया  
गया है । “हे गार्गी ! जो पुरुष इस  
अक्षर ब्रह्मके विना जाने ही इस  
ओफते बजा जाता है वह कृपण  
है” इस श्रुतिके अनुसार कृपणक  
नियम तो इस आत्मसत्यके बोधसे  
मिल ही है । तत्पर्य यह है कि  
इस तत्त्वके प्राप्त कर खनकर तो हर  
कोई कृतकृत्य ब्राह्मण ( ब्रह्मनिष्ठ ) हो  
जाता है ॥ ३८ ॥



अस्पृशयोगकी दुर्गमता

यद्यपीदमित्यं परमार्थतत्त्वम् | यद्यपि यह परमार्थ तत्त्व ऐसा है  
तथापि—

अस्पृशयोगो वै नाम दुर्बुद्धाः सर्वयोगिभिः ।

योगिनो शिष्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ ३९ ॥

[ सब प्रकारके स्पर्शसे रहित ] यह अस्पर्शयोग निश्चय ही योगियोंके लिये कठिनतासे दिखायी देनेवाला है । इस अवस्था में भय देखनेवाले योगीश्रेष्ठ इससे भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

अस्पर्शयोगो नामार्यं सर्वं  
संभारण्यस्पर्शवर्जितत्वाद्दर्श  
योगो नाम वै सार्यते प्रसिद्ध  
मुपनिषत्सु । दु खेन चक्ष्यत इति  
दुर्दर्शं सर्वयोगिमिः वेदान्त  
विदितविज्ञानरहितै सर्वयोगि  
मि । आत्मसत्यानुभवायासलभ्य  
एवेत्यर्थ ।

योगिनो विस्मयति अज्ञात्सर्वं  
भयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिम  
योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति  
अभयेऽस्मि भयदर्शिनो भय-  
निमिष्ठात्मनाशदक्षनशीला  
अविशेषेण इत्यर्थ ॥ ३९ ॥

यह अस्पर्शयोग नामवाक्य है  
अर्थात् सर्वसम्बन्धरूप स्पर्शसे  
रहित होनेके कारण यह उपनिषदोंमें  
स्पर्शयोग नामसे प्रसिद्ध होकर  
स्मरण किया गया है । यह वेदान्त-  
प्रतिपादित विज्ञानसे रहित सभी योगियों-  
के कठिनतासे दिखायी देता है, इसलिये  
उसके लिये दुर्दर्श है । तात्पर्य यह  
है कि यह एकमात्र आत्मसत्यके  
अनुभव और [ श्रवण-मनन एवं  
प्राणायामादि ] व्यासोंके द्वारा ही  
प्राप्त होना योग्य है ।

क्योंकि सम्पूर्ण भयसे रहित  
ज्ञानपर भी इस योगके आत्मनाश-  
रूप माननेके कारण इस अवस्था  
योगमें भय देखनेवाले—भयनाश  
निमित्तमूल आत्मनाश देखनेवाले  
अर्थात् अतिकेही योगीश्रेष्ठ इससे  
भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

अस्य योगियोश्चै ज्ञाति मनोनिग्रहके अधीन है

येषां पुनःप्रसन्नरूपव्यतिरेकेण  
रञ्जुमुपवत्स्वरूपमेव मन  
इन्द्रियादि च न परमार्थतो

त्रिनकी दृष्टिमें प्रसन्नरूपसे  
अतिरिक्त मन और इन्द्रिय आदि  
रञ्जुमें सर्पके समान कल्पित ही

विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं  
 मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः  
 स्वभाषत एव सिद्धा नान्यायत्ता  
 नोपचारः कथचनेत्यवोचाम ।  
 ये त्वचोऽन्ये योगिनो मागंगा  
 हीनमभ्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्म  
 न्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धि पश्यन्ति  
 तेषामात्मसत्त्वानुबोधरहितानाम्—

है—परमार्थ हैं ही नहीं, उन  
 ब्रह्ममूर्त्तोंकी निर्मयता और मोक्ष  
 संबन्धक अक्षय शान्ति तो स्वभाषते  
 ही सिद्ध हैं, किसी अन्यके अधीन  
 नहीं हैं, जैसा कि 'उसके लिये  
 कुछ भी कर्तव्य नहीं है' एसा हम  
 पहले (छठीसर्गमें इमेकर्म) कहा चुके  
 हैं । किन्तु जो इनसे अन्य परमार्थ-  
 पयमें चञ्चलबाले हीन और मध्यम  
 दृष्टिबाले योगी मनको आत्मासे भिन्न  
 आत्माका सम्बन्धी मानते हैं, उन  
 आत्मसत्यके बोधसे रहित—

मनसो निग्रहायत्तमभय सर्वयोगिनाम् ।

दुःस्वक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ ४० ॥

समस्त योगियोंके अभय, दुःस्वक्षय, प्रबोध और अक्षय शान्ति  
 मनके निग्रहके ही अधीन हैं ॥ ४० ॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं  
 सर्वेषां योगिनाम् । किं च  
 दुःस्वक्षयाऽपि, न चात्मसंबन्धिनि  
 मनसि प्रचलितं दुःस्वक्षयोऽस्ति  
 भविष्येकिनाम् । किं चात्म  
 प्रबोधोऽपि मनानिग्रहायत्त एव ।  
 तथाऽप्यपि माक्षाख्या शान्तिः  
 तेषां मनानिग्रहायत्तैव ॥ ४० ॥

समस्त योगियोंका अभय मनके  
 निग्रहके अधीन है । यही नहीं,  
 दुःस्वक्षय भी [ मनोनिग्रहके ही  
 अधीन है ], क्योंकि आत्मामें  
 सम्बन्ध रखनेवाले मनके चटायमान  
 रहते हुए अविशेषकी पुरुषोंका दुःस्व-  
 क्षय नहीं हो सकता । इसके सिवा  
 उनका आत्मज्ञान भी मनके निग्रहके  
 ही अधीन है तथा मोक्षताम्नी उनकी  
 अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रहके ही  
 अधीन है ॥ ४० ॥

मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकयिन्दुना ।

मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदत ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार [ उद्विगता छोबफर ] कुशाके अग्रभागसे एक-एक  
बूँदद्वारा समुद्रको उठीचा जा सकता है उसी प्रकार सब प्रकारकी  
स्मिन्नताका त्याग कर देनेपर मनका निग्रह हो सकता है ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधे

कुशाग्रेणैकयिन्दुना उत्सेचनेन

श्लोपणम्वषसायबद्व्यषसायवसा

मनवसन्नान्त करणानामनिर्बेदा

दपरिखेदतो भवतीत्यर्थः ॥४१॥

कुशाक अग्रभागेसे एक-एक

बूँदके द्वारा समुद्रके उत्सेचन

वर्षात् सुखानेके प्रफनके समान

अस्मिन्नचित्त और उद्यमशील

रहनेवाले उन योगियोंके मनका

निग्रह भी छेदशून्य रहनेसे ही होता

है—यह इत्यत्र तात्पर्य है ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहके विषय

किमपरिस्मिन्नम्वषसायमात्र

मेव मनोनिग्रह उपायः ! न,

इत्युच्यते ।

तो क्या स्मिन्नचित्त उद्योग ही

मनोनिग्रहका उपाय है ! इत्यत्र

कहते हैं—‘नहीं’

उपायेन निगृहीयाद्विधिप्लं कामभोगयो ।

सुप्रसन्न लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ ४२ ॥

काम्यक्रिय और भोगोंमें विहित हुए चित्तका उपायपूर्वक निग्रह  
करे तथा छयाकस्वामे अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त हुए चित्तका भी संयम  
करे, क्योंकि जैसा [ वनर्षकरक ] काम है वैसा ही लय भी है ॥ ४२ ॥

अपरिस्मिन्नम्वषसायमान्सन्

धस्यमाणेनोपायेन कामभोग

विषयेषु विधिप्लं मनो निगृही-

अपक उद्योगशील होकर जागे

कहे जायेवाले उपायसे काम और

भोगाद्य विषयोंमें विहित हुए चित्तका

याभिरुन्म्यादात्मन्येवेत्यर्थः ।

किं च लीयतेऽसिभिति सुप्रसो

लयस्तस्मिँल्लये च सुप्रसन्नम्

आपासबर्चितम् अपि इत्येतत्,

निगूढीयादित्यनुवर्तते ।

सुप्रसन्नं चेत्कस्मादिगूढत

इत्युच्यते । यस्माद्यथा कामो

जन्यहेतुस्तथा लयोऽपि । अतः

कामविषयस्य मनसो निग्रह

बल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः ४२

निग्रह करे, अर्थात् उत्सुक्य आरम्भमें ही निरोध करे । तद्य, जिस अन्तर्धाममें चित्त स्थित हो जाता है उस सुप्रसन्न-क्य नाम छय है, उस लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्न अर्थात् आयासरहित स्थितिको प्राप्त हुए चित्तक्य भी निग्रह करे । यहाँ 'निगूढीयात्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है ।

यदि उस अन्तर्धाममें चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है तो उत्सुक्य निग्रह क्यों करना चाहिये ! इसका कहा जाता है—क्योंकि जिस प्रकार काम अनयका कारण है उसी प्रकार छय भी है इसलिये तात्पर्य यह है कि कामविषयक मनके निग्रहके समान उत्सुक्य छयसे भी निरोध करना चाहिये ॥ ४२ ॥

कः म उपायः ? इत्युच्यते—

कह उपाय क्या है ? हम विषय-में कहा जाता है—

दु ख सर्वमनुरमृत्य कामभोगाच्चिदर्थयेत् ।

अजं सर्वमनुरमृत्य जात नैव तु पश्यति ॥ ४३ ॥

सम्यग् इति दु खत्वा हे—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्तको कामवर्जित भोगमें ही रहने । इस प्रकार निरन्तर सब वस्तुओंको अन्तर्धाम प्रत्यक्ष स्मरण करना हुआ तब कोई बात पदार्थ नहीं देखता ॥ ४३ ॥

सब इतमविषयाधिभूम्भित । अविषयमें प्रवृत्त हानगण भरा दु खमवस्थानुम्भून्य कामभागा । इति दु खत्वा हे हे—ऐसा



एकामनिमित्तो भोग इच्छाधिपय  
 स्तस्मादिप्रसृतं मनो निवर्तये  
 द्वैराम्यभाषनयेत्यर्थः । अस्य ब्रह्म  
 सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतो-  
 ऽनुस्यूत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव  
 तु पश्यति, अभावात् ॥ ४३ ॥

स्मरण करता हुआ कामभोगसे-  
 कामनानिमित्तक भोगसे व्यर्थात्  
 इच्छान्नित विद्यसे उसमें कैब हुए  
 चित्तको वैराम्यभाषनाद्वारा निवृत्त  
 करे—यह इच्छा तत्पय है । फिर  
 यह सब अजन्मा ब्रह्म ही है  
 ऐसा शास्त्र और आचार्यके उपदेश-  
 नुसार निरन्तर स्मरण करता हुआ  
 उससे विपरीत द्वैतजातको—उसका  
 अभाव हो जानेके कारण—नहीं  
 देखता ॥ ४३ ॥

उभये संबोधयेच्छिष्य विक्षिप्त शमयेत्पुन ।

सकषाय क्रिजानीयात्समप्राप्त न चालयेत् ॥ ४४ ॥

चित्त [ सुषुप्तिमें ] स्मृत होने लगे तो उसे आत्मविवेकमें नियुक्त  
 करे, यदि विक्षिप्त हो जाय तो उसे पुन शान्त करे और [ यदि इन  
 दोनोंके बीचकी अवस्थामें रहे तो उसे ] सकषय—रागयुक्त समझे ।  
 तथा सम्पादयस्माको प्राप्त हुए चित्तको ब्रह्म न करे ॥ ४४ ॥

एवमनेन ज्ञानाम्यासवैराम्य  
 द्वयोपायेन उभये सुषुप्ते लीनं  
 संबोधयेन्मन आत्मविवेक-  
 दर्शनेन योजयेत् । चित्तं मन  
 इत्यनयोन्तरम् । विक्षिप्तं च  
 कामभोगेषु शमयेत्पुनः । एवं  
 पुनः पुनरभ्यस्यतो लयावस्थां बोधितं

इस प्रकार ज्ञानाम्यास और  
 वैराम्य—इन दो उपायोंसे, उभय अवस्था  
 सुषुप्तिमें स्मृत हुए चित्तको सम्बोधित  
 व्यर्थात् आत्मविवेकदर्शनमें नियुक्त  
 करे । चित्त और मन—ये कोई भिन्न  
 पदार्थ नहीं हैं । तथा कामना और  
 भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तको पुन  
 शान्त करे । इस प्रकार बारंबार  
 अम्यासद्वारा लयावस्थां सम्बोधित

विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि  
 साम्बापन्नमन्तरालावस्थं सकृत्पार्य  
 सरागं बीजसंयुक्त मन इति  
 विजानीयात् । ततोऽपि यत्नत  
 साम्बापादयेत् । यदा तु  
 समप्राप्तं भवति समप्राप्त्यभिमुखी  
 भवतीत्यर्थः । ततस्तन्न विचाल-  
 येद्विषयाभिमुखं न कुर्यादि-  
 त्थर्थः ॥ ४४ ॥

और विषयोंसे निवृत्त किया हुआ  
 विषय जब अन्तरालावस्थामें स्थित  
 होकर सम्प्रको भी प्राप्त न हो  
 तो यह समझे कि इस समय  
 मन सकृत्पार्य-संयुक्त अर्थात् बीज-  
 बन्धासंयुक्त है । उस अवस्थासे भी  
 उसे यत्नपूर्वक साम्बापत्सामें स्थित  
 करे । किन्तु जिस समय वह  
 समताको प्राप्त हो अर्थात् साम्बा-  
 बन्धाप्राप्तिके अभिमुख हो उस समय  
 उस अवस्थामें उसे विचालित न करे,  
 अर्थात् विषयाभिमुख न करे ॥४४॥

नास्वादयेत्सुख तत्र निःसङ्ग प्रज्ञया भवेत् ।

निश्चल निश्चरश्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नत ॥ ४५ ॥

उस साम्बापत्सामें [ प्राप्त होनेवाले ] सुखका आस्वादन न करे,  
 बल्कि विवेकशील बुद्धिके द्वारा उससे निःसङ्ग रहे । फिर यदि चित्त बाहर  
 निकलने लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकग्र करे ॥ ४५ ॥

समाधित्ततो यागिनो

सन्नवित्री इच्छनाले योगिनो

यत्सुख आयते तन्नास्वादयेत्,

जो सुख प्राप्त होता है उसका

तत्र न रन्पेतेत्यर्थः । कथं तर्हि ?

आस्वादन न करे अर्थात् उसमें राग

निःसङ्गो निःस्पृह प्रज्ञया विवेक

न करे । तो फिर क्यों रहे ? निः

पुदपा यदुपलम्बते सुख तद

सङ्ग अर्थात् निःस्पृह होकर प्रज्ञा—

विषापरिकल्पितं मूर्खवेति

विवेकशील बुद्धिसे एसी धारणा करे

विभाषयेत् । ततोऽपि मुन

कि यह जो कुछ सुख अनुभव हो

रागान्निगृहीयादित्यर्थः ।

रहा है वह अधिपारिकल्पित और

निष्पा ही है । तदनन्तर यह कि उस  
 सुखका रागसे भी विचरना निवृत्त  
 करे ।

यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं  
निश्चलम्बभाव सन्निधरद्दहिर्नि  
गच्छन्प्रवति चित्तं तदस्ततो  
नियम्योक्तापायेनात्म-वेवैकी  
कुर्यात्प्रयत्नतः । चित्स्वरूपसद्भा  
माप्रमेवापादयेदित्यर्थ ॥ ४५ ॥

जिस समय सुखक रागसे निवृत्त  
होकर निश्चलस्वभाव हुआ चित्त फिर  
बाहर निकलने लगे तब उसे उपर्युक्त  
उपायसे बर्बाद मी रावकर प्रकृत-  
पूर्वक आत्मामें एकत्र करे । तत्पर्य  
यह है कि उसे चित् स्वरूप सद्भा  
मात्र ही सम्पादित करे ॥ ४५ ॥

मन कय बहुरूप होता है ।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।

अनिद्गनमनाभास निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ४६ ॥

जिस समय चित्त सुप्तमें लीन हो और फिर विक्षिप्त भी न हो  
तथा निश्चल और विन्याम्यससे रहित हो जाय उस समय यह ब्रह्म ही  
हो जाता है ॥ ४६ ॥

यथाक्तापायन निवृत्तं  
चित्तं यदा सुप्ते न लीयते न  
च पुनर्विषयसु विक्षिप्यते,  
अनिद्गनमनाभासं निवातप्रदीप  
कल्पम्, अनाभासं न क्व-  
चिन्मूलितं विषयभावेनाप  
माप्रत इति, यदैवतक्षणं चित्तं  
तदा निष्पन्नं ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपण  
निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

उपर्युक्त उपायसे निवृत्त किया  
हुआ चित्त जिस समय सुप्तमें  
लीन नहीं होता और न फिर  
विषयमें ही विक्षिप्त होता है तथा  
पायुदाय्य स्नानमें रत्न हुए दीपके  
समान निश्चल और अनाम्यस अर्थात्  
जा विन्ती भी कल्पित विषयभावे  
प्रकल्पित नहीं होता—ऐसा जिस  
समय यह चित्त हो जाता है उस  
समय यह ब्रह्म ही हो जाता है,  
अर्थात् उस आत्मावे चित्त ब्रह्म-  
रूपमें निकल हा जाता है ॥ ४६ ॥

स्वस्थ शान्त सनिर्वाणमकथ्य सुखमुत्तमम् ।

अजमजेन जेयेन सर्वज्ञ परिचक्षते ॥ ४७ ॥

[उस अक्षय्यामें जो आनन्द अनुभव होता है उसे प्रकृत छाग ]  
स्वस्थ शान्त, निर्वाणयुक्त, अक्षयनीय, निर्निर्वाणयुक्तवत्, अजम्मा,  
अजम्मा द्वेष ( मद्र ) से अभिन्न और सर्वज्ञ वतप्रते हैं ॥ ४७ ॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्म  
सत्यानुबाधलक्षण स्वर्ग्यं स्वात्मनि  
स्थितम्, शान्तं सर्वनिर्धोषप्रम  
रूपम्, सनिर्वाणं निर्वाणनिर्वाणं  
कैवल्य सह निर्वाणन बतव,  
तथाकथ्यं न शक्यत कथयितुम्,  
अत्यन्तामाधारगविषयत्वात् ;  
सुखमुत्तम निरतिगर्षं हि  
तथागिप्रत्यक्षमय । न जातमि-  
त्यर्थं यथा विषयविषयम् ।  
अजनादुत्पन्नेन ध्येनाप्यतिरिक्तं  
सत्स्वन सषड्रूपा सचर्तं प्रार्तव  
गुणं परिचक्षत कथयति  
मद्रविद् ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त आत्मयानुभाषणप  
परमार्थ-सुख 'स्वस्थम्'-आन आत्मा  
में ही स्थित, 'शान्तम्'-मद्रप्रयत्नसे  
अनर्थकी निवृत्तिरूप, 'सनिर्वाणम् -  
निर्वाण-निर्वाण अर्थात् ईश्वरकी  
वत् है उस निर्वाणक सृष्टित,  
तथा 'अक्षयम्'-श्री महा म जा मने,  
क्योंकि उमका विषय अयत  
असाधारण है 'सुखमुत्तमम्'-यगिर्षी  
का ही प्रत्यक्ष होनाका हानिक कारण  
निरतिगर्ष युक्त है । तथा 'अजम्'-जो  
उत्पन्न न हा, जिस प्रकार कि  
विषयमन्त्र ही सुख हुआ फलता है,  
और अज यनी उत्पन्न न हानाका  
इससे अभिन्न होना कारण अत  
मर्तव्य-से मने मद्र ही वर गुण  
ह-मा मद्र-ग [ उमक विषय ]  
वत् है ॥ ४७ ॥

परमात्मत्व का है ।

मराप्यवं मनानिद्रादिर्मृ | मृग्य और मद्र न मद्रन  
वडादादिमृगिकरानना पाना | ये मन-नि- मद्रा मद्रि म-

परमार्थस्वरूपप्रतिपक्ष्युपायत्वेन न उपासना परमार्थस्वरूपकी प्राक्तिके  
उपायरूपसे ही कहे गये हैं; ये  
परमार्थसत्य नहीं हैं। परमार्थसत्य  
परमार्थसत्येति । परमार्थसत्यं तु तो यही है कि—

न कश्चिज्जायते जीवः सभवोऽस्य न विद्यते ।

एतच्चदुत्तम सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। जिस अज्ञानमा ब्रह्ममें किन्हींकी उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम सत्य है ॥ ४८ ॥

न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता  
भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि  
प्रकारेण । अतः स्वभावतो-  
ऽब्रह्मास्यैकस्यात्मनः सभवः  
कारणं न विद्यत नास्ति ।  
यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न  
कश्चिज्जायते जीव इत्येतत् । पूर्वं  
पूपायत्यनोक्तानां सत्यानामेत  
दुत्तमं सत्यं यस्मिन्मत्यस्वरूप  
प्रक्षण्यणुमात्रमपि किञ्चिन्न  
जायत इति ॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता—  
धर्मात् किन्ती भी प्रकारसे कर्ता-  
भोक्ताकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः  
स्वभावसे ही इस एक अज्ञानमा आत्मा-  
का कोई सम्भव—कारण नहीं है। और  
क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है  
इराश्रित्ये किन्ती जीवकी उत्पत्ति भी  
नहीं होती—यही इसका तात्पर्य है।  
पहले उपायरूपसे बतलाये हुए  
सत्यमें यही उत्तम सत्य है, जिस  
सत्यस्वरूप ब्रह्ममें कोई भी ब्रह्म  
अनुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती ॥४८॥

इति श्रीगौरीनिम्बगारभूषणशिवस्य परमहंससिद्धिब्रह्मस्य  
श्रीशारङ्गस्य श्रीगौरीपादीयागमशास्त्रमाध्याह्निकस्य

तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

ॐ वासुदेवाय नमः

# अज्ञातशक्तिप्रकरण

ओङ्कारनिर्णयद्वारेणागत

प्रत्येक  
प्रत्येक  
प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य  
वाद्यविषयमेवैतद्व्या  
सिद्धस्य पुनरद्वैते

साक्षयुक्तिभ्यां साधान्निर्धारित

स्यैतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः

कृतोऽन्ते । तस्यैतत्सागमार्थस्या-

द्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो

वैनाशिकस्य तेषां चान्योन्य

विरोधाद्वागद्वयादिक्लेशास्पदं

दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्व

प्रपितम् । क्लेशानास्पदत्वा

त्सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं

सूयते । तद्विह विस्तरेणान्योन्य

विरुद्धतयासम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य

ओङ्कारके निर्णयद्वारा आत्म-

प्रकरणमें प्रतिज्ञा किये अद्वैतत्व—

जिसे कि [ वैतन्त्र्यप्रकरणमें ] वाद्य

त्रियमेदके मिथ्यात्वद्वारा सिद्ध किया

है और फिर अद्वैतप्रकरणमें शास्त्र

और युक्तियोंसे साक्षात् निश्चय

किया है, [ निम्नलिखित प्रकरणके ]

अन्तमें अतदुत्तमं सत्यम् ऐसा

कहकर उपसंहार किया गया । कद

के तात्पर्यमूल इस अद्वैतदर्शनके

विरोधी वा द्वैतवादी और वैनाशिक

( बौद्ध आदि ) हैं उनके दर्शन परस्पर

विरोधी होनेके कारण राग-द्वेषादि

क्लेशोंके आश्रय हैं, अत उनका

मिथ्यादर्शनत्व सूचित होता

है । और रागद्वेषादि क्लेशोंका

आश्रय न होनेके कारण अद्वैतदर्शन

ही सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार उत्कृष्ट

सूक्ति की जाती है । अब यहाँ,

परस्पर विरोधी होनेके कारण

विस्तारपूर्वक उन ( द्वैतवादी आदि

दार्शनिकोंके दर्शन ) का मिथ्या-

दर्शनत्व प्रदर्शित कर उनके प्रति-

पेक्षद्वारा आधीनत्वापसे अद्वैतदर्शन-

● अनुमान ही प्रकृत्य है—अन्वयी और व्यतिरेकी । अन्वयी अनुमानमें एक कसूकी लतासे बूखी कसूकी लता सिद्ध की जाती है तथा व्यतिरेकीमें एक कसूके अभावे बूखी कसूका अभाव सिद्ध किया जाता है । इस व्यतिरेकी अनुमानका ही बूख नाम प्रतीत अनुमान भी है ।

उत्प्रतिपद्यनादंगद्वयनसिद्धिरुप  
संस्तव्यार्थीतयापनम्यदात  
प्रातिगम्यत ।

सप्राद्वैमर्गनमस्प्रणवपदुः  
अद्वैतम्यमपणव नमस्कारार्थी  
उपमापद्व्याका । आशायपूजा  
शभिप्रताभमिद्वयर्थेष्वत आशा  
रम्भ ।

पुं सिद्धिपत्र उगमहार करना है—इसी  
रूपे अंगतशास्त्रिकरणक आत्म  
प्रिया जाण है ।

उसमें अद्वैतम्यमपणव  
कार्यक अद्वैतम्यसे ही नमस्कार  
करना है रूपे यह पहला श्लोक है,  
क्योंकि शास्त्रके आत्ममें आशायकी  
पुत्रा अतिप्रति अर्थकी सिद्धिके रूपे  
है ही है ।

### आशायन-नामस्कार

ज्ञानेनावप्रशक्त्येन धर्मान्यो गगनोपमान् ।

ऐयागिनेन सद्युद्धरत वन्दे द्विपदां धरम् ॥ १ ॥

त्रिगुण श्रेय ( अस्म ) से अभिन्न आशयमद्वय ज्ञानसे आवश-  
यक श्रेय ( तीर्थ ) को जाना है उस पुरुषोत्तमका नमस्कार करता  
है ॥ १ ॥

आशयश्रेयसमाप्तमाशय  
कल्पमाशयतुल्यमेतत् । तना  
काशयतयन ज्ञानेन, किम् ?  
धर्मात्मन, किमिच्छिष्यन्मा  
नायमा गगनमुपमा वेदां न गग  
नागमानानाधना धर्मान् ।

जो आशयकी अपेक्षा कुछ  
अगम्य हो उगे आवशकत्व  
अतत् आवशकत्व कहते हैं ।  
उग आवशकत्व प्राप्तसे—निगे ?  
अतत् धर्मोत्तरे । किम प्रशय  
धर्मोत्तरे ? अतीतम धर्मोत्तरे—गगन  
( अगम्य ) किमिच्छिष्यन्मा हा  
उत्तरे अतीतम कहते हैं—इसके आत्म

• अगम्यत्व का अर्थ है  
जो नहीं है । इसका अर्थ है की म  
→ किमिच्छिष्यन्मा है ।

ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—

ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नमग्न्युष्ण

वत्सबिदप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन

ज्ञेयामिन्नेन ज्ञानेनाकाशकल्पेन

ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गग-

नोपमान्धर्मन्य संशुद्धःसशुद्धवा-

निति, अयमेवेश्वरो यो नारायणा-

स्यस्तं वन्देऽभिवाद्ये द्विपदां वर

द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं

प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः ।

उपदेष्टृनमस्कारमुखेन ज्ञान

ज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्व

दर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपाद

भिपितं प्रतिपद्यप्रतिषेधद्वारेण

प्रतिज्ञातं भवति ॥ १ ॥

के धर्मोंको । ज्ञानका ही फिर विशेषण देते हैं—अग्निसे उष्णता और सूर्यसे प्रकाशके समान जो ज्ञान ज्ञेय धर्मों अर्थात् आत्माओंसे अभिन्न है उस ज्ञेयामिन्न अर्थात् ज्ञेय आत्माके स्वरूपसे अभ्यतिरिक्त आकाशसत्ता ज्ञानसे जिसने आकाशोपम धर्मोंको सदा ही सम्यक् प्रकार जाना है—ऐसा जो नारायण-सङ्ग \* ईश्वर ही उस द्विपदां वर—दो पदोंसे उपलक्षित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यानी प्रधान पुरुषोत्तमकी वन्दना—अभिवादन करता है ।

उपदेष्टाको नमस्कार करनेसे यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस प्रकरणमें विद्वत् पक्षके प्रतिषेधद्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके भेदसे रहित परमार्थदर्शनका प्रतिपादन करना अभीष्ट है ॥ १ ॥

अद्वैतदर्शनयोगस्य

अधुना अद्वैतदर्शनयोगस्य

अब अद्वैतदर्शनयोगको, उसकी स्तुतिके लिये, नमस्कार किया जाता है—

नमस्कारस्तस्सुतये—

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।

अधिवादोऽकिञ्चन्य देशितस्त नमाम्यहम् ॥ २ ॥

\* यहाँ अद्वैतग्रन्थोंके आदि आचार्य बरिब्रह्मभाषीभर उपास्यगण्य भीमरुद्रकी वन्दना की गयी है ।



[ शाबोमि ] जिस सम्पूर्ण प्राणियोंके छिये सुखकर, हितकारी, निर्विवाद और अविरोधी अस्पर्शयोगकर उपदेश किया गया है, उसे मैं मन्तकर कहता हूँ ॥ २ ॥

स्पर्शन स्पर्शः सम्बन्धो न  
विद्यते यस्य योगस्य केन  
चित्कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो  
ब्रह्मस्वभाव एव, वे नामेति  
ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येषं  
प्रसिद्ध इत्यर्थः । स च सर्व  
सत्त्वसुखः । भवति कश्चिदस्यन्त  
सुखसाधनपिच्छिद्योऽपि दुःस्वरूपः  
यथा तपः । अयं तु न तथा ।  
किं तर्हि सवसत्त्वानां सुखः ।

तत्रेह भवति कश्चिद्विषयोप  
मागः सुखो न हितः अथ तु  
सुखो हितश्च नित्यमप्रचलित  
समापत्त्वात् । किं चाविवादा  
विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रति  
पक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते  
सोऽविवादः । कस्मात् ? यतो  
अविवादात् । न ईदृशी गामो

जिस योगकर किसीसे कभी  
स्पर्श यानी सम्बन्ध नहीं है उसे  
'अस्पर्शयोग' कहते हैं, यह ब्रह्म-  
स्वभाव ही है । (वे) नामा इन  
पक्षोंकर यह तात्पर्य है कि वह  
ब्रह्मवेत्ताओंका अस्पर्शयोग इस  
नामसे प्रसिद्ध है और वह समस्त  
प्राणियोंके छिये सुखकर होता है ।  
कोई विषय तो व्यपन्त सुखसाधन  
विशिष्ट होनेपर भी दुःस्वरूप होता  
है, जैसा कि तप । किन्तु यह ऐसा  
नहीं है । तो फिर कैसा है ? यह  
सभी प्राणियोंके छिये सुखकारक है ।  
इसी प्रकार इस अर्थमें कोई-कोई

विस्मयामयी सुखदायक तो होती  
है किन्तु हितकर नहीं होती ।  
किन्तु यह तो सर्वदा अविवादा-  
स्वभाव होनेके कारण सुखदायक  
भी है और हितकर भी । यही नहीं,  
यह अविवाद भी है । जिसमें पक्ष-  
प्रतिपक्ष स्वीकार करके किन्तु  
कल्पनरूप विवाद नहीं होता उसे  
अविवाद कहते हैं । ऐसा यह क्यों  
है ? क्योंकि यह सबसे अविवादा है ।  
ऐसे जिस योगकर शास्त्रने उपदेश

देवितः उपदिष्टः शास्त्रेण च | किया है, उसे मैं नमस्कार यानी  
नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थ ॥ २ ॥ | प्रणम करता हूँ ॥ २ ॥

द्वैतवादिभ्योऽपि परस्परिक विरोध

कथं द्वैतिनः परस्पर | द्वैतवादिभ्योऽपि परस्पर कित्त प्रकार  
विरुध्यन्ते ? इत्युच्यते— | विरोध है : सो मतजाया जाता है—

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिन केचिदेव हि ।

अभूतस्यापरे धीरा विवदन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

उगमेंसे कोई-कोई बानी तो सब पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं और  
कोई दूसरे बुद्धिशास्त्री परस्पर विवाद करते हुए अमृत्युगर्भकी उत्पत्ति  
स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनो  
जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः  
केचिदपि हि सांख्या न सर्व  
एव द्वैतिनः । यस्मादभूतस्या  
विद्यमानस्यापरे वैशेषिका  
नैयायिकाश्च धीरा धीमताः  
प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थो विच  
दन्तो विरुद्ध वदन्तो अन्यान्य  
मिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्राय ॥३॥

कोई-कोई बानी—केवल सांख्य-  
मतावलम्बी, सम्पूर्ण द्वैतवादी नहीं—  
भूत यानी विद्यमान वस्तुकी जाति-  
उत्पत्ति मानते हैं और क्योंकि  
दूसरे धीर—बुद्धिमान् यानी प्राज्ञा-  
भिमानि वैशेषिक और नैयायिक-  
योग अभूत अर्थात् अविद्यमान वस्तु  
का जन्म स्वीकार करते हैं, इसलिये  
परस्पर विवाद यानी मिरद मागण  
करते हुए वे एक-दूसरेको जीतनकी  
इच्छा करते रहते हैं—यह इसपर  
त्याग्य है ॥ ३ ॥

तैरव विरुद्धवदनेनान्योन्य  
पक्षप्रतिषेधं बुद्धिः किं ख्यापितं  
भवत्युच्यते—

परस्पर विवाद करके एक-दूसरे  
के पक्षका रण्डन करनेका उन  
वादिभ्योऽपि कित्त सिद्धान्तप्रकार  
किया जाय है सो बतलात है—

मृत न जायते किञ्चिद्भूत नैव जायते ।

त्रिवदन्तोऽद्वया द्वेषमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥ ४ ॥

[ किन्हींका मत है— ] 'कोई सदस्तु उत्पन्न नहीं होती' और

[ कोई कहते हैं— ] 'असदस्तुका जन्म नहीं होता'—इस प्रकार परस्पर विवाद करनेवाले ये अद्वैतवादी\* अजाति ( अजातना ) को ही प्रकाशित करते हैं ॥ ४ ॥

मृतं विद्यमानं वस्तु न जायते  
किञ्चिद्विद्यमानत्वात्वात्मवदित्येषं  
वदन्तसद्वादी सांख्यपथं प्रति  
पेधति सञ्जन्म । तथा मृतमविद्य  
मानमविद्यमानत्वान्नैव जायते  
द्वेषविपाणवदित्येषं वदन्तां  
स्योऽप्यसद्वादिपथमसञ्जन्म प्रति  
पेधति । विवदन्तो विद्वद्दं वदन्तो  
ऽद्वया अद्वैतिनो ब्रूते अन्योन्यस्य  
पथौ सदसतोर्ब्र मनी प्रतिपेधन्तो-  
ऽजातिमनुस्पष्टिमवात्स्म्यापयन्ति  
प्रकाशयन्ति ते ॥ ४ ॥

कोई भी मृत अर्थात् विद्यमान  
वस्तु विद्यमान होनेके कारण ही  
उत्पन्न नहीं होती जैसे कि आप्ता—  
इस प्रकार ब्रह्मकार असद्वादी, सांख्य-  
के पक्ष सद्वादका खण्डन करता है ।  
तथा सांख्य भी 'अमृत—अविद्यमान  
वस्तु अविद्यमान होनेके कारण ही  
पाराशरहके समान उत्पन्न नहीं हो  
सकती'—ऐसा ब्रह्मकार असद्वादीके  
पक्षमें अमृतकी उत्पत्तिकर प्रतिपक्ष  
करता है । इस प्रकार परस्पर विवाद  
यानी विरुद्ध भ्रमण करनेवाले ये  
अद्वैतवादी—क्योंकि वस्तुतः ये अद्वैत  
वादी ही हैं—एक-दूसरेके पक्ष  
सञ्जन्म और असञ्जन्मका खण्डन  
करते हुए अर्थात् अजाति—अनुत्पत्ति-  
को ही प्रकाशित करते हैं ॥ ४ ॥

द्वैतवाचिबोद्धारा प्रसिद्ध अजातिश्च अनुपोदम

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।

विवदामो न तैः सार्धमविवाद निषोद्यत ॥ ५ ॥

\* यहाँ द्वैतवादीको ही अर्थमें 'अद्वैतवादी' कहा है ।

उनके द्वारा प्रकशित की हुई अजातिका हम भी अनुमोदन करते हैं। हम उनसे विवाद नहीं करते अतः तुम उस निर्विवाद [ परमार्थ दर्शन ] को अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तैरेष रूपाप्यमानामजातिमेष  
मस्त्वित्यनुमोदामह केवलं न  
तै सार्धं विवदाम पक्षप्रतिपक्ष  
ग्रहणेन; यथा सेऽन्योन्यमित्य  
भिप्राय । अतस्तमविवादं विवाद  
रहितं परमार्थदर्शनमनुष्ठातमसा-  
भिर्निर्बोधत हे शिष्याः ॥ ५ ॥

उनके द्वारा इस प्रकार प्रकशित की गयी अजातिका हम ऐसा ही हो' इस प्रकार केवल अनुमोदन करते हैं। तत्पर्य यह है कि पक्ष प्रतिपक्ष लेकर उनके साथ विवाद नहीं करते, जैसा कि वे आपसमें किया करते हैं। अतः हे शिष्याः! हमारे द्वारा उपदेश किये हुए उस अविश्व-विश्वदरहित परमाय दर्शन को तुम अच्छी तरह समझ लो ॥५॥

अजातस्यैव घर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिन ।

अजातोऽमृतो घर्मो मर्त्यतां कथमेव्यति ॥ ६ ॥

ये बानीयोग अजात वस्तुका ही जन्म होना स्वीकार करते हैं। किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजात और अमृत है वह मरणशीलताका कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ ६ ॥

सदसदादिन सर्वेऽपीति

पुरस्तात्कृतमाप्यइलाकः ॥ ६ ॥

यहाँ [ अश्वत्थिन पदसे ] सभी सदानी और असदादी अभिप्रात हैं। इस श्लोकका भाष्य पक्ष\* किया जा चुका है ॥ ६ ॥

स्वभावविर्यय अज्ञानम् इ

न भवत्यमृत मर्त्यं न मर्त्यममृत तथा ।

प्रकृतेरन्यथाभावा न कथञ्चिद्भविष्यति ॥ ७ ॥

मरणरहित वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील मरणहीन नहीं हो सकती, क्योंकि किसीके स्वभावका विषय किसी प्रकार होनेवाला नहीं है ॥ ७ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।

कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्यास्यति निश्चलः ॥ ८ ॥

जिसके धर्ममें समावेश ही मरणहीन धर्म मरणशीलताको प्राप्त हो जाता है, उसका सिद्धान्तानुसार कृतक ( जन्म ) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल ( निरन्तर ) कैसे रह सकेगा ? ॥ ८ ॥

उच्चार्यानां श्लोकानामिहोप-  
न्यासः परवादिपञ्चाशामन्योन्य  
विरोधस्यापितानुत्पत्त्यनुमोदन-  
प्रदर्शनार्थः ॥ ७-८ ॥

त्रिनका वर्ष पहले कहा जा चुका है ऐसे उपर्युक्त [ तीन ] श्लोकोंका उल्लेख यहाँ विपक्षी यदियेंकि पक्षोंके पारस्परिक विरोधसे प्रकाशित अनातिक्रम अनुमोदन प्रदर्शित करनेके लिये किया गया है ॥ ७-८ ॥

यसाह्यौकिष्यपि प्रकृतिर्न  
विपर्येति, असावित्याह—

क्योंकि औक्तिक प्रकृतिकर भी विपर्यय नहीं होता [ फिर पारस्परिकिकर का तो कैसे होगा ? ] किन्तु वह प्रकृति है क्या ? इसपर कहते हैं—

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।

प्रकृति सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥ ९ ॥

जो उत्तम सिद्धिद्वारा प्राप्त, स्वाभावसिद्धा, सहजा और अकृत है तथा कभी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती वही प्रकृति है—  
एसा जानना चाहिये ॥ ९ ॥

सम्यक्सिद्धिः ससिद्धिस्तत्र । सम्यक् सिद्धिकर नाम संसिद्धि  
मया मामिद्धिकी यथा योगिनां । है; तन्मे होनेवालीय प्रामिद्धिकी

सिद्धानाम् अग्निमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृति । सा मृतभविष्यत्काल-  
योरपि योगिनां न विपर्येति  
तथैव सा । तथा स्वाभाविकी  
द्रव्यस्वभावत एव यथान्या  
दीनाम् उष्णप्रकाशादिलक्षणा,  
सापि न कालान्तरे व्यभिचरति  
देवान्तरे च । तथा सहजा  
आत्मना सहैव आता यथा पद्मा-  
दीनामाकाशगमनादिलक्षणा ।

अन्यापि या काचिदकृता  
केनचिन्न कृता यथापां निम्न  
देशरामनादिलक्षणा । अन्यापि  
या काचित्स्वभाव न जहाति सा  
सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया ताक ।  
मिथ्याकस्मितेषु लौकिकेष्वपि  
वस्तुषु प्रकृतिर्वान्यथा भवति  
क्षिप्रग्राहस्वभावेषु परमार्थ  
वस्तुषु मृतत्वलक्षणा प्रकृतिना-  
यथा भयर्हीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

कहते हैं, जिस प्रकार कि सिद्ध  
योगियोंका अग्निमान् ऐश्वर्यकी प्राप्ति  
उनकी प्रकृति है । योगियोंकी उस  
प्रकृतिको मृत और भविष्यत् कालमें  
भी विपर्यय नहीं होता—यह वैसी-की-  
वैसी ही रहती है । तथा 'स्वाभाविकी'  
वस्तुको स्वभावसे सिद्ध वैसी कि-  
अग्नि आदिकी उष्णता एव प्रकाशादि  
रूपा प्रकृति होती है । उसको भी  
कालान्तर और वेदान्तरमें व्य-  
भिचार नहीं होता । तथा 'सहजा'-  
अपन साथ ही उत्पन्न होनेवाली,  
वैस कि पक्षी आदिकी आकाश  
गमनादिरूपा प्रकृति होती है ।

और भी ना कोई 'अकृता'-  
किस्तिके द्वारा सम्पादन न पर्ये हुई,  
जैसे कि नलोंकी प्रकृति निम्न प्रदेश  
की ओर जानेकी है । तथा इसको  
मिथ्या अन्य भी ना कोई अपन स्वभाव  
को नहीं छोड़ती उस सबको उचितमें  
'प्रकृति' नामसे ही जानना  
चाहिये । मिथ्या कल्पना की हुई  
लौकिक वस्तुओंमें भा उनकी प्रकृति  
अन्यथा नहीं होती फिर अज्ञानमात्र  
परमायवस्तुओंमें उनको अमृतक-  
लक्षण प्रकृति अन्यथा नहीं हो  
सकती—इसमें तो कहना ही क्या  
है 'यह इनको अभिप्राय है ॥ ९ ॥

वीर्यं जरा-मरण माननेमें दोष

किंप्रिया पुनः सा प्रकृति

वालीछोग जिसके अन्यथाप्रकृति

र्यस्या अन्यथामात्रो वादिभि

कल्पना करते हैं उस प्रकृति

कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष

किस्य क्या है ? और उनकी

इत्याह—

कल्पनामें क्या दोष है ? इसपर

कहते हैं—

जरामरणनिर्मुक्ता सर्वे धर्मा स्वभावत ।

जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तमनीषया ॥ १० ॥

सम्स्त जीव स्वभावसे ही जरा-मरणसे रहित हैं । उनके जरा-मरण स्वीकार करनेवाले छोग, इस विचारके कारण ही, स्वभावसे श्रुत हो जाते हैं ॥ १० ॥

जरामरणनिर्मुक्ताः—अरा-

‘जरामरणनिर्मुक्ता’ अर्थात् जरा-

मरणादिसर्वविक्रियावर्जिता

मरणादि सम्पूर्ण विकारोंसे रहित

इत्यर्थाः । के ? सर्वे धर्माः सर्व

हैं ! कौन ? सम्पूर्ण धर्म अर्थात्

आत्मान इत्येतत्स्वभावतः

सम्स्त जीवात्मा, स्वभावतः यानी

प्रकृतितः । एवंस्वभावाः सन्तो

प्रकृतिसे ही । ऐसे स्वभाववाले

धर्मा जरा-मरणमिच्छन्त इच्छन्त

होनेपर भी जरा-मरणके इच्छुक

इच्छन्तो रज्ज्नामिष सर्पमास्मनि

समान इच्छ करानेवाले अर्थात् रज्जु-

कल्पयतश्च्यवन्ते स्वभाषतश्च

में सर्पकी भौति आत्मामें जरा-मरण-

छन्तीत्यर्थः, तमनीषया बन्ध

की कल्पना करनेवाले जीव,

मरणचिन्तया सद्भाषमाषितत्व

उसकी मनीषा-जरा-मरणकी चिन्तासे

दोषेणेत्यर्थः ॥ १० ॥

अर्थात् उस भावसे भाङ्गित होनेके

दोषका अपने स्वभावसे श्रुत

विचलित हो जाते हैं ॥ १० ॥

सांख्यमतपर वैशेषिककी आपत्ति

कथं सञ्जातिवादिभिः

सञ्जातिवादी सांख्यमतपर

सांख्यैरनुपपन्नमुच्यते इत्याह

विशेषिक कहते हैं कि स प्रकृत

वैशेषिकः—

असङ्गत है ? तो वैशेषिकमतपर सञ्जाती

बनजाते हैं—

कारण यस्य वै कार्यं कारण तस्य जायते ।

जायमान कथमज भिन्न नित्य कथं च तत् ॥ ११ ॥

त्रिस ( सामान्यमनाश्रमि ) के मनमें कारण ही कार्य है उसके सिद्धान्तानुसार कारण ही उत्पन्न होता है । किन्तु जब कि वह जन्म लेना चाहता है तो अब्रह्म कैसे हो सकता है और भिन्न ( विदीर्ण ) होनेपर भी नित्य कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

कारण मृदुदुपादानलक्षण  
यस्य वाङ्मनो वै कार्यं कारणमेव  
कार्याकारेण परिणमत यस्य  
वादिन इत्यर्थ , तस्याप्रमेव  
सत्प्रधानादि कारणं महदादि  
कार्यरूपेण सायत इत्यर्थ ।  
महदाद्याकारण चेज्जायमान  
प्रधान कथमजसुरूपते तैर्वि  
प्रतिषिद्ध चेद् आपतञ्जं चेति ।

नित्यं च तदुच्यते प्रधानं  
भिन्नं विदीर्णं स्फुरितमेकद्वयेन  
मत्कार्यं नित्यं भवेदित्यर्थ । न  
दि सावयवं पटादि पदद्वय  
स्फुरनधर्मि नित्यं एष साक

त्रिम वादीक मनमें मृत्तिकारके  
समान उपादान कारण ही कार्य है  
अथात् त्रिसके मनमें कारण ही  
कार्यरूपमें परिणत होता है उसके  
सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण  
अब्रह्म होता हुआ भी महदादि  
कार्यरूपसे उत्पन्न होता है ऐसा  
इत्यत्र तात्पर्य है । किन्तु यदि  
प्रधान महदादिरूपसे उत्पन्न होने-  
वाला है तो वे उसे अब्रह्म कैसे  
कहायेंगे ? उत्पन्न होता है और  
अब्रह्म भी है—ऐसा कथन तो  
परम विरुद्ध है ।

इसके सिवा वे प्रधानमें नित्य भी  
कहायेंगे हैं । किन्तु वह भिन्न-  
विदीर्ण अर्थात् एक देशमें स्फुरित  
पानी विद्यमान होनेवाला होकर भी  
नित्य कथे हा सकता है ! तात्पर्य यह  
कि घटादि सारथर पत्थर, वा एव  
देशमें स्फुरित होनेवाले हैं, अंतरमें



इत्यर्थ । विदीर्ण च स्यादेकदशे

नाचं नित्यं चेति षट्प्रतिपिद्

त्तरमिधीयत इत्यभिप्राय ॥११॥

कमी नित्य नहीं देखे गये । वह अपने एक देशमें विदीर्ण होकर है तथा अत्र और नित्य भी है—यह तो उनका विरुद्ध कथन ही है—

यसा इसका अभिप्राय है ॥ ११ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थं  
माह—

कारणाद्यनन्यत्वमत

उपयुक्त अभिप्रायका ही स्पष्टीकरण करना कियं कहते हैं—

कार्यमज यदि ।

जायमानाद्धि वै कार्यात्कारण ते कथं ध्रुवम् ॥ १२ ॥

यदि कारणसे कार्यकी अभिन्नता है तब तो तुम्हारे मतमें कार्य भी अव्यक्ता है; और यदि ऐसी बात है तो उपपन्न होनेवाले कार्यसे अभिन्न होनेपर कारण भी किस प्रकार निश्चल रह सकता है ? ॥ १२ ॥

कारणाद्वात्कार्यस्य यद्यनन्य

यदि तुम्हें अव्यक्ता कारणसे कार्यकी अनन्यता यह है तो [ तुम्हारे मतमें ] यह बात सिद्ध होती है कि कार्य भी अव्यक्ता है । किन्तु कार्य है और अव्यक्ता है यह तुम्हारे कथनमें एक दूसरा विरोध है । इसका सिद्धा, कार्य और कारणकी अनन्यता होनेपर उपपत्तिशील कार्यसे अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है ? ऐसा कमी नहीं हो सकता कि मुझका एक अंश तो पकड़ा जाय और दूसरा गन्तानागतिके योग्य बनावे

स्वमिष्ट त्वया तव

कार्यकारणयोः कार्यमजदिति प्राप्तम् ।

अभिप्रायः इदं चान्यद्विप्रतिपिद्

विप्रतिपत्तिः कार्यमज चेति तव

किं चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे

जायमानाद्धि वै कार्यात्कारण

मनन्यन्तित्यं ध्रुवं च ते कथं

भवेत् । न हि सुक्ष्मा एकदश

पश्यत एकदशः प्रमथाय

दृश्यते ॥ १२ ॥

रहा जाय ॥ १२ ॥

किं चान्यत्— | इसके सिवा और भी—

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।

जाताभ्य जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ १३ ॥

त्रिसरे मने अत्रमा वस्तुसे ही किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही इसका कोई दृष्टान्त नहीं है । और यदि ज्ञान पदार्थसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥ १३ ॥

अजादनुत्पन्नाद्वस्तुनो जायते

यस्य घादिन कार्य

अजादनुत्पत्तिः

अपकेरि

अजादनुत्पत्तिः

दृष्टान्तस्तस्य नास्ति

वै, दृष्टान्ताभावे

अर्थात्तत्र किंचिदजायत इति

सिद्धं भवतीत्यर्थ । यदा

पुनर्जाताजायमानस्य वस्तुन

अभ्युपगमः सदप्यन्यसात्

जातादप्यन्यसादिति न

अप्यवस्था प्रसज्यते । अनवस्थानं

सादित्यर्थ ॥ १३ ॥

त्रिस वकीक मने अत्र—अनु-

त्पन्न वस्तुसे कार्यकी उत्पत्ति होती

है उसके पास निश्चय ही कोई

दृष्टान्त नहीं है । अन तात्पर्य यह

हुआ कि दृष्टान्तका अभाव होनेके

कारण यह बात सत्य सिद्ध हो

जाती है कि अत्र वस्तुसे किसीकी

उत्पत्ति नहीं होती । और जब

किसी ज्ञान—उत्पन्न होनेवाली वस्तुसे

कार्यकी उत्पत्ति मानी जाती है

ता वह भी किसी अन्य ज्ञान वस्तुसे

उत्पन्न होनी चाहिये और यह किसी

औरहीसे उत्पन्न होनी चाहिये—इस

प्रकार कोई व्यवस्था ही नहीं रहती;

अर्थात् अनवस्था उपस्थित हो

जाती है ॥ १३ ॥

हेतु और उसके अन्वयकारणरूपमें ज्ञेय

“यत्र त्वस्य सर्वमारम्भामृत”

( सू० उ २।४।१४ ) इति

“जिस अवस्थामें इसकी इष्टिमें

मत्र आत्मा ही ही गया है” इस

परमार्थता इवामात्र श्रुत्योक्त  
स्तमाधित्याह—

भूनिन नो परमायत इतक्य कर्मण  
यतयाप्य है, ठसीको जात्रिन करके  
पहते हैं—

हेतोरादि फल येषामादिर्हेतु फलस्य च ।

हेतो फलस्य चानादि कथ तैरुपधर्ष्यते ॥ १४ ॥

मिनके मगमे हेतुक्य कारण फल है और फलक्य कारण हेतु है ये  
हेतु और फलके अनादिबक्य प्रतिगान्न कैसे करत है ! ॥ १४ ॥

हेतोर्धर्मादिरादि कारणं  
वेदादिसंपातः फल येषां  
वादिनाम् । तथादि कारणं  
हेतुधर्माधर्मादि फलस्य च दहा  
दिसंपातस्य । एव हेतुफलयोरिव  
रेतरकार्यकारणत्वेनादिमत्त्वं  
ध्रुवश्चिरवं हेतोः फलस्य चाना  
दित्व कथ तैरुपधर्ष्यते ?  
विप्रतिपिद्धमित्यर्थ । न हि  
नित्यस्य कूटस्थस्यारमना इतु  
फलरमता सम्भवति ॥ १४ ॥

बिन श्रुतियोंके मन्में हेतु धर्मात्  
धर्मात्किं वादि—कारण वेदादि  
संपातरूप फल है तथा वेदादि  
संपातरूप फलक्य वादि—कारण  
धर्माधर्मादि हेतु है\* इस प्रकार  
हेतु और फलक्य एक-दूसरेके  
परस्पर-कारणरूपते संकारणत्व बतलाने  
वाले उन क्षीणैद्वारा हेतु और फलक्य  
अनादित्व किंस्त प्रकार प्रतिगान्न  
किया जाता है ? धर्मात् उनक्य यह  
फलन सत्रया विरुद्ध है । नित्य कूटस्थ  
आरमनाकी हेतुफलरमतासे तो किसी  
प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥ १४ ॥

कर्म तैर्विकृद्मम्युपगम्यत  
इत्युच्यते—

वे किंस्त प्रकार विकृद्म मतको  
मानते हैं, सो बतलाना जाता है—

हेतोरादि फल येषामादिर्हेतु फलस्य च ।

तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥ १५ ॥

० धर्मात् को धर्माधिक्ये नतीपदिषी प्राप्तिश्च कारण और शरीरको  
धर्मादि-सम्बन्धनका कारण मानने हैं ।

त्रिनके मतमें हेतुका कारण पत्र ही और फलका कारण हतु ही उनका [ मानी हुई ] उत्पत्ति ऐसी ही है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना ॥ १५ ॥

हेतुजन्यादेव फलादेतो	हेतुसे उत्पन्न होनेवाले फलसे
र्वाम्भुपगच्छतां तेषामीदृशो	ही हेतुका जन्म माननेवाले उन
विरोध उक्तो भवति यथा	खोगके मतमें ऐसा ही विरोध कहा
पुत्राज्जमपितु ॥ १५ ॥	जाता है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म
	वत्प्रानमें ॥ १५ ॥

यथोक्तो विराधो न युक्तो यत्ति तुम ऐसा मानते हो कि  
ऽम्भुपगन्तुमिति चे मन्यसे— उपर्युक्त विरोध म्यनना उचित  
नहीं है तो—

सभवे हेतुफल्यारेषितव्य क्रमस्त्वया ।

युगपत्सभवे यस्मादसयन्धो विपाणवत् ॥ १६ ॥

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उनके साथ-साथ उत्पन्न होनेमें तो [ दायें-बायें ] सींगोंके समान परस्पर [ काम करगरूप ] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

सभव हेतुफल्योरुत्पत्तौ क्रम	तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें
एषितव्यस्त्वयान्वेष्टव्यो हतुः	क्रम अर्थात् पहले हेतु होना है
पूर्वं पश्चात्फलं चेति । इतश्च	और फिर फल—इस प्रकार दोनोंका
युगपत्सभवे यस्मादहतुफल्यो	पौरापर्य सौजन्य चाहिये, क्योंकि
कार्यकारणत्वेनासम्बन्धः, यथा	त्रिस प्रकार गीके साथ-साथ उत्पन्न
युगपत्संभवतोः सम्येतरगा-	होनेवाले गायें और बायें सींगोंका
विषययो ॥ १६ ॥	परस्पर सम्बन्ध नहीं होता उसी
	प्रकार साथ-साथ उत्पन्न होनेपर तो
	हतु और फलका परस्पर कार्य-कारण-
	रूपसे सम्बन्ध ही नहीं होगा ॥ १६ ॥

कथमसंबन्धः ? इत्याह— { उनका किन्तु प्रकार सम्बन्ध  
नहीं होगा ! तो कथ्यते हैं—

फलादुत्पद्यमानं सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।

अप्रसिद्धं कथं हेतु फलमुत्पादयिष्यति ॥ १७ ॥

दुम्हारे मतमें यदि हेतु फलसे उत्पन्न होता है तो वह [ हेतुरूपसे ] सिद्ध ही नहीं हो सकता, और अप्रसिद्ध हेतु फलको उत्पन्न कैसे करेगा ! ॥ १७ ॥

जन्यास्त्वतोऽलम्भात्मकत्वात्

फलादुत्पद्यमानः सम्बन्धः

विषाणादरिषासती न हेतुः

प्रसिध्यति च न लभते ।

अलम्भात्मकोऽप्रसिद्धः सम्बन्धः

विषाणादिकल्पस्तत्र कथं फल-

मुत्पादयिष्यति ? न हीतरेतरा

पेक्षसिद्धयोः अत्रविषाणकल्पयोः

कार्यकारणभावेन सम्बन्धः

कश्चिदृष्टः; अन्यथा वेत्स्य-

मिप्रायः ॥ १७ ॥

जन्म वर्षादि जो स्वतः प्राप्त नहीं है उस शशशृङ्गके समान असत् फलसे उत्पन्न होनेवाला होनेपर तो हेतु ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि उसीका जन्म नहीं हो सकता । इस प्रकार शशशृङ्गके समान जिसकी स्वतः उत्पत्ति नहीं है वह अप्रसिद्ध हेतु दुम्हारे मतमें किन्तु प्रकार फल उत्पन्न कर देगा ! एक-दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होनेवाले तथा शशशृङ्गके समान सर्वथा असत् फलको कार्य-कारणभावेसे अपना किसी और प्रकार फलसे सम्बन्ध नहीं देखेगा—यह इसका अभिप्राय है ॥ १७ ॥

यदि हेतोः फलात्सिद्धि फलसिद्धिश्च हेतुतः ।

फलरत्पूर्वनिष्यन्न यन्म्य सिद्धिरपेक्षया ॥ १८ ॥

[ दुम्हारे मतमें ] यदि फलसे हेतुकी सिद्धि होती है और हेतुसे फलकी सिद्धि होती है तो उनमें फलसे ही सिद्धि होगी ! जिसकी अपेक्षासे कि दूसरेका आतिर्भाव माना जाय । ॥ १८ ॥

असंबन्धतादोषणापादितेऽपि  
हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि  
हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युप  
गम्यत एव त्वया कतरत्पूर्व  
निष्पन्न हेतुफलयोर्यस्य पश्चाद्भा  
विनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्धय-  
पक्षया तद्वद्ब्रूहीत्यर्थ ॥ १८ ॥

हेतु और फलके कार्यकारण-  
भावकर असम्बन्धताकेरसे निरा-  
करण कर लिया जानपर भी यदि  
तुम हेतु और फलकी एक-दूसरेसे  
सिद्धि मन्त ही हा तो इन हेतु  
अर फलमेंस पहल करन हुआ—मो  
बतमओ, जिसकी पूर्वसिद्धिकी अपेक्षा  
से पीछ होनेवालीकी सिद्धि मानी  
जाय ?—यह इसका तात्पर्य है ॥ १८ ॥

अर्थात्तन्न शक्यते वक्तुमिति  
मयसे—

और यदि तुम ऐसा मानते हा  
कि यह नहीं बतया जा सकता  
ता—

अशक्तिरपरिज्ञान क्रमकोपोऽथ वा पुन ।

एव हि सर्वथा बुद्धैरजाति परिदीपिता ॥ १९ ॥

यह अज्ञाति ( अमान्य ) अज्ञान है, अपशक्ति तो हमने उपर्युक्त  
क्रमया भी विषय ही ज्ञान है [ क्योंकि इस पूर्वज्ञानका ज्ञान न हानने  
हमें जो पूर्वकी है वह करग है और पीछ होनेवाला कथ है ऐसा  
को नियम भी नहीं रह सकता ] । इस प्रकार उन बुद्धिमानोंने कथया  
अज्ञानको ही प्रकटित किया है ॥ १० ॥

सेपमशक्तिरपरिज्ञानं तस्या  
विशक्तो घृतेत्यर्थ । अथ वा  
याज्य स्वपोक्त क्रमो हताः  
कृतस्य सिद्धि फलाप हतो  
सिद्धिरितोत्तरतगनन्तपलधन  
मन्व वापो विपर्याया यथाभाष

यह अज्ञाति [ तुम्हारा ] अगर  
हान-नक्षत्र अविषय अर्थात्  
पूजा ही है । अपना तुमन या  
प्य-दूसरेके पूर्वज्ञान यह क्रम  
बतला है कि हमने फलकी सिद्धि  
हकी है और अज्ञे इतनी, उसका  
कथ-विषय अज्ञान कथयता

स्यादित्यभिप्रायः । एवं हेतु  
फलयो कार्यकारणभावानुप  
पत्तेरवातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः  
परिदीपिता प्रकाशितान्यान्य  
पक्षदोषं तुवन्निर्वादिभिर्बुद्धैः  
पण्डितैरित्यर्थः ॥ १९ ॥

तो जायगा—ऐसा इतकर अभिप्राय है।  
इस प्रकार हेतु और फलका कार्य-  
कारणभाव असम्भव होनेके कारण  
एक-दूसरेके पक्षका दोष बतलाने  
वाले प्रतिपक्षी बुद्धिमानों कर्तव्य  
पण्डितोंने सबकी खजालि—अनुपत्ति  
ही प्रकाशित की है ॥ १९ ॥

ननु हेतुफलयोः कार्यकारण  
भाव इत्यस्माभिरुक्त छन्दमात्र  
माभिस्यच्छलमिदं त्वयोक्तं  
पुत्राजन्म पितुर्बधा, विपाण  
वशासंबन्ध इत्यादि । न  
अस्माभिरसिद्धाद्येतोः फलसिद्धि  
रसिद्धादा फलाद्येतुसिद्धिरभ्युप  
गता । किं तर्हि ? बीजाङ्कुर  
वत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत  
इति ।

अत्रोच्यत—

शू०—हमने जो कहा कि हेतु  
और फलका परस्पर कार्य-कारणभाव  
है, सो तुमने हमारे शब्दमात्रको  
एक-दूसरे छलपूर्वक ऐसा कह दिख  
कि 'जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होता  
है' [ 'तयें बायें' ] सीमेके समान  
[ उनका परस्पर ] सम्बन्ध ही नहीं  
हो सकता' इत्यादि । हमने असिद्ध  
हेतुसे फलकी जपना असिद्ध फलसे  
हेतुकी सिद्धि कभी नहीं मानी । तो  
किर क्या माना है ! हम तो बीज  
और अङ्कुरके समान केवल उनका  
कार्य-कारणभाव मानते हैं ।

तिबागती—इसपर हमें यह  
कहना है कि—

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्त सदा साध्यसमो हि स' ।

न हि साध्यसमो हेतु सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥ २० ॥

बीजाङ्कुर नामक जो दृष्टान्त है वह तो सदा साध्यके ही समान  
है । और जो हेतु साध्यके ही समान होता है वह साध्यकी सिद्धिमें  
योगी नहीं होता ॥ २० ॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तो य

स साध्येन तुल्यो

बीजाङ्कुरदृष्टान्तस्य  
साम्यसमस्यम्

ममेत्यभिप्राय ।

ननु प्रत्यक्षः

कार्यकारणभावो बीजाङ्कुर

योरनादिः ? न, पूर्वस्य पूर्वस्या

परषदादिमन्वाभ्युपगमात् ।

यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजा

दादिमान्बीजं चापरमन्यन्नाद

ङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वा

दादिमत् । एव पूर्वं पूर्वोऽङ्कुरो

बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवति

प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजात

स्यादिमन्वात्कस्यचिदप्यनादि

त्वानुपपत्तिः । एवं हेतुफलानाम् ।

अथ बीजाङ्कुरसन्ततिरनादि

मन्वमिति चेत् ? न,

बीजाङ्कुर  
अन्यमिति

एकत्वानुपपत्तेः । न

हि बीजाङ्कुरम्यति

रेकेभ्य बीजाङ्कुरसन्ततिरनैका

भ्युपगम्यत हेतुफलमन्ततिवा

तदनादिस्वबादिभि । तन्मन्वक

बीजाङ्कुर नामकं जो दृष्टान्त है

कहा ता साम्यक ही सम्यन है—ऐसा

मेरा अभिप्राय है । यदि कहो कि

बीज और अङ्कुरक कर्म-कारणभाव

तो प्रत्यक्ष ही अनादि है, तो ऐसी

बात नहीं है क्योंकि उनमेंसे पूर्व

पूर्व [ अङ्कुर और फल ] को परवर्तिपों-

के समान आदिमान् माना गया

है । जिस प्रकार इस समय बीजसे

उत्पन्न हुआ दूसरा अङ्कुर आदिमान्

है उसी प्रकार क्रमश दूसरे अङ्कुरसे

उत्पन्न हुआ दूसरा बीज भी आदिमान्

है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व अङ्कुर और

पूर्व-पूर्व बीज आदिमान् ही है ।

अतः सम्पूर्ण बीजाङ्कुरवृक्षप्रत्येक

बीज और अङ्कुर आदिमान् होनेक

कारण किस्तीका भी अनादि होना

असम्भव है । यही न्याय हेतु और

फलके विषयमें भी समझना चाहिये ।

यदि कहो कि बीजाङ्कुरपरम्परा

तो अनादि हो ही सकती है तो

ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि

उत्पन्न एकत्व नहीं माना गया ।

हेतु-फलक अनादित्व प्रतिपादन

करमेबाज्येमे बीज और अङ्कुरसे

भिन्न बीजाङ्कुरपरम्परा अपना हेतु

फलपरम्परा नामक को एक एक

स्वच्छ न्याय नहीं मन । अथ



हेतोः फलस्य चानादि कथ  
 तैरुपवर्ष्यत इति । तथा चाय  
 दन्वनुपवर्ष्यन्च्छसमित्यभिप्राय ।  
 न च लोक साध्यसमो हेतुः  
 साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं  
 प्रयुज्यते प्रमाणद्वयलैरित्यर्थः ।  
 हेतुरिति दृष्टान्तोऽप्राभिप्रेतः,  
 गमकत्वात् । प्रकृता हि दृष्टान्तो  
 न हेतुरिति ॥ २० ॥

ये लोग हेतु और फलस्य कनादित  
 किन्त प्रफर प्रतिपादन करत है  
 यह कथन बहुत ठीक है । इसकेलि  
 अनुपपत्ति होनेके कारण भी हम  
 कथन ठुल नहीं है—ऐसा इतना  
 तात्पर्य है । अभिप्राय यह है कि  
 लोकमें प्रमाणद्वयस्य प्रयोजन  
 साध्यके सिद्धिक लिये साध्यके ही  
 सदृश हेतुका प्रयोग नहीं किन्त  
 जाता । यहाँ 'हेतु' शब्दका अभिप्राय  
 दृष्टान्त है, क्योंकि वह वही  
 ज्ञापक है यहाँ दृष्टान्तका ही प्रकरण  
 भी है—इसका नहीं ॥ २० ॥

### अज्ञातवाग्-गिरूपण

कथं पुद्गैरजातिः परिदीपिते

पण्डितोंने अज्ञातिके ही किन्त  
 प्रकार प्रकाशित किया है । इसमें  
 कहते हैं—

स्याह—

पूर्वापरापरिज्ञानमजाते

परिदीपकम् ।

जायमानाद्धि वै घर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥ २१ ॥

[ वस्तु और फलके ] पौर्वापर्यका जो अज्ञान है वह अनुपपत्तिक  
 ही प्रकारका है; क्योंकि यदि कार्य [ स-ब-मु-प ] उत्पन्न हुआ होता तो  
 उसका कारण क्यों न ग्रहण किया जाता ॥ २१ ॥

यद्देतद्धेतुफलया पूर्वापरापरि  
 ज्ञानं तर्च्चतदजात परिदीपकम्-  
 वशाभकमित्यर्थ । ज्ञायमाना हि

यह जा बहुत बार फलके पौर्वा-  
 पर्यका अज्ञान है वह अज्ञातिक ही  
 परिदीपक अर्थात् ज्ञापक है । यदि  
 कार्य उत्पन्न हुआ प्रमाण किया

चेदमो गृह्यते, कर्म तस्मात्पृथ  
कारणं न गृह्यत । अवश्य हि  
वायमानस्य प्रहीत्रा तज्जनकं  
प्रहीतन्म्यम् । जन्यजनकयो  
संबन्धस्यानपसरथात् । तस्माद्  
जातिपरिदीपकं तदित्यर्थ ॥२१॥

जाता है तो उससे पूर्ववर्ती कारण  
क्यों नहीं ग्रहण किया जाता ।  
उत्पन्न होनेवाली वस्तुका ग्रहण  
करनेवाले पुरुषद्वारा उसकी उत्पत्ति  
का कारण भी अवश्य ही ग्रहण  
किया जाना चाहिये, क्योंकि जन्य  
और जनक पर्याप्त सम्बन्ध  
अनिवार्य है । इसलिये तत्पर्य यह  
है कि यह अजातिकार ही प्रकरणात्  
है ॥ २१ ॥

सदसद्वादिबादोक्षी अनुत्पत्ति

इत्थं न जायते किञ्चिन्,  
यन्जायमानं वस्तु—

इसलिये भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं  
होती क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।

मदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥ २२ ॥

अत अपवा परत [ किसी भी प्रकार ] कोई वस्तु उत्पन्न नहीं  
होती; क्योंकि सत्, असत् अथवा सत्सत् ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न  
नहीं होती ॥ २२ ॥

अतः अपवा परत [ किसी भी प्रकार ] कोई वस्तु उत्पन्न नहीं  
होती; क्योंकि सत्, असत् अथवा सत्सत् ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न  
नहीं होती ॥ २२ ॥

स्वत परत उभयतो वा  
सदसत्सदसद्वा न जायत न  
तस्य कनचिदपि प्रकारेण सन्म  
संभवति । न तावत्स्वयमेवापरि  
निष्पन्नात्सतः स्वरूपान्स्वयमेव  
जायत यथा पद्ममाद्य घटात् ।  
नापि परतान्यत्वाद्न्या यथा

अग्नेसे, दूमसे अथवा पानीसे  
सत्, असत् अथवा सत्सदसत्से  
उत्पन्न नहीं होती—किसी भी प्रकार  
उत्पन्न जन्म होना सम्भव नहीं है ।  
किस प्रकार घटा उसी प्रकार उत्पन्न  
नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई  
भी वस्तु स्वयं अथवा अद्विनिष्पन्न  
( घातना तैयार न हुए ) स्वयंमे  
व ही उत्पन्न नहीं हो सकती ।  
और न किसी अन्य ही उत्पन्न

घटास्पटः पटास्पटान्तरम् । तथा  
नोभयत् विराधात्; यथा  
घटपटाभ्यां घट पटो वा  
न आयत् ।

ननु मृदा घटो आयते पितृभ्य  
पुत्र । सत्यम्, अस्ति आयत्  
इति प्रत्यय शब्दस्य मूढानाम् ।  
तावेव शब्दप्रत्ययौ विभेदकिभिः  
परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत्  
सुपेति । यावता परीक्ष्यमाणे  
शब्दप्रत्ययविषय वस्तु घट  
पुत्रादिलक्षण शब्दमात्रमेव सत् ।  
“वाचारम्भणम्” ( छा० उ०  
६ । १ । ४ ) इति श्रुते ।

सन्धेः आयत्त सन्धान्मृपित्रा

दिबत् । यद्यसत्तथापि न आयत्

अपरादस्य प्रत्ययविषयादिषन् ।

उत्पत्ति हो सकती है, जैसे घटसं  
पटकी अपना फस पयन्तरकी ।  
तथा इसी तरह विरोध होनेके कारण  
दोनोंसे भी किसीकी उत्पत्ति नहीं  
हो सकती; जिस प्रकार कि घट  
और पट दोनोंसे घट या पट कोई  
उत्पन्न नहीं हो सकता ।

यदि कहो कि मिट्टीसे घटा  
उत्पन्न होता है और पितृसे पुत्रका  
जन्म होता है तो, ठीक है, परन्तु  
‘सत्यम्’ होता है ऐसा शब्द और  
उसकी प्रतीति मूर्खोंका ही गुण  
करती है । विवेकी लोग तो उन  
शब्द और प्रतीतिकी-से सत्य हैं  
अपना सिद्धा-इस प्रकार परीक्षा  
किया करते हैं । किन्तु परीक्षा की  
जानकर ता शब्द और उसकी  
प्रतीतिकी विषयमूल घट अपन  
पुत्रादिरूप वस्तु वचन शब्दमय ही  
है; जैसा कि “वाचारम्भणम्”  
इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

यदि वस्तु सत् ( विद्यमान )  
है तो मृत्तिका और मिना आदिक  
समान सत् होनेके कारण ही उत्पन्न  
नहीं हो सकती यदि असत् है,  
ता भी वाशश्रुतिप्रमाण समान असत्  
हामक कारण ही उत्पन्न नहीं हो  
सकती । अतः यदि मन्मत् है तो

अथ सदसत्तथापि न चापत्ते  
भिरुद्भूतस्यैकस्यासंभवात् । अतो  
न किंचिद्भूतं चापत्त इति सिद्धम् ।

येषां पुनर्बनिरेव चापत्त  
इति क्रियाकारकफलैकत्वम्  
अभ्युपगम्यते अणिकत्व  
च वस्तुनः, ते दूरत एव  
न्यायापेता । इदमित्थमित्यत्र  
धारणक्षणान्तरानवस्थानादिननु  
भूतस्य स्वत्यनुपपत्तेः ॥ २२ ॥

भी उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि  
एक ही वस्तु विरुद्ध समाप्तवादी  
होनी असम्भव है । अतः यही  
सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु उत्पन्न  
नहीं होती ।

इसके विपरीत ब्रिज ( बौद्धों ) के  
मनमें जन्मक्रियाकर ही जन्म होता  
है—इस प्रकार जो क्रिया, करक और  
फलकी एकता तथा वस्तुका अणिकत्व  
स्वीकार करते हैं वे तो विस्तुष्ट ही  
सुकिञ्चन्य हैं, क्योंकि 'यद् ऐश्वर्यं'  
इस प्रकार निश्चय करनेके क्षणसे  
दूसरे ही क्षणमें स्थिति न रहनेके  
कारण [ पदार्थका अनुभव नहीं  
हो सकता ] और बिना अनुभव  
इस पदार्थकी स्थिति होना असम्भव  
है ॥ २२ ॥

हेतु-फलका अनान्वित्त एवम्ही बहुत्वविषय सूचक है

किं च हेतुफलयोरनादिस्वभ-  
म्युपगच्छता स्वया बलाद्भूतुफल-  
योरभन्मैवाम्युपगत स्यात् ।  
तत्त्वयम् ?

यही नहीं, हेतु और फलका  
अनादित्त स्वीकार करनेवाले तुम्हारे  
द्वारा तो बलात्कारसे हेतु और फलकी  
अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली गयी है ।  
सा कित्त प्रकार ?—

हेतुर्न जायतेऽनादे फलं चापि स्वभावात् ।

आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥ २३ ॥

अनादि फलसे और हेतु उत्पन्न नहीं हो सकता और इसी प्रकार  
स्वभावासे ही [ अनादि हेतुसे ] फलकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती—

घटात्पटः पटास्पटान्तरम् । तथा  
नोभयत , विरोधात् ; यथा  
घटपटाभ्यां घटः पटो वा  
न जायते ।

ननु मृदो घटो जायते पितुश्च  
पुत्रः । सत्यम्, अस्ति जायत  
इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम् ।  
तावेष शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः  
परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत  
मृपति । यावता परीक्ष्यमाणे  
शब्दप्रत्ययविषय वस्तु घट  
पुत्रादिलक्षण शब्दमात्रमेव तत् ।  
“वाचारम्मणम्” ( छा० उ०  
६ । १ । ४ ) इति श्रुते ।

सर्वेष्वेव जायत सत्त्वान्मृत्पित्रा

दिवत् । यद्यसत्तथापि न जायते

ऽसत्यादयः पद्मविषाणादियन् ।

उत्पत्ति हो सकती है, जैसे घटसे  
पटकी अथवा फसे पटान्तरकी ।  
तथा इसी तरह विरोध होनेके कारण  
दोनोंसे भी किसीकी उत्पत्ति नहीं  
हो सकती, जिस प्रकार कि घट  
और फट दोनोंसे घट या पट कोई  
उत्पन्न नहीं हो सकता ।

यदि कहो कि मिट्टीसे पटा  
उत्पन्न होता है और पितासे पुत्रका  
जन्म होता है तो, ठीक है, परन्तु  
‘उत्पन्न होता है’ ऐसा शब्द और  
उत्पत्ति प्रतीति मूर्खोंको ही हुआ  
करती है । विवेकी लोग तब उन  
शब्द और प्रतीतिकी—बे सत्य हैं  
अपना मिथ्या—इस प्रकार फीका  
किया करते हैं । किन्तु परीक्षा की  
आनपर तो शब्द और उत्पत्ति  
प्रतीतिकी नियमभूत घट अपत्र  
पुत्रादिरूप वस्तु कसल शब्दमात्र ही  
है जैसा कि “वाचारम्मणम्”  
इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

यदि वस्तु सत् ( विद्यमान )  
है तब मृत्तिका और पिट्टा अद्विक  
समान सत् होनेके कारण ही उत्पन्न  
नहीं हो सकती यदि असत् है  
ता भा पशुशृङ्गादिक समान असत्  
हानक कारण ही उत्पन्न नहीं हो  
सकती । अतः यदि मन्मत् है ता

इसके सिवा [ अग्निदाह आदि ] क्लेशकी उपलब्धिसे भी अन्य मना-  
पुलब्धियोंके शास्त्रद्वारा प्रतिपादित इतकी सत्ता मानी गयी है ॥ २४ ॥

प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिं शब्दादि  
प्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्;  
निमित्तं कारण विषय इत्ये-  
तत्सनिमित्तत्व ' सविषयत्व  
स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत्  
प्रतिब्रानीमह । न हि निर्विषया  
प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्,  
तस्या सनिमित्तत्वात् । अन्यथा  
निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीत  
लाहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य  
नाशतां नाशोऽभावात् प्रसन्नेते-  
त्यर्थ । न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य  
द्वयम्यामावाऽस्ति प्रत्यक्षत्वात् ।  
अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य  
दक्षनात्, परेषां तन्त्रं परतन्त्र  
मित्यन्यशास्त्रम्, तस्य परतन्त्रस्य  
परतन्त्राध्ययस्य बाह्यार्थस्य ज्ञान  
व्यतिरिक्तस्यास्तित्वा मन्नामिप्रेता ।

न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रम्व-  
रूपाया नीलपीतादिषास्त्वात्मन-

प्रज्ञानं अर्थात् शब्दादि-प्रतीति  
का नाम प्रज्ञप्ति है । यह सनिमित्त  
है । निमित्त-कारण अर्थात् विषयको  
कहते हैं, अतः सनिमित्त-सविषय  
यानी अपनेसे अतिरिक्त विषय  
सहित है-ऐसी हम [ उसके विषय  
में ] प्रतिष्ठा करते हैं । [ अर्थात्  
हमारा काम है कि ] प्रज्ञप्ति यानी  
शब्दादि-प्रतीति निर्विषया नहीं हो  
सकती, क्योंकि यह सनिमित्त है ।  
अन्यथा उसे निर्विषय माननेपर तो  
शब्द स्पर्श एवं नील, पीत और  
लाल आदि प्रतीतिकी विचित्रता-  
रूप इतका नाश हो जायगा  
अर्थात् उसके नाश यानी अभावका  
प्रसंग उपस्थित हो जायगा और  
प्रत्यक्ष-सिद्ध होनेके कारण प्रत्यय-  
वैचित्र्यरूप इतका अभाव है नहीं ।  
अतः प्रत्ययवैचित्र्यरूप इतकी  
उपलब्धिसे परतन्त्र यानी दूसरोंके  
शास्त्र उन परकीय तन्त्रोंका  
अर्थात् परकीय तन्त्रोंके अभित जो  
प्रज्ञानक अतिरिक्त अन्य बाह्य पदार्थ  
हैं उनका अस्तित्व भी स्वीकार  
किया गया है ।

केवल प्रकाशमात्ररूपा प्रज्ञप्ति  
की यह विचित्रता नील-पीतादि-

क्योंकि जिस वस्तुका कोई वादि ( कारण ) नहीं होता उसका अदि ( जन्म ) भी नहीं होता ॥ २३ ॥

अनादेरादिरहितात्फलाद्देतुर्न  
जायते । न अनुत्पन्नादनादेः  
फलाद्देतोर्जन्मेभ्यते स्वया । फलं  
वादिरहितादनादेर्हेतोरन्वात्स्व-  
मावत् एव निर्निमित्तं जायत  
इति नाम्युपगम्यते ।

तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता  
स्वया हेतुफलयोरेकमेवाम्युप  
गम्यते । यस्मादादिः कारणं न  
विद्यते तस्य लोके तस्य आदिः  
पूर्वोक्ता वाचिर्न विद्यते । कारण-  
घत एव आदिरभ्युपगम्यते  
नाकारणवत् ॥ २३ ॥

अनादि अर्थात् अदिरहित फल-  
से हेतु उत्पन्न नहीं होता । जिसकी  
कभी उत्पत्ति नहीं हुई ऐसे अनादि  
फलसे तो तुम हेतुका जन्म मानते  
ही नहीं हो, और न ऐसा ही  
मानते हो कि अनादि—आदिरहित  
अर्थात् अजन्म हेतुसे बिना किसी  
निमित्तके समावत् ही फलकी  
उत्पत्ति हो जाती है ।

अत हेतु और फलका अनादित्व  
माननेवाले तुम्हारे द्वारा उनकी  
अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली जाती  
है, क्योंकि जेकमें जिस वस्तुका  
वादि—कारण नहीं होता उसका  
आदि अर्थात् पूर्वोक्त जन्म भी नहीं  
होता । जिसका कोई कारण होना है  
उसीका जन्म भी माना जाता है,  
कारणरहित पदार्थका नहीं ॥ २३ ॥

### वासार्थमाद निरूपण

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरण | पूर्वोक्त अर्थको ही पुनः करमकी  
धिकीर्षया पुनराधिपति— | इससे फिर दोबारा प्रदर्शित करते हैं—  
प्रज्ञप्ते सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशत ।

सक्लेशस्योपलब्ध्येऽप्य परतन्त्रास्तित्वा मता ॥ २४ ॥

प्रज्ञप्ति ( चान्दोग्यशास्त्रि ज्ञान ) को सनिमित्त ( अविद्ययापयुक्त )  
मात्रता वाहिये; नहीं तो [ चान्दोग्यशास्त्रि ] इतका मास हो जायगा ।

इसमें सिद्धा [ अग्निदाह आदि ] क्लेशकी उपलब्धिसे भी अन्य मत्त-  
कल्पितोके शास्त्रद्वारा प्रतिपादित इतकी सत्ता मानी गयी है ॥ २४ ॥

प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादि  
प्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्,  
निमित्तं कारणं विषय इत्ये-  
वस्तनिमित्तत्वं । सविषयत्व  
स्वात्मव्यतिरिक्तविषयत्वेऽप्यु-  
प्रतिष्ठानीमहे । न हि निर्विषया  
प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्,  
तस्या सनिमित्तत्वात् । अन्यथा  
निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीत  
ठाहितादिप्रत्ययवैचिष्यस्य द्रव्यस्य  
नाशतो नाज्ञाऽभावः प्रसज्येते  
स्पर्श । न च प्रत्ययवैचिष्यस्य  
द्रव्यम्याभावोऽस्ति प्रत्ययत्वात् ।  
अतः प्रत्ययवैचिष्यस्य द्रव्यस्य  
वर्धनात्, परेषां तन्त्रं परतन्त्र  
मित्यन्यथात्वम्, तस्य परतन्त्रस्य  
परतन्त्राद्यस्य धार्यार्थस्य दान-  
व्यतिरिक्तत्वास्तिता मतामिप्रता ।  
न हि प्रज्ञप्तं प्रकाशमात्रस्य-  
रूपाया नीलपीतादिषासात्म्यन-

प्रज्ञान अर्थात् शब्दादि-प्रतीति  
का नाम प्रज्ञप्ति है । यह समिचित  
है । निमित्त-कारण अर्थात् विषयको  
कहते हैं, अतः सनिमित्त-सविषय  
यानी अपनेसे अतिरिक्त विषयके  
सहित है-ऐसी हम [ उसके विषय  
में ] प्रतिष्ठा करते हैं । [ अर्थात्  
हमारा कथन है कि ] प्रज्ञप्ति यानी  
शब्दादि-प्रतीति निर्विषया नहीं हो  
सकती, क्योंकि यह सनिमिता है ।  
अन्यथा उसे निर्विषय माननेपर तो  
शब्द, स्पर्श एवं नील, पीत और  
धाहित आदि प्रतीतिकी विविध-  
रूप इतका नाश हो जायगा  
अर्थात् उसके नाश यानी अभावका  
प्रसंग उपस्थित हो जायगा और  
प्रत्यय-सिद्ध होनेके कारण प्रत्यय-  
वैचिष्यरूप इतका अभाव है नहीं ।  
अतः प्रत्ययवैचिष्यरूप इतकी  
उपलब्धिसे, परतन्त्र यानी दूसरेके  
शास्त्र उन परकीय तन्त्रोंका  
अर्थात् परकीय तन्त्रोंके आश्रित जा  
प्रज्ञानके अतिरिक्त अन्य वाद्य पदार्थ  
हैं उनका अस्तित्व भी स्वीकार  
किया गया है ।

किस प्रकारशास्त्ररूपका प्रज्ञप्ति  
की यह विविधता नील-पीतादि-



क्योंकि जिस वस्तुका कोई आदि ( कारण ) नहीं होता उसका अर्थ ( जन्म ) भी नहीं होता ॥ २३ ॥

अनादेरादिरहितात्फलाद्धेतुर्न  
 जायते । न ह्यनुत्पन्नादनादेः  
 फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते स्वया । फलं  
 चादिरहितादनादेर्हेतोरवास्तव  
 मात्वत एव निर्निमित्त जायत  
 इति नाम्युपगम्यते ।

तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता  
 स्वया हेतुफलयोरजन्मैवाम्युप  
 गम्यते । यस्मादादिः कारणं न  
 विद्यते यस्य लोके तस्य ह्यदिः  
 पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते । कारण-  
 वत एव ह्यदिरभ्युपगम्यते  
 नाकारणवतः ॥ २३ ॥

अनादि अर्थात् अदिरहित फल-  
 से हेतु उत्पन्न नहीं होता । जिसकी  
 कमी उत्पत्ति नहीं हुई ऐसे अनादि  
 फलसे तो तुम हेतुका जन्म मानते  
 ही नहीं हो, और न ऐसा ही  
 मानते हो कि अनादि—अदिरहित  
 अर्थात् अजन्म हेतुसे बिना किसी  
 निमित्तके सम्भवन ही फलकी  
 उत्पत्ति हो जाती है ।

अतः हेतु और फलका अनादित्व  
 माननकाले तुम्हारे द्वारा उनकी  
 अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली जाती  
 है, क्योंकि लोकमें जिस वस्तुका  
 अदि—कारण नहीं होता उसका  
 आदि अर्थात् पूर्वोक्त जन्म भी नहीं  
 होता । जिसका कोई कारण होता है  
 उसीका जन्म भी माना जाता है।  
 कारणरहित पदार्थका नहीं ॥ २३ ॥

### शास्त्रार्थवाद निरूपण

उक्तस्यैवार्थस्य ह्यदीकरण  
 चिकीर्षया पुनराधिपति—

पूर्वोक्त अर्थको ही पुष्ट करनेकी  
 इच्छासे फिर दोबारा प्रदर्शित करते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।

सकलेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तित्वा मता ॥ २४ ॥

प्रज्ञप्ति ( शब्दस्पर्शादि ज्ञान ) को सनिमित्त ( बाह्यनिमित्तपुत्र )  
 मानना चाहिये नहीं तो [ शब्दस्पर्शादि ] द्वैतका नाश हो जायगा ।

इसके सिवा [ अग्निदाह आदि ] क्लेशकरी उपलब्धिसे भी अन्य मन्त्र-  
वचनमन्त्रोंके शास्त्रद्वारा प्रतिपादित दैतकी सत्ता मानी गयी है ॥ २४ ॥

प्रज्ञानं प्रवृत्तिः शुद्धादि  
प्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्;  
निमित्तं कारणं विषय इत्ये  
तत्सनिमित्तत्व ' सविषयत्व  
स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येक  
प्रतिबानीमहे । न हि निर्विषया  
प्रवृत्तिः शुद्धादिप्रतीतिः सात्,  
तस्याः सनिमित्तत्वात् । अन्यथा  
निर्विषयत्वे शुद्धस्पर्शनीलपीत-  
लोहितादिप्रत्ययवैविध्यस्य द्वयस्य  
नाशतो नाशोऽभाव प्रसन्नेते-  
त्यर्थः । न च प्रत्ययवैविध्यस्य  
द्वयस्याभावाऽस्ति प्रत्ययत्वात् ।  
अतः प्रत्ययवैविध्यस्य द्वयस्य  
दर्शनात्, परंपां तन्त्रं परतन्त्र  
मित्यन्यशास्त्रम्, तस्य परतन्त्रस्य  
परतन्त्राध्ययस्य बाह्यार्थस्य ज्ञान  
व्यतिरिक्तसास्त्रिता मतामिप्रता ।

न हि प्रवृत्ते प्रकाशभावस्य  
रूपाया नीलपीतादिबाह्यत्वम्यन

प्रज्ञान अर्थात् शुद्धादि-मतीति  
का नाम प्रवृत्ति है । यह समिचित  
है । निमित्त-कारण अर्थात् विषयको  
कहते हैं, अतः समिचित-सविषय  
यानी अपनेसे अतिरिक्त विषयके  
सहित है-ऐसी हम [ उसके विषय  
में ] प्रतिज्ञा करते हैं । [ अर्थात्  
हमारा कथन है कि ] प्रवृत्ति यानी  
शुद्धादि-मतीति निर्विषया नहीं हो  
सकती, क्योंकि यह समिचित है ।  
अन्यथा उसे निर्विषय माननेपर तो  
शुद्ध, स्पर्श एवं नील, पीत और  
लोहित आदि प्रतीतिकी विधिवत्ता-  
रूप दैतक्य भाव हो जायगा  
अर्थात् उसके भाव यानी अभावका  
प्रसंग उपस्थित हो जायगा और  
प्रवृत्ति-सिद्ध होनेके कारण प्रत्यय-  
वैविध्यरूप दैतक्य अभाव है नहीं ।  
अतः प्रत्ययवैविध्यरूप दैतकी  
उपलब्धिसे, परतन्त्र यानी इसमें  
शास्त्र उक्त परकीय तन्त्रोंके  
अर्थात् परकीय तन्त्रोंके आश्रित जो  
प्रवृत्तिके अतिरिक्त अन्य बाह्य फलार्थ  
हैं उनका वस्तुत्व भी स्वीकार  
किया गया है ।

केवल प्रकाशभावप्रकारका प्रवृत्ति  
की यह विधिवत्ता नीलपीतादि

वैचित्र्यमन्तरण म्यमात्रमदेनैव  
वैचित्र्यं संभवति । स्फटिकस्यैव  
नीलाणुपाष्याभयैर्विना वैचित्र्यं  
न घटत इत्यभिप्रायः ।

इतश्च परतन्त्राभ्रमस्य बाह्यार्थ-  
स्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तित्वा ।  
संकलेश्वनं संकलेश्च दुःखमित्यर्थः ।  
उपलम्ब्यसे बाधिदाहादिनिमित्तं  
दुःखम् । यद्यन्यादिबाधं दाहादि  
निमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न  
स्यात्ततो दाहादिदुःखं नाप-  
लम्ब्येत । उपलम्ब्यते तु । अतस्तेन  
मन्यामहेऽस्ति बाधोऽर्थ इति ।  
न हि विज्ञानमात्रे संकलेशो युक्तः,  
अन्यत्रादर्शनादिस्वमिप्रायः ॥२४॥

बाध आलम्बनोर्था विचित्रताक  
सिवा कथञ्च स्वभावभङ्गते ही हानी  
सम्भव नहीं है । तात्पर्य यह है  
कि स्फटिकत्र समान, नीला-पीतादि  
उपाभियोगत्र भाग्य किये बिना  
यह विचित्रता नहीं हो सकती ।

इसके सिवा इसलिये भी दूसरों-  
के शास्त्रोंके आधित ज्ञानव्यतिरिक्त  
बाध पदार्थोंके अस्तित्व स्वीकार  
किया गया है कि अग्निदाहादि  
के कारणसे होनकार्य संकलेश मान्य  
दुःख उपलम्ब्य होता है । संकलेशका  
अर्थ संकलेशान अर्थात् दुःख है । यदि  
विज्ञानसे व्यतिरिक्त दाहादिक  
निमित्तमूत अग्नि आदि बाध  
कार्य न होता तो दाहादिजनित  
दुःख उपलम्ब्य नहीं होना चाहिये  
था । किन्तु उपलम्ब्य होता ही है  
इससे हम मानते हैं कि बाध पदार्थ  
वस्तु है । अभिप्राय यह है कि  
केवल विज्ञानमात्रमें कलेश होना  
सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र  
ऐसा नहीं दृश्य गया ॥ २४ ॥

विज्ञानबाधिकर्तृक बाह्यार्थबाधनिषेध

अत्रोच्यते—

प्रकृप्ते सनिमित्तत्वमिष्यते  
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते

इस विषयमें हमारा कथन है कि—

युक्तिवर्शनात् ।

भूतवर्शनात् ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिक सन्निपत्य स्वीकार करते हो। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे हम उस निम्नका अन्विपत्य मानते हैं ॥ २५ ॥

घाटमेव प्रज्ञप्तः सन्निपित्तत्वं  
इयमकलेशापलम्बिषुक्तिदर्शना-  
दिप्यस्य त्वया । स्थिरीभव  
तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तया  
स्वाम्युपगमे कारणमित्यत्र ।

मृष्टि किं तव इति ।

उच्यते । निमित्तस्य प्रज्ञ  
त्पालम्बनामिमत्स्य घटादेर  
निमित्तत्वमनालम्बनत्ववैचिष्या-  
हत्त्वमिप्यतेऽस्माभिः । कथम् ?  
मूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्ये  
तत् । न हि घटा यथामूतमृदूप  
दर्शने सति तद्व्यतिरेकेमास्ति,  
यथाश्वान्महिषः घटो वा तन्तु  
व्यतिरेकेण, तन्तवर्षांशुव्यति  
रेकणोर्येवमृच्छरोच्चरमूतदर्शन आ  
शब्दप्रत्ययनिराधानैव निमित्त  
सुपलमामह इत्यर्थः ।

ठीक है, इस प्रकार दु समय  
द्वैतकी उपलम्बिरूप युक्तिके अनुसार  
तुम प्रज्ञप्तिक सन्निपत्य स्वीकार  
करते हो, परन्तु 'युक्तिदर्शन वस्तुकी  
यथार्थताके ज्ञानमें कारण है'—अपन  
इस सिद्धान्तमें तुम स्थिर हो जाओ।

बाह्यार्थवादी—कहिये, उससे क्या  
आपत्ति होती है ?

विज्ञानवादी—हमारा कथन है  
कि प्रज्ञप्तिके आधरूपसे स्वीकार  
किये हुए घटाणि निम्नका हम  
अन्विपत्य—प्रतीतिक अनाधरूप  
अर्थात् विक्रिस्ताका अहेतुत्व मानते  
हैं । कैसे मानते हैं ? मूतदृष्टिसे  
अर्थात् परमापदृष्टिसे । जिस प्रकार  
अधसे महिय पृथक् है, उस प्रकार  
मृत्तिकके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान  
होनेपर, घट उससे पृथक् सिद्ध नहीं  
होता । इसी प्रकार तन्तुसे पृथक्  
पट और अंशुसे पृथक् तन्तु भी  
सिद्ध नहीं होते । तात्पर्य यह है  
कि इसी तरह उत्तरोत्तर यथार्थ  
तत्त्वको देखते-देखते शब्द-प्रतीतिक  
निरोध हो जानेपर हम कोई भी  
निम्न नहीं देखते ।

अथ षामृतदर्शनाद्याहार्य  
स्यानिमित्तत्वमिष्यते, रज्ज्वा  
दाविव सर्पादेरित्यर्थः । भ्रान्ति-  
दर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्या-  
निमित्तत्वं मवेत् । तदभावे  
ऽभावात् न हि सुषुप्तसमाहित  
सृष्टानां भ्रान्तिदर्शनाभाव  
आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ  
उपलभ्यते । न ह्युन्मत्तावगत  
षस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतंगम्यते ।  
एतेन द्वयदर्शन सकलस्रोतसम्बन्ध  
प्रस्युक्ता ॥ २५ ॥

अथवा [ यो समञ्चो कि ] जिस  
प्रकार रज्जु आदिमें आरोपित सर्पदि  
वस्तुतः प्रतीतिके आच्छन्वन नहीं है  
उसी प्रकार अमृतदर्शनके कारण  
हम बाह्यार्थोंको प्रतीतिक आच्छन्वन  
नहीं मानते । भ्रान्तिदृष्टिक विषय  
होनेके कारण इन निमित्तोंका  
अनिमित्तत्व है, क्योंकि उसका अभाव  
होनेपर इनकी भी उपलब्धि नहीं  
होती । सोये हुए, समाहित और  
सुप्त पुरुषोंको, उनकी भ्रान्तिदृष्टिक  
अभाव हो जानेपर, आत्मासे अतिरिक्त  
किसी बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं  
होती । उन्मत्त पुरुषको निन्दणी  
दनेवाली वस्तु उन्मादरुम्य मनुष्यको  
भी स्पर्श नहीं जान पड़ती । इस  
कल्पसे इतन्मत्त और क्लेशकी  
उपलब्धि दोमोड़ीकर निराकरण  
किया गया है ॥ २५ ॥

यस्माद्भास्तिषाद्य निमित्तमतः—

क्योंकि बाह्य विषय है ही नहीं,  
इसलिये—

चित्तं न सस्पृशत्यर्थं नार्थाभास तथैव च ।

अमृतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥ २६ ॥

चित्त किसी पदार्थका स्पर्श नहीं करता और इसी प्रकार न किसी  
अध्यात्मसकल ही प्रयत्न करता है । क्योंकि पदार्थ है ही नहीं इसलिये  
पदार्थाभास भी उस चित्तमें पृथक् नहीं है ॥ २६ ॥

चित्तं न स्पृशत्यर्थं बाष्पा  
लम्बनविषयम्, नाप्यर्थाभास  
चित्तत्वास्त्वप्रचित्तवत् । अमृतो  
हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवद्वच  
षाम्नाः क्षुब्दाद्यर्थो यत् उक्तहेतु  
त्वात् । नाप्यर्थाभासमि  
त्तास्पृशन्नचित्तमेव हि घटाद्यर्थ  
वदवभासते यथा स्वप्ने ॥ २६ ॥

चित्त, चित्त होनेके कारण ही  
स्वप्नचित्तके समान, बाष्प आलम्बन  
के विषयमूत किन्ती पदार्थको स्पर्श  
नहीं करता और न अर्थ्याभासको ही  
प्राप्त करता है, क्योंकि उपर्युक्त  
हेतुसे ही स्वप्नगत पदार्थोंके समान  
जागरित अवस्थामें भी शब्दादि बाष्प  
पदार्थ हैं नहीं, और न चित्तसे  
पृथक् अर्थ्याभास ही है । घटादि  
पदार्थोंके समान चित्त ही भासता  
है, वैसा कि वह स्वप्नमें भास  
करता है ॥ २६ ॥



ननु विपर्यासस्तर्हसति  
घटाद्यौ घटाद्याभासता चित्तस्य ।  
तथा च सत्यविपर्यासः कश्चि-  
द्वक्तव्य इति । अत्रोच्यते—

अत्रिके न होमेपर भी चित्तको  
क्यादिकी प्रतीति होना—यह तो  
विपरीत ज्ञान है । ऐसी अवस्थामें  
अविपरीत (सम्बन्ध) ज्ञान क्या  
होगा ? यह बतलाना चाहिये ।  
इसपर कहते हैं—

निमित्तं न सदा चित्तं सस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।

अनिमित्तो विपर्यास कथं तस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

[ मूत, भविष्यत् और वतमान ] तीनों अवस्थाओंमें चित्त कभी  
किन्ती विषयको स्पर्श नहीं करता । किन्तु उसे बिना निमित्तके ही विपरीत  
ज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥

निमित्तं विषयमतीतानागत  
वर्तमानाध्यमु त्रिष्वपि सदा  
चित्तं न स्पृशेदेव हि । यदि हि  
अतीत, अनागत और वतमान—  
इन तीनों ही अवस्थाओंमें चित्त कभी  
निमित्त यानी विषयको स्पर्श नहीं



यस्मादसत्येव घटादौ बटाद्या-  
मासता चित्तस्य विज्ञानवादिना  
भ्युपगता तदनुमोदि-  
तम् अस्माभिरपि मूढदर्शनात्,  
तस्मात्तस्मापि चित्तस्य आप्यमाना  
पमासतासत्येव बन्मनि पुक्ता  
भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्,  
अथा चित्तदृश्यं न जायते ।

अतस्तस्य चित्तस्य ये आर्ति-  
पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणि-  
कत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्मत्वादि-  
व, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूप-  
दृष्टुमशक्यं पश्यन्तः ते च  
पश्यन्ति ते पदं पस्यादीनाम् ।  
अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्यो-  
ऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थं येऽपि  
शून्यवादिनः पश्यन्त एव  
सर्वशून्यतां मूढदर्शनस्यापि  
शून्यतां प्रतिबानसे ते तथाऽपि  
साहसिकवराः स्वं मूढिनापि  
विपृथन्ति ॥ २८ ॥

क्योंकि विज्ञानवादीने घटादिक-  
न होनेपर भी चित्तको घटादिकी  
प्रतीति होनी स्वीकार की है और  
यथार्थदृष्टि हमेके कारण उसका  
हमने भी अनुमोदन किया है,  
इसलिये उसकी मानी हुई चित्तकी  
उत्पत्तिकी प्रतीति भी उसकी उत्पत्ति-  
के अभावमें ही होनी सम्भव है ।  
अत जिस प्रकार चित्तके दृश्यका  
बन्म नहीं होता उसी प्रकार चित्त-  
की भी उत्पत्ति नहीं होती ।

इसलिये जो विज्ञानवादी उस  
चित्तकी उत्पत्ति तथा उसका  
क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व एवं  
अनात्मत्व आदि देखते हैं—उस  
चित्तसे ही, जिसका देखना सर्वथा  
असम्भव है ऐसे चित्तके स्वरूपका  
देखनेवाले वे निश्चय ही आकाशमें  
पक्षी आदिके कारण देखते हैं । अत  
तत्पर्य यह है कि वे अन्य द्वैत-  
वादियोंकी अपेक्षा भी अधिक साहसी  
हैं और जो शून्यवादी सबकी  
राम्यता देखते हुए अपने दर्शनकी  
भी शून्यताकी प्रतिज्ञा करते हैं वे  
तो उनसे भी बड़कर साहसी हैं—वे  
आकाशवाक्ये मुद्दीसे ही पकड़ना  
चाहते हैं ॥ २८ ॥



उपक्रमक उपसंहार

उक्तैर्हेतुभिरबमेक प्रसोति । पूर्वोक्त हेतुओंसे यह सिद्ध हुआ कि एक अवन्मा ब्रह्म ही है । अब, पहले जिसकी प्रतिष्ठा की है उसके पक्षक उपसंहार करनेके लिये यह श्लोक है—

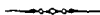
सत्कलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः—

अजातं जायते यस्मादजाति प्रकृतिस्तत ।

प्रकृतेरन्यथामावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ २० ॥

क्योंकि अवन्मा [ चित्त ] का ही जन्म होता है इसलिये अजाति ही उसका सम्भवन है और समावकी निपरीतता किसी प्रकार नहीं होगी ॥ २० ॥

अजातं मन्विषत्तं ब्रह्मैव वायत इति वादिमि परिकल्पन्वते । अजात जो ब्रह्मरूप चित्त है कभी उत्पन्न होता है—एसी वादियों द्वारा कल्पना की जाती है क्योंकि उस अजातका ही जन्म होता है इसलिये अजाति उसका समाव है । तब, इसलिये उस अजातरूप सम्भवन अन्मरूप निपरीतभाव किसी प्रकार नहीं होगा ॥ २० ॥



अर्थ चापर आत्मनः संसार मोक्षयोः परमार्थसद्भावादिनां दाप उच्यते—

आत्माके संसार और मोक्ष-दोनोंहीका पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करनेवाले वादियोंके पक्षक यह एक बृहत्तम दोष कथक्य जाता है—

अनादेरन्तवत्त्वं च ससारस्य न सेत्स्यति ।

अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥ ३० ॥

अनादि संसारका तो कभी अन्तवत्त्व सिद्ध नहीं हा सकत और साँ मोक्षकी कभी अनन्तता नहीं हा सकेगी ॥ ३० ॥

अनादेरतीतकोटिरहितस्य

ससारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न

सेत्स्यति युक्तित् सिद्धिं नीप

यास्यति । न अनादिं सन्नन्त

वान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लाक ।

धीजाडुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो

इष्ट इति चेत्, न; एकवस्त्व

माधेनापादितत्वात् ।

तथानन्ततापि विज्ञानप्राप्ति

कालप्रभवस्य माधस्यादिमता न

भविष्यति, पदादिष्वदर्शनात् ।

पदादिविनाशवद्वस्तुत्वाददाप

इति चेत्, तथा च माधस्य

परमार्थसद्भाषप्रतिज्ञादानिः ।

अनादि—अर्थात्कोटिमे रहित

संसारका अन्तवत्त्व अर्थात् समाप्त होना

युक्तिमे सिद्ध नहीं हागा । लोकमे बोध

मी पदार्थ अनादि होकर अन्तवत्त्व

होना नहीं दखा गया है । यदि कहो

कि धीजाडुरसम्बन्धकी निरस्तगमाका

विच्छेद हाता दखा गया है ? तो

ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि

धीजाडुरसन्तानि कोई एक पदार्थ न

होनका कारण उसके अनादित्वका

निराकरण ता पहल कर लिया

गया है ।

इसी प्रकार विज्ञानप्राप्तिके

समय होनेकाल साँ मोक्षकी

अनन्तता भी नहीं होगी, क्योंकि

षट्पदि [ जन्म पदार्थों ] मे ऐसा

देखा नहीं गया । यदि कहो कि

षट्पदिनाशके समाप्त अवस्तुरूप

होनेसे [ मोक्षमे ] यह दोर नहीं

था सकत तो इसमे माधक

परमार्थिक सद्भाषविपक्ष प्रतिज्ञाकी

हानि दागी । इसका सिद्ध [ यदि

मोक्षका अमरूप की माना जाए तो

भी ] शक्यताका समान असत

असत्त्वाद्व शृङ्खविपाणस्पथादि  
मत्त्वामावद्य ॥ ३० ॥

होनेके कारण भी उसके अदिमत्त्व  
का अभाव ही है ॥ ३० ॥

प्रपञ्चके असत्त्वमें हेतु

आदायन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

वितथैः सदृशा सन्तोऽवितथा इव लक्षिता ॥ ३१ ॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी वैसा [ अर्थात् असत्त्व ] ही है । ये पदापसमूह असत्त्व समान होकर भी सत्त्वमें निश्चयी देते हैं ॥ ३१ ॥

सम्प्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।

तस्मादाद्यन्तवस्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ३२ ॥

उम ( जाग्रत्पदार्थों ) की सम्प्रयोजनता स्वप्नस्थानमें अस्ति हो जाती है । उन आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे मिथ्य ही मिथ्य माने गये हैं ॥ ३२ ॥

वैतथ्ये कृतव्यास्यानौ

श्लाघाविह ससारमोक्षामाद्य-

प्रसङ्गेन पठितौ ॥ ३१ ३२ ॥

वैतथ्यप्रकरणमें इन दोनों

श्लोकोंकी व्याख्या की जा चुकी है ।

यहाँ संसार और मोक्षके अभावके

प्रसङ्गमें उन्हें फिर एक दिख

दिए हैं ॥ ३१ ३२ ॥

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्या तर्निदर्शनात् ।

सद्युतेऽस्मि प्रवेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥ ३३ ॥

जब कि शरीरक भीतर देव जानेके कारण स्वप्नस्थानमें सभी पदार्थ मिथ्य हैं तो इस संकुचित स्थानमें ( निरवकाश स्थानमें ) ही मूर्खोंका दर्शन कैसे हो सकता है ! ॥ ३३ ॥

निमित्तस्यानिमित्तस्वमिष्यते  
मृतदर्शनादिस्वयमर्थं प्रपञ्च्यते  
एतै स्लोकैः ॥ ३३ ॥

इत एकोक्तेश्च "निमित्तस्यानि  
मित्तत्वमिष्यते मृतदर्शनात्"  
( ४ । २५ ) इत एकोक्ते ही  
अर्थका विस्तार किया गया  
है ॥ ३३ ॥

सप्तम मीप्यात्मरूपण

न युक्त दर्शन गत्वा कालस्यानियमाद्रतौ ।

प्रतियुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ ३४ ॥

देशान्तरमें जानमें जा समय स्थिता है, [ क्षमात्स्वामे ] उसका  
नियम न होनेके कारण सप्तमक पदायोंको उनका पास जाकर दखना तो  
सम्भव नहीं है । इसके सिवा जागनेपर भी कोई उस ( सप्तमदि ) दशमें  
नहीं रहता ॥ ३४ ॥

जागरिते गत्यागमनकालो  
नियता देष्ट प्रमाणतो यस्तस्या  
नियमाभियमस्यामावात्स्वम न  
दशान्तरगमनमिन्यर्थ ॥ ३४ ॥

जागृतिमें जो भान-जानक समय  
और प्रमाणसिद्ध दश नियत हैं  
उनका नियम न होनेके कारण  
क्षमात्स्वामे दशान्तरमें जाना नहीं  
होता—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

मिश्राद्यै सह समन्त्र्य सद्युद्धो न प्रपद्यते ।

गृहीत चापि यत्किञ्चित्प्रतियुद्धो न पश्यति ॥ ३५ ॥

[ स्वप्नावस्थामे ] मिश्राधिके साथ मन्त्रण पर [ वह स्वप्नदर्शी पुरुष ]  
जागनेपर उसे नहीं पाता तथा उसका जो कुछ [ स्वप्नावस्थामे ] प्रकृत  
किया होता है उसे जागनेपर नहीं देखता ॥ ३५ ॥

मिश्राद्यैः सह समन्त्र्य तद्देव  
मन्त्रणं प्रतिपुद्धो न प्रपद्यते ।

[ स्वप्नमें ] मिश्राधिक साथ  
मन्त्रण करके जाग पड़नेपर फिर  
उसी मन्त्रणको नहीं पाता और

गृहीतं च यत्किंचिद्विरम्पादि  
न प्राप्नोति । अतश्च न देशान्तर  
गच्छति स्वप्ने ॥ ३५ ॥

[ उस समय ] उसने जो कुछ  
क्षणादि प्रवृत्त किया होता है उसे  
भी प्राप्त नहीं करता । इसलिये भी  
स्वप्नावस्थामें वह किसी देशान्तरको  
नहीं जाता ॥ ३५ ॥

स्वप्ने चावस्तुक काय' पृथगन्यस्य दर्शनात् ।

यथा कायस्तथा सव चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥ ३६ ॥

स्वप्ने जो शरीर होता है वह भी अवस्तुक है, क्योंकि उससे भिन्न  
एक दूसरा शरीर [ दृश्यपर पक्का हुआ ] देखा जाता है । वैसे वह  
शरीर है वैसे ही सम्पूर्ण चित्तदृश्य अवस्तुक है ॥ ३६ ॥

स्वप्ने चात्रन्दृश्यते यः कश्चिः

सावस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वाप-  
देशम्पक्षे पृथक्कामान्तरस्य  
दर्शनात् । यथा स्वप्नदृश्यः  
कायोऽसम्भवा सर्वं चित्तदृश्यम-  
वस्तुक जागरितेष्वपि चित्तदृश्य  
त्वादित्यर्थः । स्वप्नसमत्वाद्  
सजागरितमपीति प्रकरणार्थः ३६

स्वप्ने घुमता हुआ जो शरीर  
देखा जाता है वह अवस्तुक है,  
क्योंकि उस स्वप्नप्रदेशस्य शरीरसे  
भिन्न एक और शरीर [ सम्भव  
पक्का हुआ ] देखा जाता है । जिस  
प्रकार स्वप्ने स्थायी घनेका  
शरीर असत् है उसी प्रकार जागरित  
अवस्थामें साठ चित्तदृश्य, केवल  
चित्तका ही दृश्य होनेके कारण,  
असत् है—यह इसका तात्पर्य है ।  
प्रवृत्त अर्थ यह हुआ कि स्वप्नके समान  
होनेके कारण जागृत-अवस्था भी  
असत् ही है ॥ ३६ ॥

स्वप्न भार जाग्रतका सर्व-कारणत्व व्यावहारिक है

इतथासच्च जाग्रदन्तुन—

जाग्रत-भावोंकी असत्ता इसलिये  
भी है कि—

ग्रहणाज्जागरितवच्छेत्तु स्वप्न इष्यते ।  
यच्छेत्तुत्वाच्च तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥ ३७ ॥

जाग्रत्के समान ग्रहण किये जानके कारण स्वप्न उत्पन्न कार्य माना जाता है । किन्तु जाग्रत्कार्य कार्य होनेके कारण स्वप्नप्रदाके स्थिरे ही जाग्रत्-अवस्था सत्य मानी जाती है ॥ ३७ ॥

जागरितवजागरितस्य इव  
ग्रहणावृत्त्याहकल्पेण स्वप्नस्य  
तजागरित इतरस्य स्वप्नस्य स  
स्वप्नस्तद्वेतुर्जागरितकार्यमिष्यते ।  
तद्वेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव  
स्वप्नदृश्य एव सजागरितं न  
स्वप्नेषाम् । यथा स्वप्न इत्य  
मिप्रायः ।

जागरितके समान ही प्रहण  
प्रहणरूपमे स्वप्नका भी प्रहण होनेसे  
इस स्वप्नप्रदाका जाग्रत् कारण है,  
इसस्थिरे वह स्वप्नप्रदाका तद्वेतुक  
यानी जाग्रत्कार्य कार्य मानी जाती है ।  
तद्वेतुक अर्थात् जाग्रत्कार्य कार्य  
होनेके कारण उस स्वप्नप्रदाके ही  
स्थिरे जाग्रत् अवस्था सत्य है, औरके  
स्थिरे नहीं; जैसा कि स्वप्न—यह  
इसका तात्पर्य है ।

यथा स्वप्नः स्वप्नदृश्य एव  
मन्साधारणविद्यमानवस्तुबद्ध  
मासत तथा तत्कारणत्वा  
त्साधारणविद्यमानवस्तुबद्ध  
माममान न तु साधारण  
विद्यमानवस्तु स्वप्नवद्वेत्य  
मिप्राय ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार स्वप्न स्वप्नप्रदाके  
ही सत् अर्थात् साधारण विद्यमान  
वस्तुके समान मासता है उसी  
प्रकार उत्पन्न कारण होनेसे जाग्रत्  
की भी साधारण विद्यमान वस्तुके  
समान प्रतीति होती है । किन्तु  
वस्तुन स्वप्न समान ही यह  
साधारण विद्यमान वस्तु है नहीं—  
यह इसका अन्वय है ॥ ३७ ॥

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि शब्द—स्वप्नका कारण होनेपर भी  
जागरितवस्तुना न स्वप्नवद्वेत्य जाग्रत्कार्यका स्वप्नका समान

वस्तुत्वम् । अत्यन्तच्छटा द्वि  
स्वमो आगरितं तु स्थिरं  
सह्यते ।

सम्भवमविवेकिनां स्यात् ।

विवेकिनां तु न कश्चिद्वस्तुन

उत्पादः प्रसिद्धोऽतः—

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वाद्ज

सर्वमुदाहृतम् ।

न च भूतादभूतस्य सम्बोऽस्ति कथञ्चन ॥३८॥

अपत्तिके प्रसिद्ध न हानेके कारण सब कुछ भ्रम ही कहा जाता है । इसके सिवा सब वस्तुमें असत्की उत्पत्ति किसी प्रकार हो भी नहीं सकती ॥ ३८ ॥

अप्रसिद्धत्वाद्दुत्पादस्यास्यैव  
सर्वमित्यस्य सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु  
“समाध्याम्पन्तरो भ्रमः”  
( ब्र० उ० २।१।२ ) इति ।  
यद्यपि मन्यसे आगरितात्सतो  
ऽतस्त्वमो जायत इति उदसत् ।  
न भूतादिघमानादभूतस्यासतः  
सम्बोऽस्ति नाक । न वासतः  
गुणविषाणादः सम्भवो ष्ट  
कथञ्चिदपि ॥ ३८ ॥

अपत्तिके सिद्ध न होनेसे सब  
कुछ भ्रम ही है; इसलिये वेदान्तमें  
“समाध्याम्पन्तरो भ्रमः” इत्यपि  
रूपसे सबका भ्रम ही कहा है ।  
और तुम जो मानते हो कि सब  
जाग्रदमे असत् स्वनकी उत्पत्ति  
होती है सो भी ठीक नहीं; क्योंकि  
लोकमें भूत विद्यमान वस्तुमें असत्  
का जन्म नहीं हुआ करता । दारा  
शुद्धाणि अस्तुपदापोकर जन्म किसी  
भी प्रकार देखनेमें नहीं आता ॥३८॥

ननुक्तं त्वयैव स्वमा आगरित-

साहा—यह तो तुम्हींम कहा था  
कि स्वन आगरितका पर्यय है; फिर

कार्यमिति उत्कृष्टमुत्पादोऽप्रसिद्ध  
इत्युच्यते ?

शृणु तत्र यथा कार्यकारण-  
मावोऽस्माभिरभिप्रेत इति—

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मय ।

असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३९॥

[ नीच ] ज्ञानप्रद अस्त्वामे असत्पदार्थोंको देखकर उन्हें कि संस्कारसे  
युक्त हो उन्हें स्वप्नमें देखना है, किन्तु ज्ञानावस्थामें भी असत्पदार्थोंको ही  
देखकर जाग्नपर उन्हें नहीं देखना ॥ ३९ ॥

असदविद्यमानं रञ्जुसर्पं

वद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा

तद्भावाभासितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि

जागरितवद्व्याभासप्रारूपेण

विकल्पयन्पश्यति । तथासत्स्वप्ने

ऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्य

त्यविकल्पयन् । वस्तुभावात्तथा

जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न

पश्यति कदाचिदित्यर्थः । तस्मा

ज्जागरितं स्वप्नेहेतुरुच्यते न तु

परमार्थसदिति कृत्वा ॥३९॥

ऐसा क्यों कहते हो कि उत्पत्ति  
सिद्ध ही नहीं होती ?

समाधान—हम जिस प्रकार  
उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं,  
सो सुनो—

जागरित अवस्थामें असत् अर्थात्

रञ्जुमें सर्पके समान कल्पना किये

हुए अविद्यमान पदार्थोंको देखकर

उनके भावसे मूर्च्छित हो स्वप्नमें

भी तन्मयभावसे जागरितके

समान भावा-भावाकारूपसे विकल्प

करता हुआ उन्हें देखता है । तथा

स्वप्नमें भी असत्पदार्थोंको देखकर

जाग्नपर विकल्प न करनेके कारण

उन्हें नहीं देखना । 'च' शब्दसे

यह अभिप्राय है कि इसी प्रकार

कभी ज्ञानप्रदमें देखकर भी उन

पदार्थोंको स्वप्नमें नहीं देखता ।

इसीलिये यह कहा जाता है कि

ज्ञानप्रद-अस्त्वा स्वप्नकर कारण है,  
उसे परमार्थसत् मानकर ऐसा नहीं  
कहा जाता ॥ ३९ ॥



परमार्थवस्तु न कस्यचित्स्वेन  
 चिदपि प्रकारेण कार्यकारणमात्र  
 उपपद्यते । कथम् ?—

परमार्थ तो किसीका किसी  
 भी प्रकार कार्य-कारणभाव होना  
 सम्भव नहीं है । किस प्रकार ?  
 [ सो बतलाते हैं— ]

नास्त्यसद्देतुकमसत्सदसद्देतुक तथा ।

सच्च सद्देतुकं नास्ति सद्देतुकमसत्कृत ॥४०॥

म तो असत्पदार्थ ही असत् कारणभाव है और न सत् पदार्थ ही  
 असत् कारणभाव है । इसी प्रकार सत् पदार्थ भी सत् कारणभाव नहीं  
 है, फिर असत् पदार्थ ही सत् कारणभाव कैसे हो सकता है ? ॥४०॥

नास्त्यसद्देतुकमसच्छब्द-

विषयादि हेतुः कारणं यस्यासत्  
 एव स्वच्छन्दमादेस्तदसद्देतुकमसत्प्र  
 विषये । तथा सदपि घटादि  
 वस्तु असद्देतुकं शब्दविषयादि  
 कर्म नास्ति । तथा सच्च  
 विद्यमान घटादि विद्यमान  
 घटादिबन्धनकार्य नास्ति ।  
 सत्कार्यमसत्कृत एव सम्भवति ?  
 न चान्य कार्यकारणमात्रः  
 सम्भवति शक्या वा कल्पयितुम् ?  
 अता विवेकिनामसिद्ध एव कार्य  
 कारणमात्रः कस्यचिदित्य  
 मिप्रायः ॥ ४० ॥

असत् कारणभाव असत्पदार्थ  
 भी नहीं है—जिस अकारणपुरुष  
 आदि असत्पदार्थका कर्त्तृ शब्द-  
 शृङ्गादि असत् कारण हो ऐसा कर्त्तृ  
 असद्देतुक असत् पदार्थ भी विद्यमान  
 नहीं है । तथा घटादि सदस्तु भी  
 असद्देतुक कर्त्तृ शब्दविषयादि  
 [ असत्पदार्थ ] का कर्त्तृ नहीं है । इसी  
 प्रकार सत् पदार्थ विद्यमान प्र-  
 षादि किसी अन्य सदस्तुका भी कर्त्तृ  
 नहीं है । फिर सत्का कर्त्तृ असत् ही  
 कैसे हो सकता है; इनका सिद्धा किसी  
 अन्य कार्य-कारणभावही म तो  
 सम्भवता है और न कल्पना  
 ही की जा सकती है । अब  
 तारार्थ यह है कि विवेकिनेके लिये  
 ता किसी वस्तुका भी कार्य-कारण-  
 भाव सिद्ध है ही नहीं ॥ ४० ॥

पुनरपि जाग्रदस्वप्नमोरसतोरपि  
कार्यकारणमावाशङ्कामपनयन्  
आह —

आमत् और सज्ज असद होनेपर  
भी उनके कार्य-कारणभावसे सम्बन्ध  
में जा शङ्का है उसकी निवृत्ति  
करते हुए फिर भी कहते हैं—

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवन्तप्रशेत् ।

तथा स्वप्ने विपर्यासान्दर्मास्तत्रैव पश्यति ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार मनुष्य भ्रान्तिवश जाग्रदवस्था में अचिन्त्य पदार्थोंको  
मपार्यवत् ग्रहण करता है उसी प्रकार स्वप्नमें भी भ्रान्तिवश [ स्वप्नकालीन ]  
पदार्थोंको वही ( उसी अवस्थामें ) देखता है ॥ ४१ ॥

विपर्यासाद्विवेकतो यथा

आप्रसागरितेऽचिन्त्यान्माषान्  
सक्यचिन्तनीयान् रन्धुसर्पादीन्  
भूतवत्परमार्थवत्सृष्टिश्च वि  
कल्पयेदित्यर्थं कश्चिद्यथा, तथा  
स्वप्ने विपर्यासाद्दस्तादीन्धर्मान्  
पश्यन्निव विकल्पमति; तत्रैव  
पश्यति न तु आगरितादुत्पद्य-  
मानानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष विपर्यस  
अर्थात् अविवेकक कारण आमत्  
अवस्थामें रन्धु-सर्पादि अचिन्तनीय  
वर्षात् विनश्य चिन्तन नहीं किया  
जा सकता ऐसे पदार्थोंको मूल—  
परमापवत् स्पष्ट करते हुए-से  
कल्पना करता है । उसी प्रकार  
स्वप्नमें विपर्यासके कारण ही  
वह हाथी आदिको देखता हुआ-सा  
कल्पना करता है, अर्थात् उन्हें वह  
उसी अवस्थामें देखता है न कि  
आमत्में उत्पन्न होने हुए ॥ ४१ ॥

जगदुत्पत्तिश्च उपवस क्लिप्तं लिखे ॥ १

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।

जातिस्तु देशिता धुञ्चैरजातेस्वसतां सदा ॥ ४२ ॥

[ वस्तुओंकी ] उपलब्धि और [ वर्णार्थमादि ] आचारके कारण  
जो पदार्थोंकी सदा स्वीकार करते हैं तथा अजातसे भय मानते हैं, विद्वानोंने  
सर्वदा उन्हेंकि लिखे जातिके उपदेश दिया है ॥ ४२ ॥

यापि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जा  
 विद्विषितोपदिष्टा, उपलम्भनम्  
 उपलम्भस्तस्मादुपलब्धरित्यर्थः,  
 समाचारादर्णाभ्रमादिष्वर्मसमा-  
 चरणात्, ताभ्यां हेतुभ्यामस्ति  
 वस्तुत्ववादिनाम् अस्ति वस्तु  
 मात्र इत्येवं घदनशीलानां  
 वृद्धाप्रह्वयतां भ्रष्टानानां मन्द  
 विवेकिनामर्थोपायत्वेन सा  
 हेण्डिता चादि । तां गृह्णन्तु  
 तावद् । वेदान्ताभ्यासिनां तु  
 स्वममवाचाद्वात्सल्यविषयो विवेको  
 मधिष्यतीति न तु परमाद्य-  
 बुद्ध्या । ते हि श्रात्रियाः स्पृष्ट-  
 बुद्धित्वाद्जातः अज्ञातिवस्तुनः  
 सदा द्रम्यन्त्यात्मनार्थं मस्यमाना  
 अविवेकिन इत्यर्थः । उपाय-  
 साध्यवारापेत्सुक्तम् ॥ ४२ ॥

तथा बुद्धयानी अद्वैतवादी विद्वानो  
 ने जो आसि ( जगत्की उत्पत्ति ) का  
 उपदेश दिया है [ उसका वह  
 कारण है- ] उपलम्भनका नाम  
 उपलम्भ है उस उपलम्भ अर्थात्  
 उपलब्धित्वसे और समाचार-दर्णा-  
 भ्रमादि धर्मोंके सम्बन्ध आचरणसे-  
 इन दोनों कारणोंसे वस्तुओंका  
 अस्तित्व माननेवाले अर्थात् [ द्वैत  
 पदार्थोंका ] वस्तुत्व है ऐसा कहने-  
 वाले बड़ आपसी, घटारातु और मन्द  
 विवेकशील पुरुषोंको [ अज्ञानके  
 बोधकी प्राप्तिरूप ] अर्थके उपल-  
 रूपसे उस जातिके उपदेश दिया  
 है । [ उसमें उनका यही तात्पर्य है  
 कि ] 'अभी वे मरे ही उमे लीकर  
 कर लें, परन्तु करलकर अन्यास करते-  
 करते उन्हें स्वयं ही अज्ञान और  
 अद्वितीय आत्मा-सम्बन्धी विवेक हो  
 जायगा उन्होंने परमार्थपुरुषसे  
 वस्तुका उपदेश नहीं किया; क्योंकि  
 वे केवल धृति-वराएण अविनेकी  
 योग स्पृष्टबुद्धि होमके कारण  
 अपना नाश मानते हुए अज्ञानि  
 अर्थात् अन्मरहित वस्तुसे सदा मय  
 मानते हैं- यह इसका तात्पर्य है ।  
 यही बात हमने उपाय स्तोत्र-  
 रण इत्यादि श्लोकमें ( अद्वैतप्रकरण  
 श्लोक १५ में ) कही है ॥ ४२ ॥

सन्मार्गगामी द्वैतवादिकोकी गति

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।

जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥४३॥

द्वैतकी उपलम्बिके<sup>१</sup> कारण जो विपरित मार्गमें प्रवृत्त होते हैं अजातिसे मय माननवाले उन लोगोंके लिये जातिसम्बन्धी दोष सिद्ध नहीं हो सकते [ क्योंकि द्वैतवादी होनेपर भी वे सन्मार्गमें प्रवृत्त तो हुए ही रहते हैं ] । [ और यदि होगा भी तो ] घोडा-सा ही दोष होगा ॥४३॥

यं चैवमुपलम्भात्समाचाराद्या  
जातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽन्ति-  
षस्त्विहत्यादात्मनो विभन्ति  
विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त  
इत्यर्थ । तेषामजातस्त्रसतां  
भद्रधानानां सन्मार्गावलम्बिनां  
चातिदाया जात्युपलम्भकृता  
दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धि  
नापयास्यन्ति, विवेकमार्गप्रवृत्त  
त्वात् । यद्यपि फलविहाय  
स्वात्सोऽप्यल्प एव भविष्यति ।  
सम्बन्धदर्शनाप्रतिपत्तिद्वयुक्त इत्यर्थः  
॥ ४३ ॥

जो लोग इस प्रकार [ पन्थोंकी ]  
उपलम्बि और [ वर्णधमादिके ]  
आचारिक कारण अज्ञानमा बस्तुसे  
डरनेवाले हैं और धैर्य पदाय हैं  
ऐसा समझकर अल्प अज्ञानसे विरुद्ध  
चलते हैं, अर्थात् द्वैत स्वीकार करते  
हैं, उन अजातिसे मय माननवाले  
अदाल और सन्मार्गप्रवृत्तकी पुरुषों  
को जातिदोष-जातिकी उपलम्बिक  
कारण होनेवाले दोष सिद्ध नहीं  
होगे क्योंकि वे विवेकमार्गमें प्रवृत्त  
हैं । और यदि कुछ दोष होगा भी  
तो वह भी अल्प ही होगा, अर्थात्  
केवल सम्बन्धदर्शनकी अप्राप्तिके  
कारण होनेवाला दोष ही होगा ॥४३॥

उपलम्बि और आचरणकी अप्रमाणता

ननुपलम्भसमाचारयोः प्रमाण-

यदि कहो कि उपलम्बि और  
आचरण तो प्रमाण हैं, इसलिये

त्वादस्त्येव द्वैतं वस्तिवति, न;  
उपलम्भसमाधारपार्ष्ण्यमिधारात्।

कश्च व्यभिचार इत्युच्यते—

द्वैतवस्तु है ही, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उपलब्धि और आचरण-कर्म तो व्यभिचार भी होता है। किन्तु प्रकार व्यभिचार होता है! सो कतल्यक जाता है—

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।

उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ ४४ ॥

उपलब्धि और आचरणके कारण जिस प्रकार मायाजनित हार्षिको [ 'हार्षी है'—इस प्रकार ] कहा जाता है उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण 'वस्तु है' ऐसा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

उपलम्भते हि मायाहस्ती

हस्तीव इस्तिनमिवात्र ममा  
अस्ति, बन्धनारोहणादिइस्ति-  
सम्बन्धिनिर्घर्मेहस्तीति चोच्यते  
अस्यपि यथा तथैवोपलम्भात्समा-  
चाराद्द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्ति-  
वस्तुच्यते । तथाभ्योपलम्भसमा-  
चारौ द्वैतवस्तुसद्भावे इत् मवत  
इत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

हार्षिक समान ही मायाजनित हार्षी भी देखनेमें आता है। हार्षी के समान ही यहाँ [ मायाहस्तीक साथ ] भी बन्धन आरोहण आदि इस्ति सम्बन्धी जमोहरा स्पष्टहार करते हैं। जिस प्रकार असत् होने पर भी कह 'हार्षी है' ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण भेदरूप द्वैत-वस्तु है—ऐसा कहा जाता है। अतः अभिप्राय यह है कि उपलब्धि और आचरण द्वैत वस्तुके सद्भावे कारण नहीं हैं ॥ ४४ ॥

परमार्थ वस्तु क्या है ?

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु

अथ तो जिसके आश्रयसे जाति आदि असद्वस्तुधियाँ होती हैं वह

यदास्पदा जात्याधसद्व्युदय | परमाध वस्तु क्या है ? इसपर  
इत्याह— कहते हैं—

जात्यामास चलाभासं वस्त्वामास तथैव च ।

अजाचलमवस्तुत्व विज्ञान शान्तमद्वयम् ॥४५॥

जो कुछ जातिके समान भासनवाले, चलक समान भासनवाला और वस्तुके समान भासनेवाला है वह अब अकल और अवस्तुरूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है ॥ ४५ ॥

अजाति सजातिबदधमासत  
इति जात्यामासम् । तद्यथा  
व्यदत्ता जायत इति । चलामासं  
चलमिवामासत इति । यथा स  
एव व्यदत्ता गच्छसीति ।  
वस्त्वामास वस्तु द्रव्यं धर्मि  
तद्वदधमासत इति वस्त्वामासम् ।  
यथा स एव व्यदत्तो गौरो दीर्घ  
इति जायत व्यदत्तः स्पन्दत  
दीर्घो गौर इत्येवमवमासत ।  
परमार्थतस्त्वजमकलमवस्तुत्वम-  
द्रव्यं च किं तदेवंप्रकारम् ?  
विज्ञानं विद्वत्ति । जात्यादि  
रहितत्वाप्यन्तम् । अत एमाद्वयं  
च सदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

जो अजाति होकर भी जातिवत्  
प्रतीत हो उसे जात्यामास कहते हैं,  
उसका उदाहरण, जैसे—देवदत्त  
ऊष्ण होता है । जो चलके समान  
प्रतीत हो उसे चलामास कहते हैं  
जैसे—वही देवदत्त जाता है ।  
वस्तुमासम्—वस्तु धर्मी इत्येक  
कहते हैं, जो उसके समान प्रतीत  
हो वह वस्त्वामास है । जैसे—वही  
देवदत्त गौर और दीर्घ है । देवदत्त  
ऊष्ण होता है, चला है तथा  
वह गौर और दीर्घ है—इस प्रकार  
भासता है किन्तु परमायत तो अब,  
अकल, अवस्तुत्व और अद्रव्य ही  
है । एसा वह कौन है ? [इसपर कहते  
हैं—] विज्ञान अथात् विद्वत्ति तथा वह  
जाति अदिने उदित होनेके कारण  
शान्त है और इसीसे अद्वय भी  
है—एसा इनका तात्पर्य है ॥ ४५ ॥

एव न जायते चित्तमेव धर्मा अजा स्मृता ।

एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यय ॥४६॥

इस प्रकार चित्त उत्पन्न नहीं होता; इसीसे आत्मा अद्वयता माने गये हैं । एसा जाननवासे छोग ही भयमें नहीं पड़ते ॥ ४६ ॥

एवं ययोक्तेभ्यः इत्युभो न । इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे ही  
आगत चित्तमेष धर्मा आरमाना- विचरन् जन्म नहीं होता, और  
ज्जा स्मृता ब्रह्मविद्भिः । धर्मा इसीसे ब्रह्मवेत्ताओंसे धर्म यानी  
इति बहुष्वन ददमेदानुविधा अज्ञानोंको ब्रह्ममा माना है ।  
यित्वाद्द्वयस्यैवापचारतः । भिन्न विम देहोंको अनुकर्मन करने-  
एवमेव यथोक्तं विज्ञानं वाक्य होनेसे एक अद्वितीय ब्रह्ममाक  
आत्मादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं त्रिये ही उपचारसे 'धर्मा' इस  
विज्ञानन्तस्त्यक्तधर्मोपया पुनर्न बहुष्वनकर प्रयोग किया गया है ।  
पतन्त्यविद्याध्वान्तसागर विप इसी प्रकार—उपर्युक्त विज्ञानकी  
यये । "तत्र हो मोहः कः शोक अथात् ज्ञानि आदिरहित अद्वितीय  
एकत्वमनुपपद्यतः" (ई० उ० ७) अस्मात्परको जाननेवासे ब्रह्म  
इत्यादिमन्त्रवर्णात् ॥ ४६ ॥ एषण्णोंसे मुख रूप जेग फिर  
विपर्यय अर्थात् अनिष्टारूप अन्धकार  
क समुद्रमें नहीं गिरते । "उत्त  
अस्त्वाने एकत्व देहनेवासे पुनर्नको  
क्या मोह और क्या शोक हो  
सकता है ।" इत्यादि मन्त्रवर्णसे यही  
वात प्रमायित होती है ॥ ४६ ॥

विज्ञानाभासमें ब्रह्मतरपुनर्नका रचना

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्च-

श्लोक परमार्थदर्शनकर ही  
नित्यरसे निरूपण करने, इसलिये  
कहते हैं—

पिप्पसाह—

गदिकामासमलातस्पन्दित यथा ।

हकामास विज्ञानस्पन्दित तथा ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार अक्षत ( उन्का ) का घूमना ही सीधे-टङ्गे आदि रूपोंमें भासित होता है उसी प्रकार विज्ञानका स्वरण ही ग्रहण और ग्राहक आदिरूपोंमें मास रहा है ॥ ४७ ॥

यथा हि लाफ अञ्जुषकादि  
प्रकारामासमलातस्पन्दितमुन्का-  
चलन तथा ग्रहणग्राहकामास  
विषयिषियामासमित्यर्थ । किं  
तद्विज्ञानस्पन्दितम् । स्पन्दित-  
मिव स्पन्दितमविषया । न  
प्रचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमग्नि ।  
अत्राचलमिति सूक्तम् ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार ओकमें सीधे-टङ्गे आदि  
रूपोंमें भ्रसमान होनेवाला अक्षतका  
स्पन्द अथात् उन्का ( जलती हुई  
बनैती ) का घूमना ही है, उसी प्रकार  
ग्रहण और ग्राहकरूपसे मासना  
वाला अथात् इन्द्रिय और विषयरूप  
में भ्रसतवाला भी है । वह कौन  
है ? विज्ञानका स्पन्द जो अस्तिपाके  
कारण ही स्पन्दय ममान स्पन्द  
मा प्रतीत होता है, बसुत अविषय  
विज्ञानपर स्पन्दन नहीं हो सक्ता,  
क्योंकि [ उपयुक्त श्लोक ४७ में ही ]  
अत्र अत्र और अत्र है ऐसा कहा  
जा चुका है ॥ ४७ ॥

अस्पन्दमानमलातमनाभासमज यथा ।

अस्पन्दमान विज्ञानमनाभासमज तथा ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार अस्पन्दमान अथवा अस्पन्दमान और अत्र है उसी  
प्रकार अस्पन्दमान विज्ञान ही अस्पन्दमान और अत्र है ॥ ४८ ॥

अस्पन्दमान स्पन्दनवर्धितं । जिस प्रकार बड़ी अस्पन्दमान  
तदपाहानमृत्वापाहारपावाय । अत्र—अस्पन्दमान विज्ञान अत्र अत्र



मानमनामासमजं यथाऽथवाविद्यया | आग्निं ज्ञाकारोमे मास्ति न होनेके  
 स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमान | कारण अनामास और जब उख  
 जात्याद्याकारेणानाभासमजमचलं | है उसी प्रकार अविद्यासे स्फुरित  
 मविष्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ | होनेवाले विज्ञान अविद्याकी निवृत्ति  
 न होकर अनामास, जब और जब  
 हो जायगा—ऐसा इसका तात्पर्य  
 है ॥ ४८ ॥

किं च—

| इसके सिवा—

अलाते स्पन्दमाने वै नामासा अन्यसोमुद्य ।

न सतोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥ ४९ ॥

अज्ञातके स्फुरित होनेपर भी न आमास किसी अन्य कारणसे नहीं  
 होते, तथा उसका स्फुरित होनेपर भी कहीं अन्य नहीं चले जाते  
 और न वे अज्ञातमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमान | उस अज्ञातके स्फुरित होनेपर  
 श्चक्षुवक्राद्यामासा जलातादन्यतः | भी वे सीधे-उदे आग्निं आमास  
 कुतश्चिदागस्थाताते नैव भवन्ति | अव्यक्तसे भिन्न कहीं अन्यत्रसे जाकर  
 इति नान्यतोद्भवः । न च तस्मा | अज्ञातमें उपस्थित नहीं हो जाते,  
 निस्पन्दादलाताद यद्य निर्गताः ॥ | अतः वे किसी अन्यसे होनेवाले भी  
 न च निस्पन्दमलातमेव प्रवि | नहीं हैं । तथा निस्पन्द हुए उस  
 शन्ति ते ॥ ४९ ॥ | अज्ञातसे वे कहीं अन्यत्र नहीं चले  
 जाते और न उस निस्पन्द अज्ञातमें  
 ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४९ ॥

किं च—

| इसके अनिश्चित—

न निगता अलाताते प्रव्यत्वामावयोगसः ।

निगतेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥ ५० ॥

उनमें द्रव्यत्वके अभावका योग होनेके कारण वे अज्ञानमें भी नहीं निपटते हैं। इसी प्रकार आभासत्वमें समानता होनेके कारण विज्ञानप्रक्रियामें भी समझना चाहिये ॥ ५० ॥

न निर्गता अज्ञाताश्च आभासाः  
गृहादिष्वद्रव्यत्वाभावयोगतः -  
द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तद-  
भावा द्रव्यत्वाभाव, द्रव्यत्वा-  
भावयोगता द्रव्यत्वाभावपुक्तेर्व-  
स्तुत्वाभावादित्यर्थ, वस्तुनो हि  
प्रवेशादि सम्भवति नावस्तुनः ।  
विज्ञानेऽपि चात्याद्याभासास्तर्थाव-  
स्युराभासस्याविशेषतस्तुत्य-  
त्वात् ॥ ५० ॥

द्रव्यत्वाभावयोगत्वं कारण—द्रव्य-  
त्वभावकत्वं नाम द्रव्यत्वम् इ । तस्यै-  
व अभावको द्रव्यत्वाभावः यद्वदते है, तस्य  
द्रव्यत्वाभावयोग अथात् द्रव्यत्वा-  
भावरूप पुच्छिक कारण यानी वस्तुत्व  
का अभाव होनेमें वे आभास पर आदि  
में निपटनक समान अज्ञातमें भी नहीं  
निपटते क्योंकि प्रवेशादि होने तो  
वस्तुके ही सम्भव हैं। अवस्तुके नहीं।  
विज्ञानमें [ प्रतीत होनेवाले ] जलपादि  
आभास में जैसे ही समझन चाहिये,  
स्योंकि आभासकी सामान्यता होनेमें  
उनकी तुल्यता है ॥ ५० ॥

कथं तुल्यत्वमित्याह—

उनकी तुल्यता किस प्रकार है ?  
तो बतलाने है—

विज्ञाने स्पन्दमाने ये नाभासा अन्यतोऽसुवः ।

न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥ ५१ ॥

न निर्गतास्ते विज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयागतः ।

कार्यकारणनाभावाद्यतोऽचिन्त्या सर्वव ते ॥ ५२ ॥

विज्ञानप्रक्रियामें होनेपर भी उसमें आभास किसी अन्य कारणों  
में ही जाय तथा उसके रहनाहित होनेपर यही अन्यत्र नहीं बन जाय  
और न विज्ञानमें ही प्रवेश कर जाय है ॥ ५१ ॥ द्रव्यत्व अभावका

योग होनेके कारण वे विद्यानसे भी नहीं निकलते, क्योंकि कार्य-कारणभाव  
अभाव होनेके कारण वे सदा ही अविस्तनीय ( अविर्भवनीय ) हैं ॥ ५२ ॥

अलतैन समानं सर्वं विद्या

नस्य । सदाचलत्वं तु विज्ञानस्य

विशेषः । आत्माद्यामासा विद्या-

नेऽचले किञ्चिदा इत्याह । कार्य

कारणतामत्वान्ब्रह्मवदनकारणानुप

पत्तेरमावरूपत्वाद् अविन्त्यास्ते

यतः सदैव ।

यथासत्सु ब्राह्मणमासेषु च

न्वादिबुद्धिदृष्टात्तात्त्रमात्रे सदा-

सत्सत्त्वे च आत्मादिषु विज्ञानमात्रे

जात्यादिबुद्धिसृष्टिबन्धि समुदा-

यार्थः ॥ ५१-५२ ॥

विद्यामके नियमों की सब कुछ

अकारके ही समान है । मित्य अथ

रहना—यही विद्यामकी विशेषता

है । अथ विद्याममें जाति आणि

अभ्रमस किंतु कारणसे होते हैं ।

इत्तर कहते हैं—क्योंकि कार्य-

कारणताका अभाव अर्थात् अभाव-

रूप होनेके कारण अन्य-जनकत्वकी

अनुपपत्ति होनेसे वे सदा ही

अविस्तनीय हैं ।

[ इन दोनों स्थोत्रोंका ] सम्मिलित

अप यह है कि जिस प्रकार अजु

( सूर्य ) आणि आमासोंके न जानपर

भी अस्तमात्रमें ही अजु आणि बुद्धि

होती देखी जाती है उसी प्रकार जाति

आदिके न होनेपर भी अथ विद्याम-

मात्रमें जाति आदि बुद्धि होना सिध्य

ही है ॥ ५१ ५२ ॥

आराममें कार्य-कारणभाव क्यों असम्भव है ?

अत्रयेकमात्रमवच्छिन्नमिति स्थितं

तत्र परैपि कार्यकारणभाव

कल्प्यते तेषाम्—

यह निश्चय हुआ कि एक

अवश्य आरामत्व है । उसमें जो

उपेय कार्य-कारणभावकी कल्पना

करते हैं उनके मतमें भी—

द्रव्य द्रव्यस्य हेतु स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।

द्रव्यत्वमन्यमाद्यो वा घर्माणां नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

द्रव्यका कारण द्रव्य ही हो सकता है और वह भी अन्य द्रव्यका अन्य ही द्रव्य कारण होना चाहिये, किन्तु आत्माओंमें द्रव्यत्व और अस्त्व दोनों ही सम्भव नहीं हैं ॥ ५३ ॥

द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यदेतु  
कारण स्यात् न तु तस्यैव तत् ।  
नाप्यद्रव्यं कस्मचित्कारणं स्वतन्त्र  
दृष्टं स्यात् । न च द्रव्यत्व घमाणा-  
मात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुत  
भिद्येनान्धस्य कारणस्य कार्यत्वं  
वा प्रतिपद्यत । अतोऽद्रव्यत्वा  
वनन्यत्वाच्च न कस्मचित्कार्य  
कारणं वात्मेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अन्य द्रव्यका कारण अन्य द्रव्य  
ही हो सकता है न कि उस द्रव्य  
का घाँ । और जो वस्तु द्रव्य नहीं  
है उसे अकारण किस्तीका स्वतन्त्र  
कारण होना नहीं देख । तब  
आत्माओंका द्रव्यत्व अथवा अस्त्व  
किस्ती में प्रकाश सम्भव नहीं है,  
निससे कि वे किस्ती अन्य द्रव्यका  
कारणत्व अपना कर्मत्वको प्राप्त हो  
सकें । अब तत्पर्य यह है कि  
अद्रव्यत्व और अनन्यत्वका कारण  
आत्मा किस्तीका भी कार्य अपना  
कारण नहीं है ॥ ५३ ॥

एष न चित्तजा घर्माश्चित्तं वापि न घर्मजम् ।

एष हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिण ॥ ५४ ॥

इस प्रकार न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तमें हुए हैं और न चित्त ही  
बाह्य पदार्थमें उदय हुए हैं । अब मनीषी लोग कार्य-कारणकी अनुपत्ति  
ही निमित्त करते हैं ॥ ५४ ॥

एवं यथाक्लेश्यो हतुम्य आत्म  
विज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति न  
चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्य-  
धर्मत्वं चित्तम् । विज्ञानस्वरूपा-

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे चित्त  
आत्मविज्ञानस्वरूप ही है; न तो  
बाह्य पदार्थ ही चित्तसे उदय हुए  
हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थमें  
उदय हुआ है क्योंकि सारे ही

मासमाश्रत्वात्सर्वधर्माणाम् । एव  
न हेतो फलं आयत्ते नापि फला-  
देतुरिति हेतुफलयोरवार्ति इतु  
फलावार्ति प्रविशन्त्यध्यवसन्ति  
आत्मनि इतुफलयोरभावमेव  
प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद् इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

धर्म विज्ञानस्वरूपके आत्मसमाप्त हैं ।  
इस प्रकार न तो हेतुसे फलकी  
उत्पत्ति होती है और न फलसे  
हेतुकी अत मनीषी लोग हेतु और  
फलकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते  
हैं । तात्पर्य यह कि ब्रह्मवेत्ता  
लोग आत्मामें हेतु और फलका  
अभाव ही देखते हैं ॥ ५४ ॥

### हेतु-फलभावके अभिनिवेशके फल

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टा  
स्तेषां किं स्वादित्युच्यते—धर्मा-  
धर्माख्यस्य हेतोरह कर्ता मम  
धर्माधमा सत्फलं कालान्तरे  
कश्चिन्प्राणिनिकाये जातो मोक्ष्य  
इति—

किन्तु चित्तके हेतु और फलमें  
अभिनिवेश है उनका क्या होगा ?  
इसपर कष्टा जाता है—धर्माधर्मसंज्ञक  
हेतुका मैं कर्ता हूँ, धर्म और  
अधर्म मेरे हैं, कालान्तरमें किसी  
प्राणीके शरीरमें उत्पन्न होकर उनका  
फल मोर्गूँ—इस प्रकार—

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भव ।

क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५५ ॥

जबतक हेतु और फलका आवेश है तबतक ही हेतु और फलकी  
उत्पत्ति भी है । हेतु और फलका आवेश क्षीण हो जानेपर फिर हेतु और  
फलरूप संसारकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ ५५ ॥

यावद्धेतुफलपरावेशो इतु  
फलाग्रह आत्मन्यध्यापण  
तद्विचक्षतेत्यर्थः, तावद्धेतुफल  
यारुद्भवा धर्माधर्मयाम्नात्फलस्य

जबतक हेतु और फलका आवेश  
—हेतुफलाग्रह अर्थात् उन्हें आत्मामें  
आध्यापित करना यानी तद्विचक्षता है  
तबतक हेतु और फलकी उत्पत्ति  
भी है अर्थात् तबतक धर्माधर्म और

धानुच्छेदन प्रवृत्तिरित्यर्थ ।  
यदा पुनर्मन्त्रौपविधीयेणैव  
प्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेना  
विद्यावृत्तहेतुफलावेशोऽपनीतो  
भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति  
हेतुफलोद्भव ॥ ५५ ॥

उनके फलकी अविच्छिन्न प्रवृत्ति भी है  
किन्तु जिस समय मन्त्र और ओपधि-  
की सामर्थ्यमें प्रहके आवेशके समान  
उत्पन्न अद्वैतबोधसे अविद्याअमित  
हेतु और फलका आवेश निवृत्त हो  
जाता है उस समय उसके क्षीण  
हो जानेपर हेतु और फलकी उत्पत्ति  
भी नहीं होती ॥ ५५ ॥

### हेतु-फलके अमिनिवृत्तमें दोष

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को  
दाय इत्युच्यते —

यदि हेतु और फलकी उत्पत्ति  
रहे तो इनमें दोष क्या है ?  
सो बनजाते हैं—

यावद्धेतुफलावेशा

समारस्तावदायत ।

क्षीणे हेतुफलावेश संसार न प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

जबतक हेतु और फलका आवेश है तबतक संसार बड़ा हुआ है ।  
हेतु और फलका आवेश नष्ट होकर विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं  
होगा ॥ ५६ ॥

यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफला  
वेशो न निर्यमृतक्षीण संसार  
स्वावदायता दायो भवतीत्यर्थ ।  
क्षीण पुनर्हेतुफलावेश संसारं न  
प्रपद्यत कारणामात्मान् ॥ ५६ ॥

जबतक सम्यग्दर्शनेसे हेतु और  
फलका आवेश निवृत्त नहीं होता  
तबतक संसार क्षीण न होकर  
निर्मृत बना जाता है । किन्तु  
हेतुफलावेश नष्ट होनेपर या  
वदायत न रहामे विद्वान् संसारका  
प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

नन्ववादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव  
वत्कर्षं हेतुफलयो ससारस्य  
चोत्पत्तिविनाशाद्युच्येत त्वया ?

शृणु—

सवृत्या जायते सर्वं शाश्वत नास्ति तेन वै ।

सद्भावेन घञ सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ ५७ ॥

सार पदार्थ म्यङ्गहारिक दृष्टिसे उपन्न होते हैं, इसलिये वे नित्य नहीं हैं । परमार्थदृष्टिसे ता सब कुछ भ्रम ही है, इसलिये किस्तीकर विनाश भी नहीं है ॥ ५७ ॥

संवृत्या संवरणं संवृति  
रविद्याविषयो लौकिको व्यव  
हारस्तस्या संवृत्या वायते सर्वम् ।  
तनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं  
नास्ति वै । अत उत्पत्तिविनाश  
रुक्षणः संसार आयत इत्युच्यते ।  
परमार्थसद्भावेन स्वयं सर्वमात्मैव  
यसात् । असौ आत्ममाबा-  
दुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्मि-  
न्विद्वेदुत्पत्तादेरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

‘संवृत्या’—संवरण अर्थात्  
अविद्याविषयक लौकिक म्यङ्गहारक  
नाम संवृति है उस संवृतिसे ही  
सबकी उत्पत्ति होती है । अत  
उस अविद्याके अधिकारमें कोई भी  
वस्तु शाश्वत—नित्य नहीं है ।  
इसीलिये उत्पत्ति-विनाशशील संसार  
विस्तृत है—ऐसा कहा जाता है;  
क्योंकि परमापसतासे तो सब कुछ  
अबन्ध आत्मा ही है । अत जन्मक  
वामाव होनेके कारण किस्ती भी हेतु  
या फल आदिकर उच्छेद नहीं होता—  
ऐसा इसकर उत्तर्य है ॥ ५७ ॥

बीजोक्त जन्म मायिक है

घर्मा य इति जायन्ते जायन्त ते न तत्त्वतः ।

जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥ ५८ ॥

धर्म ( जीव ) जो उत्पन्न होने कहे जाते हैं वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते । उनका जन्म मायाके महेश ही और वह माया भी [ वस्तुतः ] है नहीं ॥ ५८ ॥

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा  
जायन्त इति कल्पन्ते त इत्यर्थं  
प्रकारा यथोक्ता संवृतिनिर्दिश्यत  
इति संवृत्यैव धर्मा जायन्तः न ते  
तत्त्वतः परमार्थतो जायन्तः ।  
मत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म तेषां  
धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया  
जन्म तथा जन्मायोपम प्रत्यं  
तथ्यम् ।

माया नाम वस्तु तर्हि ? नैवम् ;  
सा च माया न विद्यते, मायेत्य  
विद्यमानस्यास्येत्यभिप्रायः ॥ ५८ ॥

जो भी आत्मा तथा दूसरे धर्म  
( उत्पन्न होते हैं )—इस प्रकार कल्पना  
किये जाते हैं व इस प्रकारक  
सभी धर्म संवृतिमे ही उत्पन्न होते  
हैं । यहाँ धृति शब्दसे इससे  
पहले श्लोकमें कहीं हुई संवृतिका  
निर्देश किया गया है । वे तत्त्वतः—  
परमार्थतः उत्पन्न नहीं होते ।  
क्योंकि उन पूर्वोक्त धर्मोंका जो  
संवृतिसे होनेवाला जन्म है वह  
ऐसा है जैसे मायासे होनेवाला  
जन्म होता है, इसलिये उसे मायाके  
सदृश समझना चाहिये ।

तब तो माया एक सत्य वस्तु  
सिद्ध होती है । नहीं, ऐसी बात नहीं  
है । वह माया भी है नहीं । तात्पर्य  
यह है कि 'माया' यह अविद्यमान  
वस्तुका ही नाम है ॥ ५८ ॥

कथं मायोपम तेषां धर्माणां  
जन्मस्याह—

उन धर्मोंका जन्म मायाके सदृश  
विस्त मयोर है । सो बतझरते हैं—

यथा मायामयाद् बीजाज्जायते त मयोऽङ्कुरः ।

नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वन्मेषु योजना ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार मायामय बीजसे मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और  
वह न तो नित्य ही होता है और न नाराजान् ही, उन्हीं प्रकार धर्मोंके  
जन्ममें भी सुखि सन्प्रती चरिय ॥ ५९ ॥



नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव  
तत्कर्म हेतुफलयोः संसारस्य  
उत्पत्तिविनाशबुभ्येत स्वया ?

शृणु—

सष्ट्या जायते सर्वं शाश्वत नास्ति तेन वै ।

सद्भावेन ह्यज सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ ५७ ॥

सारे पदार्थ व्यावहारिक इतिसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे नित्य नहीं हैं । परमार्थइतिसे तो सब कुछ अज ही है, इसलिये किसीका विनाश भी नहीं है ॥ ५७ ॥

सष्ट्या संवत्सवं संवृति  
रविद्याविषयो लौकिको व्यव-  
हारस्त्या संवृत्या व्यपते सर्वम् ।  
तेनाविद्याविषयं शाश्वतं नित्यं  
नास्ति वै । अत उत्पत्तिविनाश  
लक्षणः संसार आयत इत्युच्यते ।  
परमार्थसद्भावेन त्वत्वं सर्वमारमैव  
यत्नात् । अतो चास्त्यमाणा  
दुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्स-  
चित्हेतुफलादेरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

शब्द—अजन्मा अजन्मसे भिन्न  
तो और कोई है ही नहीं; फिर हेतु  
और फल तथा संसारके उत्पत्ति-  
विनाशकर तुम कैसे बर्णन कर  
रहे हो ?

समाधान—अजन्म, सुनो—

‘संवृत्या’—संकरण अर्थात्  
अविद्याविषयक लौकिक व्यवहारका  
नाम संवृति है, उस संवृतिसे ही  
सकल उत्पत्ति होती है । अतः  
उस अविद्याके अधिकारमें कोई भी  
कस्तु शाश्वत—नित्य नहीं है ।  
इसीलिये उत्पत्ति-विनाशशील संसार  
विस्तृत है—ऐसा कहा जाता है;  
क्योंकि परमापस्यसे तो सब कुछ  
अजन्मा अजन्मा ही है । अतः अजन्मका  
अभाव होनेके कारण किसी भी हेतु  
या फल का उत्पत्ति नहीं होता—  
ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ५७ ॥

जीवोश्च अजन्म मायिकं हि

धर्मा य इति जायन्ते जायन्त ते न तत्त्वतः ।

जन्म मायोपम तेषां सा च माया न विद्यते ॥ ५८ ॥

धम ( जीव ) जो उत्पन्न होने पड़ जाते हैं व वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते । उनका जन्म मायाएँ मरदा है और यह माया भी [ वस्तुतः ] है नहीं ॥ ५८ ॥

यस्यात्मानोऽन्य च धर्मा  
जायन्त इति कल्प्यन्ते त इत्यर्थं  
प्रकाश यथोक्ता संवृत्तिनिर्दिश्यत  
इति संवृत्यैव धर्मा जायन्तः न ते  
तस्वतः परमार्थता जायन्ते ।  
यत्पुनस्तस्संवृत्या जन्म तेषां  
धर्माणां यथाक्तानां यथा मायया  
जन्म तथा तन्मायापम प्रत्ये-  
तस्यम् ।

जा भी आप्ता तथा दूसरे धर्म  
उत्पन्न होते हैं — इस प्रकार कल्पना  
किये जाते हैं व इस प्रकारक  
सभी धर्म संवृत्तिमे ही उत्पन्न होते  
हैं । यहाँ 'भूति' शब्दसे इससे  
पहले 'ओकमे' कही हुए संवृत्तिक  
निर्देश किया गया है । व तत्काल —  
परमापन उत्पन्न नहीं होते ।  
क्योंकि उन पूर्वोक्त धर्मोंको जो  
संवृत्तिसे हानकाज जन्म है वह  
एसा है जैसा मायासे हानकाज  
जन्म होता है, इसलिये उसे मायाक  
साहा समझना चाहिए ।

माया नाम वस्तु तर्हि ? नैवम् ;  
सा च माया न विद्यते, मायेभ्य  
विद्यमानस्याम्पत्यभिप्रायः ॥ ५८ ॥

नव तो माया एक सत्य वस्तु  
सिद्ध होती है । नहीं, परीक्षा नहीं  
है । वह माया भी है नहीं । तद्वत्  
एह है कि माया एक अविद्यमान  
वस्तुका ही जन्म है ॥ ५८ ॥

कथं मायापम तेषां धर्माणां  
वन्मर्याद—

उन धर्मोंका जन्म मर्यादे मर्याद  
विना प्रकर है । जो वन्मर्याद है—

यथा मायामयाद् धीजाज्जायते तमयाऽइकुर ।

नासौ नित्या न चोच्छेदी तद्वदर्थेषु याचना ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार मायासे धीजाज्जायते तमयाऽइकुर ।  
नासौ नित्या न चोच्छेदी तद्वदर्थेषु याचना ॥ ५९ ॥  
जिस प्रकार मायासे धीजाज्जायते तमयाऽइकुर ।  
नासौ नित्या न चोच्छेदी तद्वदर्थेषु याचना ॥ ५९ ॥

यथा मायामयादाग्रादिषी  
 ज्ञान्जायते तन्मयो मायामयोऽ  
 कुरो नासावकुरो नित्या न  
 चोच्छेदी विनाशी वामृतत्वाच्च  
 द्रवेण धर्मेषु अन्मनाशादियोजना  
 युक्तिः । न तु परमार्थता  
 धर्माणां अन्म नाशो वा युज्यत  
 इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार मायामय अन्न  
 आदि बीजसे तन्मय अर्थात्  
 मायामय अकुर उत्पन्न होता है और  
 वह अकुर न तो नित्य ही होता है  
 और न नाशवान् ही, उसी प्रकार  
 असत्य हानक कारण धर्मों में भी  
 जन्मनाशादिकी योजना—युक्ति है ।  
 तत्पर्य यह है कि परमार्थत धर्मोंका  
 जन्म अथवा नाश होना सम्भव  
 नहीं है ॥ ५९ ॥



### आत्माकी अनिश्चनीयता

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।

यत्र वर्णा न वर्तन्ते त्रिवेकस्तत्र नोच्यते ॥ ६० ॥

इन सम्पूर्ण अजन्म धर्मों में नित्य-अनित्य नामोंकी प्रवृत्ति नहीं है ।  
 जहाँ शब्द ही नहीं है उस आत्मत्वमें [ नित्य-अनित्य ] विवेक भी नहीं  
 कहा जा सकता ॥ ६० ॥

परमार्थस्त्वारमस्वजेषु नित्यै-  
 क्वसविज्ञप्तिमात्रसधाकेषु द्वास्व  
 तोऽद्वास्वत इति वा नाभिधा  
 नाभिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः । यत्र  
 येषु वर्ण्यन्ते वैरर्थास्ते वर्णाः  
 द्वाब्दा न प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रक-  
 ष्यन्तु न प्रवर्तन्त इत्यर्थः ।

वास्तवमें तो नित्य एकतर  
 विज्ञानमात्र सत्त्वस्वरूप अजन्म  
 अरन्मधर्मों में नित्य-अनित्य—ऐसे  
 अभिधान अर्थात् नामकी भी प्रवृत्ति  
 नहीं है । जहाँ—जिन महारमधर्मों  
 —जिनसे पदार्थोंका वर्णन नित्य  
 जाता है वे वर्ण यानी शब्द भी  
 नहीं हैं अर्थात् उसका वर्णन करनेके  
 लिये प्रवृत्त नहीं होते हैं, उसमें

इदमेवमिति विवेको विविक्तता । एव ऐसा है अर्थात् नित्य है अथवा  
 सत्र नित्याऽनित्य इति नोप्यते । अनित्य है। इस प्रकारका विवेक भी  
 "यथा वाचो निर्वर्तन्ते" ( सै० नहीं कहा जाता, जैसा कि "जहाँ  
 उ० २।४।१ ) इति श्रुते ॥६०॥ से शब्धी लौट जाती है" इस श्रुति-  
 से सिद्ध होता है ॥ ६० ॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।

तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार स्वप्नमें चित्त मायासे द्वयाभासरूपसे स्फुरित होता है  
 उसी प्रकार जाग्रत्कालमें द्वयाभासरूपसे भी चित्त मायासे ही स्फुरित  
 होता है ॥ ६१ ॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।

अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन् न संशयः ॥ ६२ ॥

इसमें संशय नहीं, स्वप्नकालमें अद्वय चित्त ही ईतरूपसे भासनेवाला  
 है; इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी अद्वय मन ही ईतरूपसे भासनेवाला  
 है—इसमें कोई संशय नहीं ॥ ६२ ॥

यत्पुनर्वागगोचरस्त्वं परमार्थं	परमात्म अद्वय विज्ञानमात्रका जा शरीरका नित्य भासा है वह मनका स्फुरणमात्र ही है, वह परमात्म ही नहीं—इस प्रकार इन शब्दोंकी ध्यान्या पहल ( अद्व० २९, ३० में ) की जा चुकी है ॥६१ ६२॥
तोऽद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य तत्र	
नस्य स्पन्दनमात्रं न परमार्थतः	
इति। उक्तार्थोऽप्युक्तः ॥६१-६२॥	

द्वयाभासमें स्वप्नकाल

इतथ वागगोचरस्याभासो । शरीरके विरामकाल ईतरूप  
 इतस्य— । इनश्रुतियों में अनर्थ है—

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने विष्णु वै वशासु स्थितान् ।

अप्यजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ ६१ ॥

स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें घूमते-घूमते दशों दिशाओंमें स्थित बिन अप्यज  
अपवा स्वेदन जीवोंको सर्वदा देखा करता है [ वे कस्तुम उल्लसे पूषक्  
नहीं होते ] ॥ ६१ ॥

स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्र  
चरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने विष्णु  
वै वशासु स्थितान्पर्यटमानाङ्गीना  
न्प्रापिनोऽप्यजान्स्वेदजान्वा वा  
नसदा पश्यति ॥ ६१ ॥

जो स्वप्नोंको देखता है उसे स्वप्नद्रष्टा  
कहते हैं, यह स्वप्न सर्पात् स्वप्नस्थानोंमें  
घूमता हुआ दशों दिशाओंमें स्थित  
बिन स्वेदन अपवा अप्यज प्राणियों-  
को सर्वदा देखता है [ वे कस्तुम  
उल्लसं भिन्न नहीं होते ] ॥ ६१ ॥

यद्यन्नं ततः किम् ? उच्यते—

यदि रेखा है तो इतसे सिद्ध  
क्या हुआ ? सो बलकमते हैं—

स्वप्नदृक्विषत्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते तत् पृथक् ।

तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्विषत्तमिष्यते ॥ ६४ ॥

वे सब स्वप्नद्रष्टाके चित्तके दृश्य उल्लसे पूषक् नहीं होते । इसी  
प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उल्लिकर इत्य माना जाता है ॥६४॥

स्वप्नदृग्निषत्तं स्वप्नदृक्विषत्तम् ।  
तेन दृश्यास्ते जीवास्तसत्तसा-  
स्वप्नदृक्विषत्तात्पृथक्न विद्यन्ते  
न सतीत्यर्थः । विषत्तेव दानेक-  
जीवादिभेदाकारेण विद्वन्प्यते ।  
सुखा वदपि स्वप्नदृक्विषत्तमिदं

स्वप्नद्रष्टापर चित्त 'स्वप्नदृक्विषत्त'  
कहयाता है, उल्लसे देखे जानेवाले  
वे जीव उस स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे  
पृथक् नहीं हैं—यह इतपर तात्पर्य  
है । अनेक जीवाभिभेदरूपसे  
चित्त ही ब्रह्मका किया जाता है ।  
इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह  
चित्त स्वप्न दृश्य ही है ।

तद्दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं  
तद्दृश्यम् । अत स्वप्नदृश्यमिति  
रेफेण चिच नाम नास्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

उस स्वप्नदृश्यसे देखा जाता है,  
इसलिये उसका दृश्य है । अत तत्पर्य  
वह है कि स्वप्नदृश्यसे भिन्न चित्त  
भी कुछ है नहीं ॥ ६४ ॥



चरुजागरिते जाग्रद्विष्णु वै दशसु स्थितान् ।

अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ ६५ ॥

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते तत पृथक् ।

तथा तद्दृश्यमेवेद जाग्रत्तच्चित्तमिष्यते ॥ ६६ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें घूमते-घूमते जाग्रत्-अवस्थाका साक्षी दशों  
प्रशाओंमें स्थित बिन अण्डज अथवा स्वेदन जीवोंको सर्वदा देखता  
है ॥ ६५ ॥ वे जाग्रच्चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं हैं । इसी प्रकार  
वह जाग्रच्चित्त भी उसीका दृश्य मग्ना जाता है ॥ ६६ ॥

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ता-  
ध्यविरिक्ताच्चित्तक्षणीयस्वात्म्यम्  
एच्चित्तक्षणीयजीववत् । तच्च  
जीवेश्वरात्मक चित्तं द्रष्टुरभ्यति-  
रिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत् ।  
उक्तार्थमन्यत् ॥ ६५-६६ ॥

जाग्रत् पुरुषको प्रकृत्यापी देने-  
वाले जीव उसके चित्तसे अपृथक्  
हैं, क्योंकि स्वप्नदृश्यके चित्तसे देखे  
जानेवाले जीवोंके समान वे उसके  
चित्तसे ही देखे जाते हैं । तथा  
जीवोंको देखनेवाला वह चित्त भी  
दृश्यामे अभिन्न है, क्योंकि स्वप्नचित्त-  
के समान वह भी जाग्रद्दृश्याका  
दृश्य है । शेष अर्थ पहले कहा जा  
चुका है ॥ ६५-६६ ॥

उमे ह्यग्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोन्यते ।

लक्षणार्थान्यमुभय तन्मतेनैव गृह्यते ॥ ६७ ॥

वे [ जीव और चित ] दोनों एक-दूसरेके दृश्य हैं वे हैं क्व  
 क्व—सा कदा महीं वा स्रजता । ये दोनों ही प्रच्छन्नदृश्य हैं वे  
 केन्द्र तन्निवृत्तनासे कारण ही प्रक्ष्य जिये जाते हैं ॥ ६० ॥

जीवचित्तं तमे चित्तचैत्ये से  
 अन्यान्यदृश्य इतरतरगम्य ।  
 जीवादिषिषयापद्यं हि चित्तं नाम  
 भवति । चित्तापद्यं हि जीवादि  
 दृश्यम् । अतस्ते अन्यान्यदृश्य ।  
 तस्मात् किञ्चिदस्तीति बोध्यते  
 चित्तं वा चित्तेश्वरीयं वा किं  
 तदस्तीति विवेकिनोच्यते । न  
 हि स्वप्ने इस्ती इस्तिचित्तं वा  
 विद्यते तद्यथापि विवेकिनामित्य  
 भिप्रायः ।

जीव और चित अर्थात् चित  
 और चित्तके विषय—ये दोनों ही  
 अन्यान्यदृश्य अर्थात् एक-दूसरेके  
 विषय हैं । जीवादि विरूपकी अपेक्षा-  
 से चित्त है और चित्तकी अपेक्षासे  
 जीवादि दृश्य । वन वे एक-दूसरेके  
 दृश्य हैं । इसलिये ऐसा प्रश्न होनेपर  
 कि वे हैं क्या ? विवेकी लोग यही  
 कहते हैं कि चित्त अथवा चित्तका  
 दृश्य—इनमेंसे कोई भी क्व है नहीं ।  
 इससे उन विवेकी पुरुषोंका यही कनि-  
 प्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नमें हाथी  
 और हाथीको प्रक्ष्य करनेका दृश्य  
 नहीं होता उसी प्रकार यही  
 ( जाग्रत-अवस्थामें ) भी उनका  
 अभाव है ।

चित्त प्रवृत्त महीं हैं ! क्योंकि  
 वे चित्त और चैत्य दोनों ही अक्षणा  
 दृश्य-प्रमाणप्रक्षित हैं । चित्तसे जो  
 पदार्थ उच्छिन्न होता है उसे अक्षणा  
 यानी 'प्रमाण' कहते हैं । और  
 तन्मग—तन्निवृत्तनासे ही प्रक्ष्य किं  
 जाते हैं, क्योंकि न तो चन्द्रबिम्ब  
 त्यागकर चन्द्र ही प्रक्ष्य चित्त  
 जाता है और न चन्द्र त्यागकर

कथम् ! लक्षणादून्यं सस्य  
 वेऽन्यति लक्षणा प्रमाणं प्रमाण  
 शून्यसुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं  
 यतस्तन्मत्तनैव तन्निवृत्तयैव तद्  
 गृह्यते । न हि घटमतिं प्रत्या  
 ग्याय पत्रे गृह्यते नापि पत्रं  
 प्रत्याग्याय घटमतिः । न ।

सुत्र प्रमाप्प्रमयमेदः दुष्मते । उनने प्रनाग आर प्रनपर भेदयति  
 कल्पयितुमित्यभिप्राय ॥ ६७ ॥ कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ६७ ॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार स्वप्नरूप जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है, उसी  
 प्रकार ये सब जीव भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ६८ ॥

यथा मायामयो जीवा जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार मायामय जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है, उसी  
 प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ६९ ॥

यथा निर्मितका जीवा जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ७० ॥

जिस प्रकार मृगादिम रखा हुआ जीव उत्पन्न होता है और मरता  
 भी है उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ७० ॥

<p>मायामया मायाविना य          कृता निर्मितका मन्त्राण्यदि          निर्मितकादि । मयमायानि          मितका अण्डादया जीवा यथा          वापन्त म्रियन्त च तथा मनु          ष्यादिनयाना प्रविषयाना एव          विवर्तितानामाया इत्यर्थ          ॥ ६८—७० ॥</p>	<p>मन्त्रमय-जिमे मन्त्रादिना रणा          हा निर्मितका-मन्त्र अर ओरपि          जन्मि मन्त्रान् विना हुआ । मन्त्र,          दान और मन्त्रजिमे निगम रूप          अण्डय अदि जीव जिम प्रकार          उत्पन्न होते और मरते भी हैं उसी          प्रकार मनुष्यादिना जीव मन्त्रान्          होते हुए भी विवर्तित मन्त्रान्          ही हैं—एतन्नाम अर्थ          ॥ ६८—७० ॥</p>
---	--



अजाति ही उत्तम सत्य है

न कश्चिज्जायते जीव समधोऽस्य न विद्यते ।

एतच्चदुष्म सत्य यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ७१ ॥

[ वस्तुतः ] कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, उसके अन्तर्की सम्प्रकृता ही नहीं है। उत्तम सत्य तो यही है कि जिसमें किसी वस्तुकी उत्पत्ति ही नहीं होती ॥ ७१ ॥

व्यवहारसत्यविषये जीवानां  
अन्ममरणादिः स्वप्नादिजीववदि  
त्युक्तम् । उत्तमं तु परमार्थसत्यं  
न कश्चिज्जायते जीव इति ।  
उक्तार्थमन्यत् ॥ ७१ ॥

म्याहारिक सत्तामें भी जीवोंके  
जो अन्ममरणादि हैं वे स्वप्नादिके  
जीवोंके ही समान हैं—ऐसा पहले  
कहा जा चुका है; किन्तु उत्तम  
सत्य तो यही है कि कोई भी जीव  
उत्पन्न नहीं होता। अन्ममरणादि  
म्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ ७१ ॥

चित्तकी असंगता

चित्तस्पन्दितमेवद्र प्राज्ञप्राहकश्चद्वयम् ।

चित्त निर्विषय नित्यमसङ्ग तेन कीर्तितम् ॥ ७२ ॥

विषय और इन्द्रियोंके सहित यह संपूर्ण हैत चित्तका ही स्वरूप  
है; किन्तु चित्त निर्विषय है; इसीसे उसे नित्य असंग कहा गया है ॥ ७२ ॥

सर्व प्राज्ञप्राहकश्चित्तस्य  
न्दितमेव द्वयं चित्त परमार्थत  
आमंत्रति निर्विषय तन निर्विष  
परबन नित्यमसङ्गं कीर्तितम् ।  
“अपज्ञा द्वयं पुरुष ” ( सू० उ०

विषय और इन्द्रियोंसे युक्त  
संपूर्ण हैत चित्तका ही स्वरूप है।  
किन्तु चित्त परमात्म-आत्मा ही  
है, इसलिये वह निर्विषय है। उस  
निर्विषयपक्षके कारण उसे सर्वदा असंग  
कहा गया है; अतः कि “यह पुरुष

४ । ३ । १५, १६ ) इति धृतोः ।  
 सविषयस्य हि विषये सङ्गः ।  
 निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः  
 ॥ ७२ ॥

असंग ही है" इस धृतिमे प्रमाणित  
 होता है । जो सविषय होता है उसी-  
 का अपने विषयसे संग हो सकता है ।  
 वन तापर्य यह है कि निर्विषय  
 होनेके कारण चित्त असंग है ॥ ७२ ॥

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं  
 चित्तस्य न निःसङ्गता भवति  
 यस्मान्छास्ता द्वात्तं क्षिप्यमत्वेव  
 मादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात् ।  
 नैव दोषः, कस्मात्—

सङ्ग—यदि निर्विषयत्वके कारण  
 ही असंगता होती है तो चित्तकी  
 असंगता तो हो ही नहीं सकती क्योंकि  
 शास्त्र ( गुरु ), शास्त्र और  
 शिष्य इत्यादि उसके विषय  
 विषयमन हैं ।

समाधान—यह दोष नहीं हो  
 सकता, क्योंकि—

व्यावहारिक वस्तु परमार्थतः नहीं होती

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नारत्यसौ ।

परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ ७३ ॥

जो पदार्थ कल्पित व्यवहारके कारण होता है वह परमार्थन नहीं  
 होता; और यदि अन्य मन्त्रादिभिर्योके शास्त्रोक्ति परिभ्रमके अनुसार हो  
 तो भी वह परमार्थन नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

यः पदार्थः द्वात्तादिर्विद्यते स  
 कल्पितसंवृत्या; कल्पिता च सा  
 परमार्थप्रतिपक्ष्युपायत्वेन संज्ञ  
 तिष्य सा, तथा योऽस्ति परमार्थेन

जो भी शास्त्रादि पदार्थ हैं वे  
 कल्पित व्यवहारसे ही हैं अर्थात्  
 जिस व्यवहारकी परमार्थत्वकी  
 उपलब्धिके उपायरूपसे कल्पना की  
 गयी है उसके कारण जिस पदार्थ-  
 की सत्ता है वह परमार्थसे नहीं है ।  
 "ज्ञान हो जानेपर हीन नहीं रहता"

नास्त्यसौ न विद्यते । ज्ञाते द्वैतं  
न विद्यत इत्युक्तम् ।

यद्य परतन्त्राभिसंभूत्वा पर  
शास्त्रव्यवहारस्य स्वात्पदाय स  
परमार्थतो निरूप्यमाणो ना  
स्त्वंव । तत्र युक्तमुक्तममङ्गं तत्र  
कीर्तितमिति ॥ ७३ ॥

( आगम० श्लो० १८ ) ऐसा हम  
पहले कह ही चुके हैं ।

इसके सिवा जो पदार्थ परतन्त्रा-  
भिसंभूतिये—अन्य मन्त्रावलीव्योक्ति  
शास्त्रव्यवहारसे सिद्ध है वह  
परमार्थत निरूपण किये जानकर  
नहीं है । अत्र 'इतीति' उसे कहकर  
कहा गया है—यह कर्मन ही ही  
है ॥ ७३ ॥



आत्मा अज्ञ है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है

ननु शास्त्रादीनां संबुद्धित्वेऽत्र  
इतीयमपि कल्पना संबुद्धिः  
स्यात् ?

सत्यमेवम् ।

अज्ञ कल्पितसंबुद्ध्या परमार्थेन नाप्यज ।

परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संबुद्ध्या जायते तु स ॥ ७४ ॥

अज्ञ—शास्त्रादिको व्यावहारिक  
अननपर तो 'अज्ञ है' ऐसी  
कल्पना भी व्यावहारिक ही सिद्ध  
होगी ।

समाधान—हाँ, बात तो ऐसी ही है ।

आत्मा 'अज्ञ' भी कल्पित व्यवहारके कारण ही कहा जाता है,  
परमात्म तो 'अज्ञ' भी नहीं है । अन्य मन्त्रावलीव्योक्ति शास्त्रोंसे सिद्ध  
जो संबुद्धि ( अनन्यमित्य व्यवहार ) है उसके अनुसार उसका जन्म  
होगा ही । [ अज्ञ उमका नियम कर्मके किये ही उसे 'अज्ञ' कहा  
गया है ] ॥ ७४ ॥

शास्त्रादिकल्पितसंबुद्ध्याऽत्र  
इत्युच्यते । परमार्थेन नाप्यजः

शास्त्रादिकल्पित व्यवहारके  
कारण ही उसे 'अज्ञ' ऐसा कहा  
जाया है । परमात्म तो वह अज्ञ

यस्मात्परतन्त्राभिनिष्पत्त्या पर  
शास्त्रसिद्धिमपेक्ष्य योजन इत्युक्तः  
स संवृत्त्या जायते । अतोऽत्र  
इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये  
नैव क्रमत इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

भी नहीं है । क्योंकि यहाँ अिसे अन्य  
शास्त्रोकी सिद्धिकी अपेक्षासे 'अत्र'  
ऐसा कहा है, यह संवृत्तिसे ही  
जन्म भी होता है । 'अत एव अत्र  
' ऐसी कल्पनाअत्र भी परमार्थ  
राज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता ॥७४॥

इतितामावसे जन्माभाव

यस्मात्सद्विषयस्तस्मात्— । क्योंकि विषय असत् है, इसलिये—  
अमृताभिनिवेशोऽस्ति द्वय तत्र न विद्यते ।

द्वयाभाव स ध्रुव्यैव निर्निमित्तो न जायते ॥ ७५ ॥

लोगोंका असत्य [ ईत ] के नियमों केबिना व्याप्ति है । यहाँ  
[ परमार्थराज्यमें ] ईत है ही नहीं । जीव इतिमावका बोध प्राप्त करने  
की, फिर कोई कारण न रहनेसे जन्म नहीं होता ॥ ७५ ॥

असत्यमृते ईतप्रभिवेशोऽस्ति । असत्यमृत ईतमें लोकोका केबिना

विषयविनिवेश केवलम् । अभिवेश

विषयमात्रमात्रम् । इयं

कल्पना तत्र न विद्यते ।

विषयाभिवेश-

मात्र च अमन कारण यस्मात्

स्माद्द्वयाभावं ध्रुव्या निर्निमित्तो

निवृत्तविषयाद्वयाभिवेशो यः

स न जायते ॥ ७५ ॥

अभिवेश है । व्याप्तिमात्रका नाम  
अभिवेश है । यहाँ [ परमापवस्तुमें ]  
ईत है ही नहीं । क्योंकि विषया  
अभिवेशमात्र ही जीवके जन्मका  
कारण है । अत इतिमावको जानकर  
जो निर्निमित्त हो गया है अर्थात्  
विषयका विषया ईतविषयक व्याप्ति  
निवृत्त हो गया है उस [ अविद्यारी  
जीव ] का फिर जन्म नहीं  
होता ॥ ७५ ॥

यदा न लभते हेतुत्तमाद्यममध्यमान् ।

तदा न जायते विषय हेत्वभावे फलं कृता ॥ ७६ ॥

जिस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको प्राप्त नहीं करता, उस समय उसका जन्म भी नहीं होता, क्योंकि हतुकत अन्वय होनेपर फिर फल कहीं हो सकता है ? ॥ ७६ ॥

आत्पाधमविहित्वा आक्षीर्ष  
 विरैरनुष्ठीयमाना  
 धर्मा देवत्वादि  
 प्राप्तिहेतव उत्तमाः  
 कषलाश्च धर्माः । अधर्मभ्यामिध्या  
 मनुष्यत्वादिप्राप्स्यर्था मध्यमाः ।  
 तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्म-  
 लक्षणाः प्रवृत्तिविद्येपाधाधमाः ।  
 तानुचममध्यमाधमानविद्यापरि-  
 कल्पितान्यर्दकमवादिषीपमात्म  
 तस्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं ज्ञानन्न  
 लभते न पश्यति यथा बालैर्दृश्य  
 मान गगने मल त्रिविकी न पश्यति  
 तद्वत्तदा न आपत्त नास्पद्यते  
 चित्तं दबाद्याकारैरुचमाधम  
 मध्यमकलरूपण न वसति  
 हेर्षा फलमुत्पद्यते बीजाधमाव  
 इव सत्यादि ॥ ७६ ॥

निष्कलम मनुष्योंइस अनुष्ठान  
 किये जाते हुए देवत्वादिकी प्राप्तिके  
 हेतुमूल वर्गाधमविहित धर्म, जो  
 केवल धर्म ही हैं, उत्तम हेतु हैं और  
 मनुष्यत्वादिकी प्राप्तिके हेतुमूल जो  
 अधमविहित धर्म हैं वे मध्यम हेतु हैं  
 तथा तिर्यगादि योनियोंकी प्राप्तिकी  
 हेतुमूल अधर्ममयी विद्येय प्रवृत्तियों  
 अधम हेतु हैं । जिस समय संपूर्ण  
 कल्पनासे रहित एकमात्र अद्वितीय  
 आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर तब उत्तम,  
 मध्यम और अधम हेतुओंको मनुष्य  
 इस प्रकार उपलब्ध नहीं करता,  
 जैसे कि विवेकी पुरुष आकाशमें  
 बाणोंको दिखायी देनेवाले  
 मज्जिनवाको नहीं देखता, उस समय  
 चित्त उत्तम, मध्यम और अधम फल-  
 रूपसे देवादि शरीरोंमें उत्पन्न नहीं  
 होता । बीजादिक अन्वयमें जैसे  
 अस्मिन् उत्पन्न नहीं होते उन्हीं  
 प्रकार हेतुके न होनेपर फलकी नै  
 उत्पत्ति नहीं होती ॥ ७६ ॥

इत्स्वभाव चित्तं नास्पद्यत इति

हेतुपर अन्वय ही जानेपर चित्त  
 उत्पन्न नहीं होना—देखा फलते बह

कृत्तम् । सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य | गया । किन्तु यह चित्तकी अनुत्पत्ति  
की दृष्टीत्युच्यते— | वैती होती है । इसपर कहा जाना है—

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्ति समाद्वया ।

अजातस्यैव सर्वस्य चित्तद्वय हि तद्यत ॥ ७७ ॥

[ इस प्रकार ] निमित्तशून्य चित्तकी जो अनुत्पत्ति है वह सर्वथा  
निर्बिम्ब और अद्वितीय है । [ क्योंकि पहल भी ] यह सर्वथा अजात  
[ अर्थात् अद्वितीय ] चित्तकी ही होती है, क्योंकि यह जो कुछ  
[ प्रतीयमान द्वैतवर्ग ] है, सब चित्तका ही दृश्य है ॥ ७७ ॥

परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्मा-  
धर्मास्पोत्यधिनिमित्तस्थानिमित्त  
स्य चित्तस्येति या मोक्षास्थानु  
त्पत्तिः सा सर्वदा सर्वायस्यास्तु समा  
निर्बिम्बेपाद्वया च । पूर्वमप्यज्ञा  
तस्यैवानुत्पत्तस्य चित्तस्य सर्वस्या  
द्वयस्येत्यर्थः । यस्मात्प्रागपि  
विज्ञानाच्चित्तद्वयं तद्द्वयं जन्म  
च तस्माद्वातस्य सर्वस्य सर्वदा  
चित्तस्य समाद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः  
कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न  
भवति । सर्वदैकस्वैर्ष्यत्यर्थ ॥७७॥

परमार्थज्ञानक द्वारा जिसका  
धर्माधर्मरूप उत्पत्तिकारण निवृत्त  
हो गया है उस निमित्तशून्य चित्तकी  
जो मोक्षास्तंभक अनुत्पत्ति है वह  
सर्वदा सब अस्त्याओंमें समान अर्थात्  
निर्बिम्ब और अद्वितीय है । वह  
पहलेसे ही अजात-अनुत्पन्न और  
सर्व अथात् अद्वय चित्तकी ही होती  
है । क्योंकि बोध होनेक पूर्व भी  
यह हैत और जन्म चित्तका ही दृश्य  
था, अतः सम्पूर्ण अजात चित्तकी  
अनुत्पत्ति सर्वथा सनान और अद्वय  
ही होती है । ऐसी नहीं है कि  
पत्नी होती है और बन्नी नहीं होती ।  
त्यन्तव्य यह है कि यह सर्वदा  
एकरूपा ही है ॥ ७७ ॥

विद्वान्की जन्मरूपप्राप्ति

यथोक्तेन न्यायेन अन्ननिमि  
तस्य द्वयसाभावात्—

उपयुक्त न्यायसे जन्मके एतन्मूल  
द्वयन्न अभाव होनेसे परम—

बुद्ध्यानिमित्ततां सत्यां हेतु पृथग्नाप्नुवन् ।

वीतशोक तथाकाममभय पदमश्नुते ॥ ७८ ॥

अनिमित्तताको ही सत्य नामकर और [ दशदि योनिकी प्राप्तिके ] किसी अन्य हेतुको न पाकर विद्वान् शोक और कामसे रहित अममपद प्राप्त कर लेता है ॥ ७८ ॥

अनिमित्ततां च सत्यां पर  
मार्थरूपां बुद्ध्या हेतु धर्मादि  
कारण्यं द्वादशयोनिप्राप्तये पृथ  
ग्नाप्नुवन्पददानस्त्यक्तवा  
द्येषुः सन्कामशोकदिवर्जित-  
मविद्यादिरहितमभयं पदमश्नुते  
पुनर्न ज्ञायत इत्यर्थ ॥ ७८ ॥

अनिमित्तताको ही सत्य यानी  
परमार्थरूप जानकर तथा दशदि  
योनियोंकी प्राप्तिके लिये किसी अन्य  
धर्मादि कारणको न पाकर [ विद्वान् ]  
बाह्य प्रणयोंसे मुक्त हो कामना एवं  
शोकदिवसे रहित अविषाद्युक्त अमम-  
पदको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि  
फिर जन्म नहीं लेता ॥ ७८ ॥

अमृताभिनिवेशादि सदृशो तत्प्रवर्तते ।

वस्त्रभात्र स बुद्ध्यैव नि सद्ग्या विनिवर्तते ॥ ७९ ॥

निरुक्त अन्य [ हेतु ] के अमिनिवेशसे ही तदनु रूप विस्मर्ति  
प्रवृत्त है । तथा [ हेतु ] वस्तुके अभावकर मोष होनेपर ही वह उससे  
निरुक्त होकर छान जाता है ॥ ७९ ॥

पन्नादमृताभिनिवेशादसति

इयं द्रवाक्षित्वनिबन्धोऽमृताभि-  
निवेशस्तसादविद्याभ्यामोदरूपा-  
दि सदृशे तदनुरूप तद्विषयं  
प्रवर्तते । तस्य इयस्य वस्तुनो-

क्योंकि अमृताभिनिवेशसे जो हेतु  
वस्तुतः असत्य है उसके अक्षित्व  
निबन्ध करना अमृताभिनिवेश,  
है—उक्त अविद्याजनित मोहका  
अमृताभिनिवेशके कारण ही निरुक्त  
तदनु रूप विस्मर्ति प्रवृत्त होता है ।  
असि ममम यह एतत् हेतु वस्तु

मार्गं यदा बुद्धवांस्तदा तस्मात्त्रि  
 ण्णं निरपेक्षं सद्भिनिवर्तयेऽभूत्  
 भेनिवेशविषयात् ॥७९॥

धमात्त जान छता है उस समय उस  
 मिथ्या अभिनिवेशनित विषयसे  
 नि सग-निरपेक्ष होकर व्यंज आता  
 है ॥ ७९ ॥

मनोवृत्तिषोऽपि तन्निभे ब्रह्मसाक्षात्कार

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थिति ।

विषय स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥ ८० ॥

इस प्रकार [द्वैतमे] निवृत्त और [त्रियान्तरमे] प्रवृत्त न हुए चित्तकी  
 उस समय निश्चल स्थिति रहती है । यह परमार्थदर्शां पुरुषोक्ता ही विषय  
 है और यही परम साम्य, अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषया-  
 न्तरं चाप्रवृत्तत्वाभावदर्शनेन  
 चित्तस्य निश्चला चलनमर्जिता  
 ब्रह्मस्वरूपैव तदा स्थितिः । येषां  
 ब्रह्मस्वरूपा स्थितिचित्तस्याद्वय  
 विज्ञानैकरसघनलक्षणा, स हि  
 यस्याद्विषयो गोचरः परमार्थ  
 दक्षिणां बुद्धानां तस्मात्तत्साम्य  
 परं निर्बिच्छेपमजमद्वय च ॥८०॥

उस समय द्वैतविषयसे निवृत्त  
 और त्रियान्तरमे अप्रवृत्त चित्तकी  
 अभ्युदयानक कारण निश्चला-चलन  
 बर्जिता अर्थात् ब्रह्मस्वरूपा स्थिति  
 रहती है । चित्तकी ना यह  
 अद्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा ब्रह्म-  
 मयी स्थिति है यह, क्योंकि  
 परमार्थदर्शां ज्ञानियोक्ता विषय-गोचर  
 है इसलिये परमसाम्य-निर्बिच्छेप  
 अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

पुनरपि कीदृशमासौ बुद्धानां  
 विषय इत्याह—

यद्ब्रह्मनियोक्तं विषयं कित्तप्रकार  
 क्व है सो कित्त मी बतल्यते है—

अजमनिद्रमस्थप्न प्रमात्त भवति स्वयम् ।

सकृद्विभातो ह्येवैष चर्मो घातुस्वभाक्त्त ॥ ८१ ॥



यद् अज, अनिद्र, असृष्ट आर स्वयं प्रकाश है । यद् [ आत्मनामक ] धर्म अपन वस्तु-स्वभावसे ही नित्य प्रकाशमान है ॥ ८१ ॥

स्वयमेव तत्प्रभावं भवति, | यद् स्वयं ही प्रकाशित है।  
नादित्याद्यपेक्षम्; स्वयन्पोति 'स्व | है—आदित्य आदिकी अपेक्षासे नहीं  
भावमित्यर्थ । सद्ब्रिभातः | अर्थात् यद् स्वयं प्रकाशस्वभाव है।  
सदैव विभात इत्येतदप एष लक्षण | यद् ऐसे लक्षणोंवाला आत्मनामक  
आत्मारूपो धर्मो धातुस्वभावतो | धम धातुस्वभाव—वस्तुस्वभावसे ही  
वस्तुस्वभावत इत्यर्थः ॥ ८१ ॥ | सद्ब्रिभात सदा भासमान है ॥ ८१ ॥

आरमाणीं दुर्दशताका हेतु

एषमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं | इस प्रकार कहे जानपर भी  
कस्माच्छौकिकैर्न गृह्यत इत्युच्यत— | शौकिक पुरुषोंको इस परमार्थतत्त्वं  
योध क्यों नहीं होता ' इसपर  
कहते हैं—

सुखमात्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।  
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥ ८२ ॥

ये भगवान् त्रिस-किंती द्वैतवस्तुके आग्रहसे अनायास ही आच्छादित  
हो जाते हैं और सदा कष्टिनतासे प्रफट होते हैं ॥ ८२ ॥

यस्माद्यस्य कस्यचिद्द्वयवस्तुनो | क्योंकि त्रिस किंती धर्म—द्वैत  
धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावशेन मिथ्या- | वस्तुक ग्रहण—आग्रहसे निष्पा  
मिनिषिष्टया सुखमात्रियते | मिनिषेदके कारण ये भगवान् अर्थात्  
द्वय आग्रहेण सुख ही आग्रह  
द्वयवस्तुनाच्छाद्यत इत्यर्थः । द्वयो | हो जाते हैं अर्थात् बिना आग्रहके  
ही आच्छादित हो जाते हैं—क्योंकि  
पलम्बिनिमित्तं हि तत्रापरणं न | द्वैतवस्तुके निमित्तसे होनेवाला  
यत्नान्तरमपेक्षते । दुःखं च | आरण किंती अन्य पलम्बि अपेक्षा

विधियते प्रक्रीकियते, परमार्थ  
ज्ञानस्य दुर्लभत्वात् । भगवान्  
साक्षात्माद्यो वद इत्यर्थं,  
अतो वेदान्तराधायक पदुषु  
उष्णमानोऽपि नैव दृष्टुं शक्य  
इत्यर्थः । “आधयो वक्ता कुश  
लोऽस्य लम्बा” ( क० उ० १ ।  
२ । ७ ) इति श्रुत ॥ ८२ ॥

नहीं करता—और परमार्थज्ञान दुर्लभ  
होनेके कारण इससे प्रकृत किये  
जाते हैं, इसलिये वदन्त्याचापोंके  
अनेक प्रकार निरूपण करनेपर भी  
ज्ञाननेमें नहीं जा सकते—यह  
इसका तात्पर्य है । “भूमय्य वणन  
कतनशक्य आत्मवर्षण है तथा इसे  
भ्रमण करनेवाला भी कोई निपुण  
पुरुष ही होता है” इस धुमिसे भी  
यही सिद्ध होता है ॥ ८२ ॥

परमात्मस्य आवरण करनेवाले असन्निवेश

अस्ति नास्तीत्यादिसूक्ष्मविषया  
अपि पण्डितानां ग्राहा भगवत्  
परमात्मन आवरण एव क्रियते  
मूढजनानां पुद्गिलक्षणा इत्येव  
मर्थं प्रदर्शयन्नाह—

अस्ति-नास्ति इत्यादि सूक्ष्मविषय  
भी, जो पण्डितोंके आपस में हैं,  
भगवान् परमात्माके आवरण ही हैं,  
किर मूख लोगोंके पुद्गिलक्षण आपसों-  
की तो बात ही क्या है ! इसी  
कारणसे लिखते हुए कहते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुन ।

चलस्थिरोभयाभावेरावृणोत्पेव षालिश ॥ ८३ ॥

अस्त्य है नहीं है है भी और नहीं भी है तथा नहीं है—नहीं है—  
इस प्रकार स्थिर, स्थिर, उभयपक्ष और अन्वयपक्ष कोटिपेसे  
पूर्वश्रेण परमात्मको आवरणदित ही फलत है ॥ ८३ ॥

अस्त्यात्ममति पाद्री कश्चित्प्र  
तिरघत् । नाम्नीत्यपरा येना-  
विद्ध । अस्मि नास्तीत्यपराऽर्थ

कहाँ पाती पहल है—जगत्  
है । इन्ना नामागिक पहल है—  
नहीं है । अस्मि अर्द्धनाशिय  
मत्सगती पित्त-पर पहल है—है

वैनाशिकः सदसदादी दिम्बा-  
साः । नास्ति नास्तीत्यन्तश्च य-  
थादी । तत्रास्तिभावबल , यथा-  
यनित्यविलक्षणत्वात् । नास्ति-  
भावः स्थिरः सदाविशेषत्वात् ।  
उभय चञ्चलस्तिरविषयत्वात्सद-  
सद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः ।

प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतै-  
श्चञ्चलस्तिरोभभावैः सदसदादि-  
वादी सर्वोऽपि भगवन्तमाह्वयो-  
स्यैव बालिष्ठाऽविशेषी । यद्यपि  
पण्डितो बालिष्ठा एव परमार्थ-  
तत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावसूडो-  
घ्न इत्यभिप्रायः ॥ ८३ ॥

भी और नहीं भी है' । तथा व्यक्त  
शून्यवाणीकर यथन है कि नहीं  
है—नहीं है' । इनमें अस्तिभाव  
'अच्छ' है, क्योंकि वह यत् अस्ति  
अनित्य पदार्थोंसे भिन्न है । [ तदर्थं  
यह है कि यद्यपि प्रमाणा सुखानि  
विशेष धर्मोंसे युक्त होनेके कारण  
परिणामी—चञ्चल है ] । सदा अविशेष-  
रूप होनेसे नास्तिभाव 'स्थिर  
है । चञ्चल और स्थिरविषयक होनेसे  
सदसद्भाव उभयरूप है तथा अभाव  
अत्यन्ताभावरूप है ।

इन चञ्चल, स्थिर, चञ्चलस्तिर और  
अभावरूप चार प्रकारके भावोंसे सभी  
मूर्ख अर्थात् विवेकहीन सदसदादि-  
वादीगण भगवान्को आश्चर्यहित  
ही करते हैं । वे यद्यपि पण्डित हैं,  
तो भी परमार्थतत्त्वका ज्ञान न होनेके  
कारण मूर्ख ही हैं । अतः तदर्थं यह  
है कि फिर स्वभावसे ही मूर्खत्वोंकी  
तो बात ही क्या है ? ॥ ८३ ॥

कीदृश्युनः परमार्थतत्त्व यदव-  
बोधाद्बालिष्ठाः पण्डितो भवती  
त्याह—

तो फिर वह परमात्मतत्त्व कैसा  
है जिसका ज्ञान होनेपर मनुष्य  
अनाश्रित अर्थात् पण्डित हो जाता  
है ? इसपर कहते हैं—

कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।

भगवानाभिरस्पृष्टा येन दृष्ट स सर्वदृक् ॥ ८४ ॥

जिनके अभिनिवेशसे आत्मा सदा ही आवृत रहता है व ये चार ही कोटियों हैं। इनसे असंस्पृष्ट (अच्छूते) भगवान्को विसन देखा है वही सब है ॥ ८४ ॥

कोटयः प्रावादुक्कशास्त्रनिर्भ-  
 यन्ता एता उक्ता  
 अस्ति नास्तीत्या-  
 याश्चतस्रो यासां  
 कोटीनां प्रहैप्रहणै  
 हरलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदावृत  
 आच्छादितस्तपामेव प्रावादुक्का  
 नां यः स भगवानाभिरस्तिना  
 स्तीत्यादिकोटीभिश्चतसृभिरप्स-  
 स्पृष्टोऽत्यादिभिश्चस्पनावर्जित  
 इत्येतत्तेन मुनिना दृष्टो ज्ञातो  
 वेदान्तेष्वौपनिषद् पुरुषः स  
 सर्वज्ञसर्वज्ञः परमार्थपण्डित  
 इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

उन प्रवाद करनेवाले आदियोंके  
 शक्तियोंद्वारा निष्पन्न की हुई ये अस्ति-  
 नास्ति आदि चार ही कोटियों हैं।  
 जिन कोटियोंके प्रह—प्रहणसे ही,  
 अर्थात् उन प्रावादुक्कोंके इस उपलम्बि  
 जनित निश्चयसे ही जो भगवान् सदा  
 आवृत है उसे जिस मुनिने इन  
 अस्ति-नास्ति आदि चारों ही कोटियों-  
 से असंस्पृष्ट अर्थात् अस्ति-नास्ति  
 आदि विकल्पसे सबदा रहित देखा  
 है, यानी उसे वेदान्तोर्मि [प्रतियादित]  
 औपनिषद् पुरुषरूपसे जाना है वही  
 सर्वज्ञ—सर्वज्ञ अर्थात् परमार्थको  
 जाननेवाला है ॥ ८४ ॥

### शान्तिश्च नैकम्

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्वां ब्राह्मण्य पदमद्भयम् ।

अनापन्नादिमघ्यान्त किमत परमीहते ॥ ८५ ॥

इस पूर्ण सबज्ञता और अदि मध्य एवं अन्तसे रहित अद्वितीय  
 ब्राह्मण्य पदको पाकर भी क्या [ अदि लियेकी पुरुष ] फिर कोई चेद्य  
 करत है ! ॥ ८५ ॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्वां  
 समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं  
 "स ब्राह्मणः" ( सू० उ०  
 इस उपयुक्त सम्पूर्ण सर्वज्ञता  
 और "[ जो इस अक्षरको जानकर  
 इस लोकसे जाय है ] अदि ब्राह्मण

३।८।१०) "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" ( पृ० उ० ४।४।२३) इति श्रुतेः; आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थिति-लया अनापन्ना अप्राप्ता यस्याद् यम्य पदस्य न विद्यन्ते तदनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्य पदम्, तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमसादात्मलाभादूर्ध्वमीहते च एते निष्प्रयोजनमित्यर्थः । "नैव तस्य कृतेनार्थः" ( गीता ३।१८) इत्यादिस्मृतेः ॥ ८५ ॥

है" "यह ब्राह्मणकी शाश्वती महिम है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्राह्मण्यपदका प्राप्तकर-किस अरूप पदके अन्ति, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय अनापन्न—अप्राप्त हैं अर्थात् नहीं हैं वह अनापन्नादिमध्यान्त ब्राह्मण्य है, उसीको पाकर इससे पीछे—इस आत्मजन्मके अनन्तर कोई प्रयोजन न रहनेपर भी क्या [ वह विद्वान् ] को क्या करता है ? [ अर्थात् नहीं करता ] ऐसा कि "उत्पत्तिका किसी कार्यसे प्रयोजन नहीं रहता" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है ॥ ८५ ॥

विप्राणां विनयो ह्येष शम प्राकृत उच्यते ।

दम प्रकृतिवान्तत्वादेव विद्वारुशम व्रजेत् ॥ ८६ ॥

[ अन्तस्वरूपमें स्थित रहना ] यह उक्त ब्राह्मणोंका विनय है, यही उनका स्वाभाविक शम कहा जाता है तथा समाप्ति ही दान्त ( नित्येन्द्रिय ) होनेके कारण यही उनका दम भी है । इस प्रकार विद्वान् शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्म-स्वरूपेणावस्थानम् । एष विनयाः क्षमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते । दमोऽप्येष

ब्राह्मणोंका जो यह आत्मस्वरूपसे स्थित होमात्म विनय—किनीकरण है वह स्वाभाविक है । उनका यह विनय और यही प्राकृत—स्वाभाविक अर्थात् अकृतक शम भी कहा जाता है । प्रकृतस्वभावसे ही अकृतक

एष प्रकृतिदान्तरत्वात्स्वभावत एव  
 शोषधान्तरूपत्वाद्ब्रह्मण । एवं  
 यथोक्त स्वभावोपधान्तं ब्रह्म  
 विद्वान्ब्रह्ममनुपधान्ति स्वामाविष्ठी  
 ब्रह्मस्वरूपां ब्रजेद्ब्रह्मस्वरूपेणाय  
 तिष्ठत इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

है, अतः प्रकृति दान्त होनेके  
 कारण यही उनका दम भी है ।  
 इस प्रकार उपयुक्त स्वभावत शान्त  
 ब्रह्मको जाननेका प्रथम शान्त—ब्रह्म-  
 स्वरूपा स्वामाविष्ठी उपधान्तिको  
 प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मरूपसे  
 स्थित हो जाता है ॥ ८६ ॥

### त्रिभिष होव

एषमन्योन्यविरुद्धस्वात्संसार  
 करणानि रागद्वेषदोषास्पदानि  
 प्राणादुच्चानां दर्शनानि । अतो  
 मिथ्यादर्शनानि तानीति तद्यु  
 क्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटि  
 भर्त्रित्वाद्वागादिदोषानास्पदं  
 स्वभावश्चा तमर्द्रतद्वदनमत्र स  
 न्यदर्शनमित्युपसंहृतम् । अथे  
 दानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थं  
 आरम्भः—

इस प्रकार एक-दूसरेसे विरुद्ध  
 होनेके कारण प्राणदुर्गों ( वादियों )  
 के दर्शन संसारके कारणस्वरूप  
 राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं । अत  
 ये मिथ्या दर्शन हैं—यह बात  
 उन्हींकी युक्तियोंसे दिखलाकर चारों  
 कोणोंसे रहित होनेके कारण  
 रागादि दोषोंका अनाश्रयमूल  
 स्वभावत शान्त अद्वैतज्ञान ही  
 सम्पन्न होना है—इस प्रकार उपसंहार  
 किया गया । अब यहाँसे अपनी  
 प्रक्रिया दिखानेके लिये आरम्भ  
 किया जाता है—

सर्वस्तु सोपलम्भ च द्वय लौकिकमिप्यते ।

अथस्तु सोपलम्भ च शुद्ध लौकिकमिप्यते ॥ ८७ ॥

बस्तु और उपाधि दोनोके सहित जो है तसे लौकिक  
 ( जगत् ) कहते हैं तथा जो है तसे बस्तुके बिना केवल उपधियोंके  
 सहित है तसे शुद्ध लौकिक ( स्वप्न ) कहते हैं ॥ ८७ ॥

सवस्तु संवृत्तिसत्ता वस्तुना  
 सह वर्तत इति  
 सवस्तु, तथा चा-  
 पलम्भिरुपलम्भस्तेन सह वर्तत  
 इति सोपलम्भं च शास्त्रादितर्ष  
 ष्ववहारास्पत् प्राद्यप्राहकलक्षण  
 द्वय लौकिक लोकप्रदनपेठं लौकिकं  
 आगरितमित्येतत् । एवंलक्षणं  
 आगरितमित्यप्यते वेदान्तेषु ।

अवस्तु संवृत्तेरप्यभावात्  
 सोपलम्भं वस्तुवद्  
 पलम्भनमुपलम्भो  
 ऽवस्त्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत  
 इति सोपलम्भ च । शुद्धं केवलं  
 प्रविमर्कं जागरितात्स्थूलास्त्वौ-  
 किकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादि-  
 प्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

सवस्तु—व्यावहारिक सत् वस्तुके  
 सहित रहता है, इसलिये जो  
 सवस्तु है तथा उपलम्भ घानी उप-  
 लम्भिके सहित है, इसलिये जो  
 'सोपलम्भ' है ऐसा शास्त्रादि  
 सम्पूर्ण म्यवहारका आश्रयमृत प्राद्य-  
 प्रमाणरूप जो द्वैत है वह 'लौकिक'—  
 लौकिकसे दूर न रहनेवाला अर्थात्  
 जाण्ट कदाञ्चता है । केनान्तरेमि  
 जागरितिके ऐसे लक्षणोंवाला माना है ।

संवृत्तिकर भी अव्यव होनेके  
 कारण जो 'अवस्तु' है—किन्तु  
 'सोपलम्भ' है—वस्तुके न होने-  
 पर भी वस्तुके समान उपलम्भ  
 होना 'उपलम्भ' कदाञ्चता है  
 उसके सहित होनेके कारण जो  
 'सोपलम्भ' है वह सम्पूर्ण प्राणियों  
 के लिये साधारण होनेके कारण शुद्ध  
 केवल अर्थात् जागरितिके स्थूल  
 लौकिकसे भिन्न लौकिक माना जाता  
 है; अर्थात् वह सन्नाहता है ॥ ८७ ॥

अवस्त्वनुपलम्भ च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।

ज्ञान ज्ञेय च विज्ञेय सदा बुद्धे प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

जो वस्तु और उपलम्भ दोनोंसे रहित है वह अवस्था लोकोत्तर  
 ( सुत्रसि ) मानी गयी है । इस प्रकार विद्वानोंने सर्वथा ही [ अवस्था-  
 प्रयत्न ] ज्ञान और ज्ञेय तथा [ तुरीयरूप ] विज्ञेयका निरूपण  
 किया है ॥ ८८ ॥

अवस्त्वनुपलम्भं च प्राद्य  
 प्रहणवर्धितमित्य  
 तद, लोकोत्तरम्  
 अथ एव साकातीतम् । प्राद्यप्रहण  
 विषयो हि लोकन्तद्भावात्सर्व  
 प्रवृत्तिषीज सुपुत्रमित्येतदव  
 स्मृतम् ।

सोपार्यं परमार्थतत्त्व लौकिकं  
 शुद्धलौकिकं लोकोत्तरं च क्रमेण  
 यत्नं ज्ञानेन ज्ञापते तद्विज्ञानम् ।  
 ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि । एतदुच्यते  
 रेकेन्य ज्ञपानुपपत्तौ सर्वप्रावाद्दुक  
 कल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तमावात् ।  
 त्रिज्ञेय परमार्थवृत्त्यं तुयास्यमद्र  
 यमप्रमात्मतत्त्वमित्यर्थः । सदा  
 सर्वदा एतर्लौकिकादितिज्ञेयान्तं  
 बुद्धेः परमार्थदक्षिभिर्मन्त्रविद्विः  
 प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

अत्रस्तु और अनुपलम्भ अर्थात्  
 प्राद्य और प्रहणमे रहित त्रौ अवस्था  
 है वह 'लोकोत्तर' अथवा 'लोका-  
 तीत' कहलाती है, क्योंकि प्राद्य  
 और प्रहणका विषय ही लोक है ।  
 उसका अभाव होनेके कारण वह  
 सुशुभ-अवस्था समूह प्रवृत्तियोंकी  
 बीजभूता है—ऐसा माना गया है ।

उपायके सहित परमार्थतत्त्व तथा  
 र्मविक्रम, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर  
 अवस्थाओंका जिन ज्ञानके द्वारा  
 क्रमशः बोध होता है उसे 'ज्ञान'  
 कहते हैं तथा ये तीनों अवस्थाएँ  
 ही 'ज्ञेय' हैं, क्योंकि समस्त  
 वस्तुओंकी कल्पना की हुई वस्तुओं-  
 का इन्हींमें अन्तर्भाव होनेके कारण  
 इनके भिन्ना किसी अन्य ज्ञेयका  
 हाना सम्भव नहीं है । जो परमार्थ  
 मध्य तुरीयसंज्ञक अद्वय अजन्मा  
 आत्मतत्त्व है वही 'त्रिज्ञेय' है ।  
 ऐसा इसका अभिप्राय है ।  
 उन लौकिकमे संकर त्रिज्ञेयपपन्त  
 समूर्ण वस्तुओंका परमापदर्श  
 विज्ञानेति सदा—सर्वदा ही निरुपग  
 विद्य है ॥ ८८ ॥

त्रिविध ज्ञान और ज्ञानध ज्ञाता सत्त है

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।

सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधिय ॥ ८९ ॥



ज्ञान और तीन प्रकारके ज्ञेयको क्रमशः जान लेनेपर इस लोकमें उस महाबुद्धिमान्को स्वयं ही सर्वत्र सर्वज्ञता हां जाती है ॥ ८९ ॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये,  
 ज्ञेये च लौकिकादीं त्रिविधे—  
 पूर्वं लौकिकं स्थूलम्, तदभावेन  
 पञ्चाच्छुद्धं लौकिकम्, तदभावेन  
 लोकोत्तरमित्येषां क्रमेण स्वान-  
 त्रयाभावेन परमार्थसत्ये सुखे  
 उदयऽज्जेऽभये विहिते स्वयमेवात्म-  
 स्वरूपमव सर्वज्ञता सर्वभासां  
 इव सर्वज्ञस्रष्टावः सर्वज्ञता,  
 इहास्मिँस्लोके भवति महाभियो  
 महाबुद्धेः । सर्वज्ञाकातिशय  
 पस्तुविषयबुद्धित्वादवविदः सर्वत्र  
 सर्वदा भवति । सकृद्विदिते स्व-  
 रूपं व्यभिचाराभावादित्यर्थः ।  
 न हि परमार्थविदो ज्ञानोद्भवा-  
 भिभवौ स्तो यथायेषां प्राणाहु-  
 कानाम् ॥ ८९ ॥

भौतिकान्निमित्तक ज्ञान और  
 लौकिकादि तीन प्रकारके ज्ञेयको  
 जान लेनेपर, अर्थात् पहले स्थूल  
 भौतिकज्ञान, फिर उसके अभावमें  
 शुद्ध भौतिकज्ञान तथा उसके भी  
 अभावमें लोकोत्तरको—इस प्रकार  
 क्रमशः तीनों अस्तित्वोंके अभाव-  
 द्वारा परमार्थसत्य ज्ञान, जन्म-  
 और अमयरूप तुरीयको जान  
 लेनेपर, इस लोकमें उस महाबुद्धिको  
 सर्वत्र यानी सर्वदा स्वयं अमलरूप  
 ही सर्वज्ञता—ओ सर्वरूप ज्ञ (ज्ञानी)  
 हो उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं, उसीकी  
 मात्ररूपा सर्वज्ञता प्राप्त होती है,  
 क्योंकि ऐसा जाननेवालेकी बुद्धि  
 मन्मूण छीकते छड़ी हुई बस्तुको  
 नियंत्र करनवाली होती है । वास्तव्य  
 यह है कि सत्त्वतत्त्व एक बार जान  
 हो जानपर उसका कभी व्यभिचार  
 न होनेके कारण [ उसकी सर्वज्ञता  
 सर्वदा रहती है ], क्योंकि जिस  
 प्रकार अन्य वादियोंके ज्ञानके उदय  
 और अस्त होते रहते हैं उस प्रकार  
 परमार्थविदा ज्ञानीके ज्ञानके उदय  
 और अस्त नहीं होते ॥ ८९ ॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन  
निर्देशादस्तिस्वाभङ्गा परमार्थतो  
मा भूदिरयाह—

[ उपपुष्प श्लोकों ] लौकिकादि  
का कर्मता इत्युक्तप्रसे बतअये जानेके  
कारण उनके परमार्थन अस्तित्वकी  
आशङ्का न हो जाय—इसलिये  
कहते हैं—

ज्ञेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेया यत्रयाणस्त ।

तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृत ॥ ६० ॥

[ बाष्पादि ] ज्ञेय, [ सत्प्रपञ्चस्वरूप ] ज्ञेय [ पाण्डित्यादि ]  
प्रसक्त्य साधन और [ राग-द्वेषादि ] प्रशान्तोप दोष—ये सबसे पहले  
जानने योग्य हैं । इनमेंसे ज्ञेय ( ज्ञान ) को छोड़कर शत्रु तानोंमें तो केवल  
उपसम्भ ( कविषाकल्पितत्व ) ही माना गया है ॥ ९० ॥

ज्ञेयानि च लौकिकादीनि  
धीणि आगरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्म-  
न्यसत्त्वेन रज्ज्वा सपवद्वातव्या-  
नात्यर्थ । इयमिह चतुष्कोटि  
धर्मित परमार्थतत्त्वम् । आत्मा  
न्यासस्थानि त्यक्तबाष्पेणान्येय  
मिद्युणा पाण्डित्यबाल्यमौना-  
स्थानि साधनानि । पाक्यानि  
रागद्वेषमोहादयो दोषा फपाया-  
स्थानि पक्षध्यानि । सवाग्ये  
तानि ज्ञेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञे

लौकिकादि तीन ज्ञेय हैं ।  
तत्पर्य यह है कि जगज्जित, स्वप्न  
और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ  
रज्जुमें सर्पके समान व्याप्यमें असत्  
हानके कारण त्यागने योग्य हैं ।  
चारों कौण्डिन्योसे रहित परमार्थतत्त्व  
ही नहीं ज्ञेय माना गया है । बाष्प  
तन्त्रों एरण्यमोहादि त्याग देनेवाले  
सुसुप्तके लिये पाण्डित्य, बाल्य और  
मौन नामक तीन साधन ही ज्ञेय  
—प्रसक्त्य हैं, तब राग, द्वेष और  
मोह आदि कर्मापसंस्कृत दोष ही  
[ उत्तमके लिये ] पाक्य—पाक (जीर्ण)  
करने योग्य हैं । तात्पर्य यह है कि  
सुसुप्तको ज्ञेय, ज्ञेय, ज्ञेय और  
पाक्य इन सबको ही ज्ञेययाणस्त —

यानि भिक्षुजोपापत्वेनेत्यर्थाः,  
अत्रयाप्यतः प्रथमतः ।

तेषां हेयादीनामन्यत्र विद्ये  
या परमार्थस्य विद्येयं ब्रह्मैकं  
वर्जयित्वा, उपलम्भनमुपल-  
म्भोऽविद्याकल्पनामात्रम् । हेया  
प्यपाक्येषु विप्रवि स्तृवा ब्रह्म-  
विद्धिर्न परमार्थस्यता त्रयाणा  
मित्यर्थ ॥ ०० ॥

सत्रसे पहले अपने साधनरूपसे  
जानना चाहिये ।

उन हेय आग्निसे केवल एक  
परमार्थ सत्य हेय ब्रह्मको छोड़कर  
दूसरे हेय, आप्य और पाक्य—इन  
तीनोंमें ब्रह्मबेच्छाभंगि हेयउ उपलम्भ  
—उपलम्भन यानी अविद्यामय  
कल्पनामात्र ही माना है, अपात् इन  
तीनोंकी परमार्थसत्यता स्वीकार  
नहीं की है ॥ ९० ॥

जीर आशुशके समान अनादि और अविद्य है

परमार्थवस्तु—

। शास्त्रार्थे तो—

प्रकृत्याकाशवज्जेया सर्वे धर्मा अनाद्यय ।

विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्षयन किंचन ॥ ९१ ॥

गन्तुग जीवोंको श्मशानके ही आशुशके समान और अनादि जलना  
चाहिये । उनका मानस कष्टों कुछ भी नहीं है ॥ ०१ ॥

प्रकृत्या स्वभावेन आकाश

पदाक्षयवस्तुनया ग्रहमनिरञ्जन

मदगतस्य सर्वे धर्मा आग्मानो

तया मनुजुभिर्नादया निव्याः ।

पदाक्षयवस्तुनया निरा

द्वरमाह वगत विगत विवि

समुद्योगोंको सूक्ष्म, निरञ्जन और  
गमनय आग्नि परल सभी  
धर्मा—जीवोंको प्ररुतिव वपन्  
शमदान आशुशान्—अशुशके  
गहन और अनादि यानी अविद्य  
जानना चाहिये । धर्मा बहुरूपके  
परल हानयः जीवोंको श्मशान  
अनाद्यय निरञ्जन वगत  
है—उनका पगत—नहीं,

दणुमात्रमपि तेषां न विद्यते | किञ्चन बुद्ध मी अर्थात् अणुमात्र  
नान्तात्वमिति ॥ ९१ ॥ | मी नानात्व नहीं है ॥ ९१ ॥

आत्मतत्त्वविरूपण

श्रेयतापि धर्माणां संबन्धैश्च न | आत्मतत्त्वोपरी ओ हेयता है वह मी  
परमार्थत इत्याह— | म्यावहारिक ही है परमार्थत नहीं—  
इसी अभिप्रायसे कहते हैं—

आदिबुद्धा प्रकृत्यैव सर्वे धर्मा सुनिश्चिता ।

यस्यैवं भवति क्षान्ति सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९२ ॥

सम्पूर्ण आत्मा स्वभावसे ही बोधस्वरूप और सुनिश्चित है—  
जिसे ऐसा सम्पन्न हो जाता है वह अमरत्व ( मोक्ष ) प्राप्तिमें समर्थ  
होता है ॥ ९२ ॥

यसादासौ बुद्धा आदिबुद्धाः |  
प्रकृत्यैव स्वभावत एव यथा  
नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितैव  
नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः सर्वे  
धर्मा सर्व आत्मानः । न च  
तेषां निश्चय कर्तव्यो नित्य  
निश्चितस्वरूपा इत्यर्थः । न संदि  
ग्धमानस्वरूपा एषं नैवं चेति ।

यस्य मुमुक्षुरेवं यथोक्तप्रकर-  
रेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षता  
स्मार्थ परार्थ वा यथा सविता  
नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वाध

क्योंकि जिस प्रकार सूर्य नित्य  
प्रकाशस्वरूप है उसी प्रकार सम्पूर्ण  
धर्म यानी आत्मा प्रकृति—स्वभावसे ही  
आदि बुद्ध—आत्ममें ही जाने हुए  
अर्थात् नित्यबोधस्वरूप हैं । उनका  
निश्चय मी नहीं करना है अर्थात्  
वे नित्यनिश्चितस्वरूप हैं—ऐसे  
हैं अपना नहीं हैं। इस प्रकार  
सन्दिग्धस्वरूप नहीं हैं ।

जिस मुमुक्षुको इस तरह—  
उपर्युक्त प्रकारसे अपने अपना पराये-  
द्विजे सर्वान् बोधनिश्चय-सम्बन्धिनी  
निरपेक्षता है जिस प्रकार सूर्य  
अपने अपना परायेद्विजे सदा ही

## आरम्भक महाज्ञानित्त

यदिदं परमार्थतत्त्वमहात्म-  
भिरपण्डितबेदान्तवादिः ष्टैः सुत्रैर-  
त्यप्रश्नैरनवगात्रमित्याह—

यह जो परमात्मन है वह  
सुदुर्लभ अद्वैतीय तथा वेदान्त  
अनधिकारी सुत्र और मन्दबुद्धि  
पुरुषोंकी समझमें नहीं था सत्य-  
इस आशयसे कहते हैं—

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिता ।

ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥ ९५ ॥

जो कोई उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें अत्यन्त निश्चित  
होगे वे ही लोकमें परम ज्ञानी हैं । उस तत्त्वका सामान्य लोक अकाशमें  
नहीं कर सकता ॥ ९५ ॥

अजे साम्ये परमार्थतत्त्व एव  
मेवति ये केचित्स्मृत्पादयोऽपि  
सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेच एव  
हि लोके महाज्ञाना निरतिशय  
सर्वविषयज्ञाना इत्यर्थः ।

उस अज और साम्यरूप परमार्थ-  
तत्त्वमें जो कोई-भी आदि भी  
एव ऐसा ही है । इस प्रकार  
पूर्णतया निश्चित होगे वे ही लोकमें  
महाज्ञानी अर्थात् निरतिशय तत्त्व-  
विशेषक ज्ञानवाले हैं ।

तच्च तेषां बर्त्म तेषां निश्चितं  
परमार्थतत्त्व सामान्यबुद्धिरन्या  
लोको न गाहते नावतरति न  
विषयीकरोतीत्यर्थः । “सर्व  
भूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च ।  
देवा अपि मार्गे सुमन्त्यपदस्य  
पदैपिणः । मण्डूनीनामिषाकाशे

उस-उनके मार्ग अर्थात् उन्हें  
निश्चित हुए परमार्थतत्त्वमें अन्य  
साधारण बुद्धिवाला मनुष्य अकाशमें  
—अकरण नहीं करता अर्थात् उसे  
विषय नहीं कर सकता । अजो  
सम्पूर्ण भूतोंका आरम्भभूत और  
सब प्राणियोंका हितकर है उस  
पदरहित ( प्राण्य पुरुषार्थहीन )  
महात्मक पदको जाननेकी इच्छा  
वाले देवता भी उसके मार्गमें भाड़को  
प्राण ही प्राप्त है तथा आकाशमें

गतिर्नैषोपलभ्यत" ( महा० शां०  
२३९ । २३, २४ ) इत्यादि  
स्मरणात् ॥ ०५ ॥

कैसे पश्चिमीयों का माग नहीं मित्रता  
उसी प्रकार उसकी गति का पता  
नहीं चलता" इत्यादि स्मृतिमें  
भी यही प्रमाणित होना है ॥ ०५ ॥

कथं महाज्ञानस्वमित्याह—

उनका महाज्ञानिय किस प्रकार  
है : सो बताते हैं—

अजेष्वजमसक्रान्त धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।

यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्ग तेन कीर्तितम् ॥ ०६ ॥

अजन्मा आत्मजोर्मि स्थित अत्र ( निय ) ज्ञान असक्रान्त ( अन्य  
विशेषोंसे न मिश्रणशून्य ) माना जाता है । क्योंकि वह ज्ञान अन्य विशेषोंमें  
संक्रान्त नहीं होता इसलिये उसे अज्ञान बतलाया गया है ॥ ०६ ॥

अनेष्वनुस्पन्नेष्वचलषु धर्मे  
प्रात्मस्वप्नमचल च ज्ञानमिष्यते  
सषितरीषीष्यं प्रकाशम् यवस्त  
सादसक्रान्तमधान्तरे ज्ञानमज-  
मिष्यत । यस्मात्प्र क्रमतेऽधान्तर  
ज्ञानं तेन कारणनामङ्ग सत्कीर्ति  
तमाह्वयन्त्यमित्युक्तम् ॥०६॥

क्योंकि अत्र अनुत्पन्न धर्मा  
अचल धर्मा—आत्मजोर्मि सूर्यमें  
उष्णता आर प्रकाशके समान अत्र  
अपात् अचल ज्ञान माना जाता है  
अत्र अर्पितरमे अमक्रान्त ( अत्र  
नुप्रविष्ट ) ज्ञानका अजन्मा ( निय )  
स्वीकार किया जाता है । क्योंकि  
यह ज्ञान हमारे विश्वमें संक्रान्त  
नहीं है। हमलिये उसे अज्ञान कहा  
गया है; अर्थात् यह अज्ञानारे  
समान है—यसा यसा है ॥ ०६ ॥

आतकाइमे दोषप्रणाम

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चित ।

असङ्गना सदा नास्ति किमुसाकरणप्युति ॥ ०७ ॥

[ अन्य वादियोंके मतानुसार ] किन्ती अणुमात्र भी विधर्मी वस्तुकी उत्पत्ति माननेपर तो अधिकेकी पुरुस्कृत असंगता भी कभी नहीं हो सकती फिर उसके आवरणताशके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ९७ ॥

<p>इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रं ऽपि वैधर्म्ये षस्तुनि बहिरन्तर्वा जायमान उत्पाद्यमानेऽपिपिभि तोऽविबेकिनोऽसङ्गता असङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत षक्तन्यमावर णप्युत्तिर्बन्धनाशो नास्तीति ॥ ९७ ॥</p>	<p>इससे मिला जो अन्य कही है उनके मतानुसार अणुमात्र अर्थात् घाड़ी-सी भी विधर्मी वस्तुके बाहर या भीतर उत्पन्न होनेपर तो अ- विपिभित्—अधिकेकी पुरुस्कृती कर्म असङ्गता भी नहीं हो सकती फिर उसकी आवरणप्युति अर्थात् बन्ध नाश नहीं होता—इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ! ॥ ९७ ॥</p>
---	--

### आरमाक्य स्वाभाविक स्वरूप

<p>तेषामावरणप्युतिर्नास्तीति ध्रु वतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं सर्वं धर्माणामावरणम् । नैस्युच्छते ।</p>	<p>उनकी आवरणप्युति नहीं होती— ऐसा कहकर तो तुमने अपने सिद्धान्तमें भी आत्मबोधक आवरण सीकर कर लिया [—ऐसा यदि कोई कह तो ] इसपर हमारा कहना है—नहीं,</p>
--	--

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मला ।

आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता मुच्यन्त इति नायका ॥ ९८ ॥

समस्त व्यक्ता आवरणरूप, समाकृते ही निर्मल तथा निरप्य बुद्ध  
और मुक्त हैं । तयामि स्वानीश्वेग ( केन्द्रताधार्यग ) से जाने जाते हैं  
ऐसा [ उनके विषयमें कहते हैं ] ॥ ९८ ॥

अलब्धावरणा — अलब्धम-

'अलब्धावरणा'—विद्ये आवरण  
अर्थात् अनिष्टरूप बन्धन रूप

ते धर्मा अलम्भात्तरणा बन्धन  
रहिता इत्यर्थाः, प्रकृतिनिर्मला  
स्वभावाद्युद्धा आदीं युद्धास्तथा  
युक्ता यस्मान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्त  
स्वभावाः ।

यद्येवं कथं तर्हि पुण्यन्त  
इत्युच्यते ?

नायकाः स्वामिन समया  
बोधयु बोधशक्तिमत्स्वभावा  
इत्यर्थाः, यथा नित्यप्रकाश  
स्वरूपोऽपि सविता प्रकाशत  
इत्युच्यते यथा वा नित्यनिवृत्त-  
गतयोऽपि नित्यमथ शैलास्तिष्ठ-  
न्तीत्युच्यते तद्वत् ॥ ९८ ॥

अर्थात् प्राप्त नहीं हुआ है वे घम  
अलम्भाकरण अर्थात् बन्धनरहित  
प्रकृति, निम्न-स्वभावसे ही शुद्ध  
और आरम्भमें ही बोधको प्राप्त हुए  
नया मुक्तस्वरूप हैं, क्योंकि वे नित्य-  
शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हैं ।

सङ्ग—यदि ऐसी बात है तो  
उनके विषयमें ज्ञेय जानते हैं  
ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—मायक—स्वामी काग  
—ज्ञाननेमें समय अर्थात् बोधशक्ति-  
युक्त स्वभाववाले जग उमक विषयमें  
उसी प्रकार ऐसा कहते हैं जैसे कि  
नित्य प्रकाशस्वरूप ज्ञानपर भी  
सूर्यके विषयमें अल्प प्रकाशमान  
है? ऐसा कहा जाता है तथा सर्वज्ञ  
गतिशून्य होनेपर भी स्पर्शन शून्य  
है? ऐसा कहा जाता है ॥ ९८ ॥

अज्ञानात् बोधज्ञान मही है

कमते न हि बुद्धस्य ज्ञान धर्मेषु तायिन ।

सर्वे धर्मास्तथा ज्ञान नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥ ९९ ॥

अर्थात् प्रज्ञानवान् परमार्थदर्शीका ज्ञान धर्मा ( विस्मय ) में संशयित  
मही जाता और न [ उमके मन्त्र ] संपूर्ण धर्म ( ब्रह्म ) ही नहीं  
जाते हैं । परन्तु ऐसा ज्ञान बुद्धदत्त नहीं कहा [ अर्थात् यह बोध  
सिद्धान्त नहीं है बल्कि आदिम ज्ञान है ] ॥ ९९ ॥



यसान्न हि क्रमते बुद्धस्य  
परमार्थदर्शिना ज्ञानं विषयान्त-  
रेषु धर्मेषु धर्मसंस्थ सवितरीष  
प्रभा, सायिनः सायाऽस्मास्तीति  
सायी, सवानवतो निरन्तरस्या  
काशकल्पस्येत्यर्थः, पूजावतो  
वा प्रज्ञावतो वा, सर्वे धर्मा  
आत्मानोऽपि तथा ज्ञानवदवा  
काशकल्पत्यान्न क्रमन्ते कश्चिद्-  
प्यर्थांतर इत्यर्थः ।

यदादाशुपन्यस्त ज्ञानेनाका-  
शकल्पेनेत्यादि तदिदमाकाश  
कल्पस्य सायिनो बुद्धस्य तदनन्य  
त्वादाकाशकल्पं ज्ञानं न क्रमते  
कश्चिदप्यर्थांतरे । तथा धर्मा  
इति । आकाशमिवाचलमविक्रियं  
निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्ग-  
मदृश्यमग्राह्यमशुनायाधृतीष प्र-  
ज्ञात्मवत्त्वम् । "न हि द्रष्टुर्दृष्टे  
विररिलोपो विद्यत" ( ५० उ०  
४।३।२३ ) इति श्रुतेः ।

ज्ञानज्ञयज्ञाद्यमेदग्निं पर

सायी-विसयज्ञ ताप यानी  
( विस्तार ) हा उसे सायी कहते हैं ।  
क्योंकि सायी-सन्मानवान्-निरन्तर  
अर्थात् आकाशसदृश पूजावान्  
अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध-परमार्थदर्शीका  
ज्ञान धर्मो-विषयान्तरो-संक्रामित  
नहीं होता अथवा सूर्यमें प्रकाशकी  
मौलि आत्मनिष्ठ रहता है, उसी प्रकार  
सम्पूर्ण धर्म अर्थात् आत्मा भी  
ज्ञानके सम्बन्ध ही आकाशसदृश  
होनेके कारण कभी अर्थांतरमें  
संक्रामित नहीं होते अर्थात् नहीं जाते ।

इस प्रकारके आरम्भमें विसयज्ञ  
ज्ञानेनाकाशकल्पेन इत्यादि  
श्लोकद्वारा उपन्यास किया गया है,  
आकाशसदृश निरन्तर बोधवान्-  
उससे अभिन्न होनेके कारण-  
यह आकाशसदृश ज्ञान कभी  
अर्थांतरमें संक्रामित नहीं होगा,  
और ऐसे ही धर्म भी हैं अर्थात् वे  
भी आकाशके समान अयत्न,  
अविक्रिय, निरवयव, नित्य,  
अद्वितीय, असङ्ग, अदृश्य, अप्र-  
ह्य और शुश-विषयासादिसं रहित प्रकृत  
स्वभाव ही हैं जैसा कि "अदृश्यकी  
दृष्टिका लोप नहीं होगा" इस श्रुति-  
से सिद्ध होता है ।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातके सम्बन्ध

मार्थतत्त्वमद्वयम् एतन्न पुत्रेन  
 भाषितम् । यद्यपि वाद्यार्थनिरा  
 करण ज्ञानमात्रकल्पना चाद्रम  
 वस्तुसामीप्यमुक्तम् । इदं तु  
 परमार्थतत्त्वमद्वयं वेदात्तत्त्वेषु  
 विद्येयमित्यर्थं ॥ ९९ ॥

रहित इस अद्वय परमार्थतत्त्वका  
 मुद्रन निरूपण नहीं किया, यद्यपि  
 उमने वाद्यवस्तुका निरूपण आ  
 केन्द्र ज्ञानको ही कल्पना-ये अद्वय  
 वस्तुके समीपवर्ती ही विषय कहे हैं,  
 नात्पर्य यह है कि इस अद्वैत  
 परमायतत्त्वको तो वान्तकम ही  
 विषय जानना चाहिये ॥ ९० ॥

परमार्थतत्त्व-वन्दना

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्व  
 स्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते—

अथ शास्त्री समाप्ति होनेपर  
 परमार्थतत्त्वकी स्तुतिये लिये नमस्कार  
 कहा जाता है—

दुर्दशमतिगम्भीरमज साम्य विशारदम् ।

साम्य विशारदम् ।

धुद्रुष्या पद्मनानात्य नमस्कूर्मो यथाधलम् ॥ १०० ॥

दुर्दर्श, अफ्त गम्भीर, अज, निर्विण्ण आर विदुद्र पदका  
 भेदरहित ज्ञानज ह्य उसे यथाशक्ति नमस्कार करने हैं ॥ १०० ॥

विषय परित्यागमे दर्शन हो  
 गया है ऐसे दुःख आर अन्ति  
 नास्ति आदि शब्दों को विवेक से गदित  
 होनेके कारण दुर्दशिय, अज अति  
 गम्भीर-मन्दबुद्धिके लिये मद्र-  
 सुन्दर समान दुःखरूप तथा  
 अजगता, साम्यरूप ( निर्विण्ण ) और  
 विदुद्र-यस प्रकार भेदरहित जन  
 का रूप हो अज ज्ञान अज्ञान  
 काशे भी अज्ञानका विषय अज्ञ-  
 का रूप उमने समान-रूपके  
 नमस्कार करते हैं ॥ १०० ॥

दुर्दशं दुग्नेन दर्शनमस्पति  
 दुर्दर्शम्, अस्मि नाम्नीति चतु  
 ष्छात्रिर्विदुद्रुष्यादुर्विदुद्रुष्यमित्य  
 र्थः । अत एवातिगम्भीर दुष्प्रचारां  
 महागमुद्रयदृष्टप्रणं, अजं  
 साम्यं विशारदम्, इदृक्पद्म-  
 नानात्वं नानान्वविर्जितं धुद्रुष्या  
 यगम्य तद्वता गन्ता नमस्कूर्म  
 मर्म पदाप, अजगतावपि  
 पदवहागगावनाशाप यथाशक्तं  
 यथाशक्तमित्यर्थ ॥ १०० ॥

विषय परित्यागमे दर्शन हो  
 गया है ऐसे दुःख आर अन्ति  
 नास्ति आदि शब्दों को विवेक से गदित  
 होनेके कारण दुर्दशिय, अज अति  
 गम्भीर-मन्दबुद्धिके लिये मद्र-  
 सुन्दर समान दुःखरूप तथा  
 अजगता, साम्यरूप ( निर्विण्ण ) और  
 विदुद्र-यस प्रकार भेदरहित जन  
 का रूप हो अज ज्ञान अज्ञान  
 काशे भी अज्ञानका विषय अज्ञ-  
 का रूप उमने समान-रूपके  
 नमस्कार करते हैं ॥ १०० ॥

माण्डूक्यरञ्जक वन्दना

मन्त्रमपि ज्ञानियोगं प्रापद्देहपर्ययोगा

एगति च गतिमत्तां प्रापदेकं एतन्मम् ।

वियिषविषयधर्मप्राप्तिमुग्धेषणानां

प्रयत्नभयविहङ्ग प्रह्व यत्तन्मत्तोऽस्मि ॥ १ ॥

त्रिसन् अन्नमा होकर भी अपनी ईश्वरीय शक्तिके योगसे जन्म ग्रहण किया, गतिशून्य होनेपर भी गति स्वीकार की तथा जो माना प्रफरके नियमरूप धर्मोक्तो ग्रहण करनेवाले मूढ़दृष्टि छोड़के विचारसे एक होकर भी अनेक हुआ है और जो शरणागत-भयहारी है उस ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

प्रहाबैशाख्येषुभित्तलनिधवैश्वानामोऽन्तरस्थं

भूताम्यासोपय मन्ताम्यविरतजमलप्राहयोरे समुद्रे ।

कारुम्यादुहधारासुतमिदममैतुर्ममं भूतहेतो

यस्त पूज्याभिपूज्य परमगुणमर्मु पादपौतैर्नतोऽस्मि ॥ २ ॥

जो निरन्तर जन्म-जन्मान्तररूप ग्रहणके कारण अत्यन्त मयानक है ऐसे ससारसागरमें जीवोंको डूबे हुए देखकर त्रिहोनि वक्रणाक्षरा अपनी विमुक्त गुदिरूप मन्थनदण्डके आघातसे क्षुब्ध हुए वे नामक म्हासमुद्रके भीतर स्थित इस देवदुर्लभ अमृतको प्रागियेके कल्प्यगके भिये निकार्य है उन पूजनीयोंके भी पूजनीय परम गुरु ( श्रीगीर्वादाचार्य ) को मैं उनके चरणोंमें गिरकर प्रणम करता हूँ ॥ २ ॥

परमब्रह्मोक्तभासा प्रतिहृतिमगमस्मान्तमोहाधकारो

मखोम्मख्य धेरि ह्यसहदुपज्जोवम्बति प्रासमे म ।

यत्पादाद्याधितानां भुक्तिरामवित्तयप्राप्तिरध्यानामोघा

तत्पादौ पाचनीयौ भवभयविजुदौ सर्वभाषैर्नमस्ये ॥ ३ ॥

जिनके ज्ञानालोककी प्रभासे मेरे अन्त करणको मोहरूप अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ तथा इस भयहुर संसारसागरमें बारंबार डूबना उलझनारूप मेरी व्यापक शान्त हो गयी और जिनके चरणोंका आश्रय लेनेवालोंके भिये श्रुतिज्ञान, उपशम और जिनयकी प्राप्ति अगोचर एवं पृथ्वे ही होनेवाली है उन [ श्रीगुरुदेवके ] भवभयहारी परम पवित्र चरण-मुगलोंको मैं सर्वतोभासे नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

इति श्रीगोविन्दमगलसूक्तपालशिष्यस्य परमहंसपरिब्राजकचार्यस्य

शाहूरभगवन् कृती गौडपादीपागमशास्त्रविरणेऽग्रतशास्त्रार्थ

चतुर्थे प्रकरणम् ॥ ४ ॥

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

## शान्तिपाठ

ॐ भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा

भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा २ सस्तनृभि-

र्व्यशेम देवहितं यदासु ॥

स्वस्ति न इन्द्रा वृद्धश्रवा

स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ धाम्निता ! धाम्निता ! धाम्निता !



॥ हरि २० कच्छ ॥

# गौडपादीयकारिकानुक्रमणिका

कारिकाप्रतीकम्	प्रकरणम्.	कारिकाः	संख्य
अक्षस्यक्रमज्ञं ज्ञानम्	१	११	१११
अक्षरो नमते विरचम्	१	२१	७५
अक्षं कस्मिन्तत्तुत्वा	४	७४	२५
अक्षमनिद्रमस्वानम्	१	१५	१०१
अक्षमनिद्रमस्वानम्	४	१	२५५
अक्षार्तं वापते मरमात्	४	२९	२१८
अक्षार्तस्यैव चमस्य	४	३	१९३
अक्षार्तस्यैव मावस्य	१	२०	१५१
अक्षार्तेष्वर्था तैपाम्	४	४३	२२९
अक्षार्ते वापते वक्ष्य	४	११	१९९
अक्षेण्यं अमर्तं क्त्वाम्	४	९६	२७१
अक्षे साम्ने तु मे केचित्	४	९५	२७
अक्षुमात्रेऽपि वैश्वस्ये	४	९७	२७१
अतो वक्ष्याम्यक्षार्थस्यम्	१	२	१२१
अरीर्ष्याथ कावस्य	२	९	८४
अहर्षं च ह्यपाम्भतम्	१	१	१६६
अहर्षं च ह्यवाभातम्	४	६२	२४३
अहर्षं परमाद्यो द्वि	१	१८	१५
अनादिमायया सुतः	१	१६	६६
अन्तरेण्यवर्षं च	४	३	२१९
अनिमित्तस्य चित्तस्य	४	७७	२५१
अनिभित्ता यथा रश्मिः	२	१७	९८
अन्तस्थानात्तु मेवानाम्	१	४	८९
अस्यथा गृह्णतः स्वान	१	१५	६४
अदूर्ध्वं स्थानिषमो द्वि	२	८	९०
अमावस्य रचादीनाम्	१	३	८९
अभूताभिनिवेशादि	४	७९	२५४
अभूताभिनिवेशोऽस्मि	४	७५	२५१
अमाभोजनगतपाचय	१	१९	८१
अक्षरपादरणाः तर्षे	४	९८	२७२
अक्षरे हरन्दमने वै	४	४९	२१४



कारिकावलीकवि	प्रकरणम्	कारिकाः	पङ्क्तयः
कोट्यश्वतस एतास्तु	४	८४	२५८
कस्मते न हि बुद्धस्य	४	९९	२७३
स्योप्यमानामवाप्तिं तैः	४	५	२९२
प्रहृष्टात्प्रतिवृत्तम्	४	३७	२२३
प्रहो न तत्र नास्वर्गः	३	३८	१७६
पदादिषु प्रकीर्णेषु	३	४	२५६
परञ्जाम्परिते वापत्	४	३५	२४५
विद्यं न ससृष्टात्पर्यम्	४	२३	२१४
वित्तकृच्छा हि वेद्यन्तस्तु	२	२४	९५
वित्तस्यन्दितमेवेदम्	४	७२	२४८
काममरणनिर्मुक्ताः	४	१	२९६
वाप्रविशेष्टधीवास्ते	४	६६	२४५
वाप्रवृष्टावपि त्वन्त	२	१	९२
वात्वाभासं प्रकाम्यन्तम्	४	४५	२३१
धीय कस्मते पूर्वम्	२	१६	९७
धीवारमनोः पूर्वकत्वं क्व	३	२४	२४१
धीवारमनोरमन्तव्यम्	३	१३	१४
छन्दे च विविधे ज्ञेये	४	८९	२६३
ज्ञानेन्द्रकर्मकस्तेन	४	१	२८८
तन्मन्त्राभ्यास्मिन् दृष्ट्वा	२	३८	११९
तस्मादेवं विद्विष्वनम्	२	३६	११७
तस्मान्न वाप्यते वित्तम्	४	२८	२१६
तैबलम्योत्पत्तिज्ञाने	१	९	७४
विदुः कामसु बल्यत्वं	१	२९	७५
विदुः कामसु कर्त्रीभ्यम्	२	५	४४
दक्षिणाक्षिमुक्ते विस्वाः	१	२	३७
दुर्गतं सर्वमनुस्मृत्य	३	४३	१८१
दुर्द्वैतमतिगम्भीरम्	४	१	२७५
द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः क्वचिद्	४	५३	२२६
द्रवोर्द्वैतमनुस्मृत्य	३	१९	१३९
द्वैतस्याग्रहणं दृष्टव्यम्	१	१३	६९
धर्मा च इति वाचन्ते	४	५८	२४
न कश्चिज्जायते धीयः	३	४८	२००
न कश्चिज्जायते धीयः			

शरिष्यप्रतीकानि	प्रकारपाठः	शरिष्यः	सङ्ख्य
न निरोधो न चोत्पत्तिः	२	३२	१८
न निर्गता ब्रह्मस्यैवे	४	५	२३४
न निर्गतास्ते विज्ञानात्	४	५२	१४५
न मन्त्रस्यमूर्तं मन्त्रम्	३	२१	१५३
न मन्त्रस्यमूर्तं मन्त्रम्	४	७	१९३
न पुच्छं बर्धनं गत्वा	४	३४	२२१
नाश्वस्य षटाश्वसः	३	७	१३४
नाश्वेषु सर्वेषु	४	६	२४२
नात्मभावेन ननेवम्	२	३४	११५
नात्मार्त्तं न पराश्रयैव	१	१२	४१
नास्त्यद्यद्येत्तु ब्रह्मच्छ	४	४	२२६
नास्वाद्येस्तुच्छं तत्र	३	४५	१८३
निःस्तुष्टिर्निर्मन्त्रस्य	२	३७	११८
निर्घृतिस्म मनसा	३	३४	१७०
निर्मितं न तदा जितम्	४	२७	२१५
निर्घृत्स्यात्प्रघृत्स्य	४	८	२५५
निर्घृते सर्वदुःखानाम्	१	१	५९
निश्चिन्ताया वया रञ्जनाम्	२	१८	९९
नेह नानेति चाम्नासात्	३	२४	१५७
पद्यविशयक इत्येके	२	२६	१३
पद्या इति पद्यविदः	२	२१	११
पूर्वापरपरिज्ञानम्	४	२१	२६
प्रहृत्वाकाशावभेदाः	४	११	२६६
प्रहृत्ते सनिमित्तत्वम्	४	२४	२१०
प्रहृत्ते सनिमित्तत्वम्	४	२५	२१२
प्रजबं हीम्भरं विद्यात्	१	२८	८
प्रजबो ह्यपरं ब्रह्म	१	२६	७९
प्रजबो यदि विद्येत	१	१७	६६
प्रमथः सर्वमथानाम्	१	६	४५
प्राण इति प्राणविदः	२	२	११
प्राणादिभिर्जननीश्च	२	१	१
प्राण्य सर्वकृता कृत्स्न्याम्	४	८५	२५९
पञ्चभूतपचमानाः छन्	४	१७	२२
वक्षिप्रज्ञो विमुर्विष	१	१	३३
वीजकृत्वास्मो ब्रह्मताः	४	२	२४



शब्दार्थः	प्रकारः	शब्दार्थः	संख्या
शुद्धानामिच्छता सत्याम्	४	७८	२५४
मन्वैरतद्विरेवानम्	२	३३	११३
मूर्तं न जानते किञ्चित्	४	४	१९९
भूतलोऽभूतोऽपि	३	२३	१५५
भूतस्य शक्तिमिच्छन्ति	४	३	१९१
भोगार्थं सुखित्यन्ते	१	९	४९
मकारम्याये प्राक्तस्य	१	२१	७४
मन इति मनोविदः	२	२५	१२
मनस्य निम्नहायचम्	३	४	१७९
मनोद्वेषमिह द्वैतम्	३	३१	१६७
मरणे सम्मये यैव	३	९	१३६
मास्यन्मिच्छते षोडश	३	१९	१५२
मिच्छाद्यैः सह संसन्ध्य	४	३५	२२१
मृतोऽहविद्युक्तिश्चाद्यैः	३	१५	१४४
यं भूय दक्षिणस्य	२	२९	१४
यथा निर्मितोऽपि शीघ्रः	४	७	२४७
यथा भवति बाह्यनाम्	३	८	१३५
यथा मायामपाद्गीर्वाण	४	५९	२४१
यथा मायामयो शीघ्रः	४	३९	२४७
यथा स्वप्नमयो शीघ्रः	४	३८	२४७
यथा स्वप्ने द्रव्यामात्मम्	३	२९	१६५
यथा स्वप्ने द्रव्यामात्मम्	४	३१	२४३
यथैकस्मिन्परात्मरो	३	५	१९७
यदा न समते हेतु	४	७६	२५१
यदा न क्षेपते विद्यम्	"	४६	१८४
यदि हेतोः पञ्चतितदिः	४	१८	२२
यकहेतुत्वावेद्यः	४	५६	३३
यकहेतुत्वावेद्यः	४	५५	२३८
युद्धीण शत्रवे यैः	१	२५	७८
योऽपि कश्चिन्मृत्या	४	७३	२४९
यत्तदो दि वे शीघ्रः	"	११	१३८
यत्तदपत्त्यात्पथ	३	३	१३३
यत्तदपत्त्यात्पथम्	३	३	१३३
यत्तदपत्त्यात्पथम्	३	३	१३३

शरीरप्रतिष्ठा	प्रकरणम्.	शरीरप्रतिष्ठा	पृष्ठ
शरीरप्रतिष्ठा	२	२७	१ ३
शरीरप्रतिष्ठा	२	१३	१४
शरीरप्रतिष्ठा	१	१८	६७
शरीरप्रतिष्ठा	४	५१	२३५
शरीरप्रतिष्ठा	४	४१	२३७
शरीरप्रतिष्ठा	४	८६	२६
शरीरप्रतिष्ठा	१	७	४७
शरीरप्रतिष्ठा	१	१९	७३
शरीरप्रतिष्ठा	१	३	४३
शरीरप्रतिष्ठा	२	३५	११६
शरीरप्रतिष्ठा	२	३२	१ २
शरीरप्रतिष्ठा	२	१	८२
शरीरप्रतिष्ठा	४	९४	२४९
शरीरप्रतिष्ठा	३	२६	१६१
शरीरप्रतिष्ठा	३	१	१३७
शरीरप्रतिष्ठा	४	१६	२ १
शरीरप्रतिष्ठा	३	२५	१५८
शरीरप्रतिष्ठा	४	५७	२४
शरीरप्रतिष्ठा	३	२७	१६३
शरीरप्रतिष्ठा	२	७	८८
शरीरप्रतिष्ठा	४	३९	२९
शरीरप्रतिष्ठा	१	१७	८
शरीरप्रतिष्ठा	३	३७	१७४
शरीरप्रतिष्ठा	४	३३	२९
शरीरप्रतिष्ठा	४	८७	२६१
शरीरप्रतिष्ठा	४	९	१ ४
शरीरप्रतिष्ठा	४	८२	२५६
शरीरप्रतिष्ठा	२	२३	१ २
शरीरप्रतिष्ठा	२	२८	१ ३
शरीरप्रतिष्ठा	१	४	४३
शरीरप्रतिष्ठा	४	२९	१ ७
शरीरप्रतिष्ठा	२	५	८६
शरीरप्रतिष्ठा	४	६४	१४४
शरीरप्रतिष्ठा	४	६३	२००

श्रुतिश्रुतौघनि	मन्त्रपाठः	श्रुतिश्रुतौ	४
स्वप्ननिद्रासुखावाधौ	१	१४	१
स्वप्नमात्रे वधा हृष्टे	२	३१	१
स्वप्नप्रवृत्तावपि त्वन्तः	२		१
स्वप्ने चावस्तुफः क्रमः	४	३३	२३
स्वप्नभवेनामृतो वस्य	३	२२	१५
स्वप्नभवेनामृतो वस्य	४	८	१९
स्वप्निदान्तम्पवत्प्राप्तु	३	१७	१४
स्वप्नस्य दान्तं तनिर्वाणम्	३	४७	१८
हेतोरादि- फलं वेपाम्	४	१४	२
हेतारादि- फलं वेपाम्	४	१५	२
हेतुर्न चाप्युत्पन्नादे-	४	२३	२
हेतुत्पन्नाप्यपाक्यानि	४	९	२३

## मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रश्रुतौघनि	मन्त्राः	४४५
अमावस्यासुप्तौघमवहर्ष-	१२	७१
एय तर्केश्वरः	३	३५
आमित्येवद्वारमित्-र-तर्कम्	१	२४
आपरितस्नानो वद्विष्मन्तः	३	२७
आपरितस्नानो वैस्नानयेऽश्वरः	९	३९
नान्तध्यहम्	७	५२
सत्र सुप्तः	५	३१
तत्र-श्वेतम्	२	२६
सुप्तस्नानः	११	७२
सोऽप्यमा/मा	८	३८
स्वप्नस्नानस्वैकतः	१	७
स्वप्नस्नानोऽप्यःप्रवृत्तः	४	३१

